तीर्थंकर

लेखक—

धर्मदिवाकर सुमेरुचन्द्र दिवाकर

न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी. ए., एल-एल. बी.

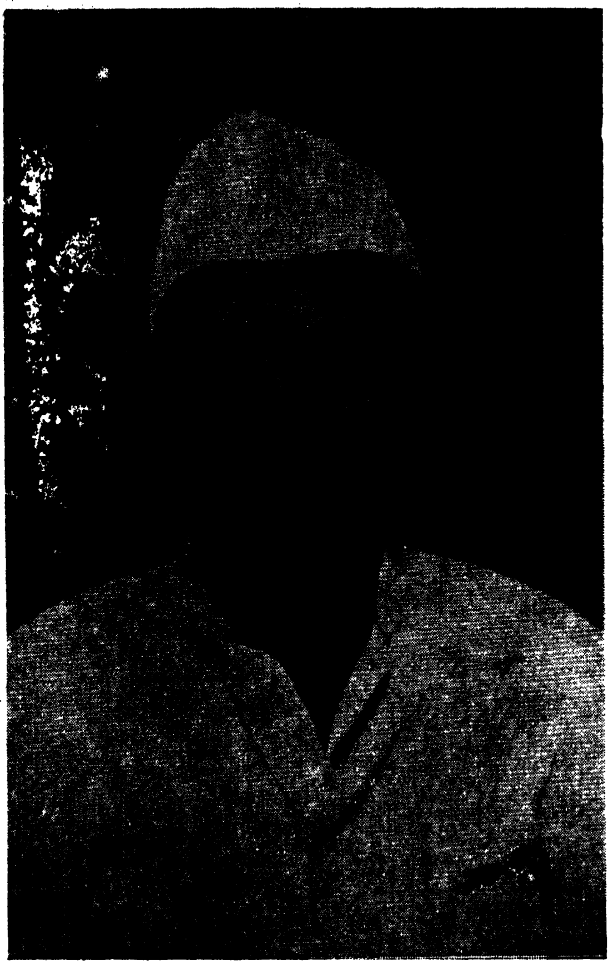
सिवनी, (म. प्र.)

[चारित्र-चक्रवर्ती, जैनशासन, तात्विकचिन्तन, निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर, चंपापुरी, नंदीश्वरदर्शन, Religion & Peace, जैन शासन का मर्म, Glimpses of Jainism अध्यात्मवाद की मर्यादा, सैद्धांतिक चर्चा आदि के लेखक, महाबंध के सम्पादक, भूतपूर्व सम्पादक 'जैनगजट']

द्वितीय आवृत्ति

मूल्य ५)

मुद्रक
सिंघई प्रेस,
मढ़ाताल, जबलपुर.



स्वर्गीय सिंघई कुँवरसेन जी दिवाकर

समर्पण

पूज्य पिता श्री सिंघई कुंवरसेन जी
की पुण्य स्मृति में

"जो मेरी बाल्यावस्था से ही अपने अद्भुत एवं आकर्षक व्यक्तित्व के कारण मेरे आदर्श बन गए थे,

जिनके अनन्य अनुराग और आशीर्वाद, अनुकंपा और औदार्य के कारण मुझे लौकिक झंझटों से मुक्त हो आत्मोत्थान करने वाली उज्ज्वल अभिलाषा के अनुसार जैन धर्म और संस्कृति की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ,

जिनकी जिनधर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा थी और जिनका मन विषयों की ओर से विरक्त था,

जो जिनागम के मार्मिक ज्ञाता और आत्मोन्मुख श्रावक थे,

जिनका अंतःकरण अपूर्व वात्सल्यभाव समलंकृत था,

जिन्हें तीर्थंकर भगवान की पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में महान् हर्ष का अनुभव हुआ करता था"

चिरकृतज्ञ
सुमेरुचन्द्र

मंगल स्मरण

रयणत्तयं च वंदे चउवीसजिणे च सव्वदा वंदे ।
पंचगुरुणं वंदे चारण-चरणं सया वन्दे ।।

मैं सर्वदा सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की वंदना करता हूँ। मैं चौबीस तीर्थंकरों को सदा प्रणाम करता हूं। मैं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्वसाधु रूप पंच गुरुओं की सदा वंदना करता हूं। मैं चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वरों के चरणों को सदा प्रणाम करता हूँ।

+ + +

सयलभुवणेक्कणाहो तित्थयरो कोमुदीव कुंदंवा ।
धवलेहिं चामरेहिं चउसट्ठिहि वीज्जमाणो सो ।।

जो सम्पूर्ण विश्व के अद्वितीय अधिपति हैं तथा जिन पर चंद्रिका अथवा कुंद पुष्प सदृश धवल चौसठ चामर ढुराए जाते हैं, वे तीर्थंकर भगवान हैं।

+ + +

धर्मतीर्थंकरेभ्योस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः ।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ।।

अनेकांत वाणी द्वारा तत्व-प्रतिपादक, धर्मतीर्थ के प्रणेता ऋषभदेव आदि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों को आत्म स्वरूप की प्राप्ति के हेतु मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

+ + +

लोयस्सुज्जोययरे धम्म-तित्थंकरे जिणे वंदे ।

मैं लोक के प्रकाशक, धर्म तीर्थंकर जिन भगवान को प्रणाम करता हूँ।

+ + +

ॐ ह्रीं श्रीमते अर्हते धर्मसाम्राज्यनायकाय नमः ।

अनुक्रम

★

प्रस्तावना

पुरातन भारत के इतिहास का पर्यवेक्षण करने पर यह ज्ञात होगा कि यहाँ श्रमण और वैदिक संस्कृति रूप द्विविध विचारधाराएँ विद्यमान थीं। श्रमण शब्द द्वारा जैन तथा बौद्ध विचारधाराओं को ग्रहण किया जाता है। बौद्ध विचार धारा की प्राणप्रतिष्ठा गौतम बुद्ध के द्वारा हुई थी, अतः गौतम बुद्ध के जीवन के पूर्व भारत में श्रमण विचार धारा का प्रतिनिधित्व केवल जैन विचार तथा आचार पद्धति करती रही है। जैन विचार पद्धति का उदय इस अवसर्पिणी काल में भगवाम ऋषभदेव के द्वारा हुआ, जिन्हें जैन धर्म अपना प्रथम तीर्थंकर स्वीकार करता है। जैन आगम के अनुसार जैन तत्वचिंतन प्रणाली अनादि है, फिर भी इस युग की अपेक्षा जैन धर्म की स्थापना का गौरव भगवान ऋषभदेव को प्रदान किया जाता है। चौबीस तीर्थंकरों में ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर माने गए हैं। जैन शास्त्रों का अभ्यास तथा परिचय न होने से कभी कभी अनेक व्यक्ति अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर को जैन धर्म का संस्थापक कह देते हैं; किन्तु यह धारणा भ्रान्ति तथा असत्य कल्पना पर अवस्थित है।

आज के युग की उपलब्ध प्राचीनतम सामग्री तीर्थंकर ऋषभदेव के सद्भाव एवं प्रभाव को सूचित करती है। मोहनजोदरो, हड़प्पा के उत्खनन द्वारा जो नग्न वैराग्यभावपूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं, वे स्पष्टतया ऋषभदेव तीर्थंकर के प्रभाव को व्यक्त करती हैं।[1] उनका चिन्ह वृषभ (बैल) था। इस प्रकाश में मोहनजोदारो, हड़प्पा की सामग्री का यदि अध्ययन किया जाय तो यह स्वीकार करना होगा, कि सिन्धु नदी की सभ्यता के समय में जैन धर्म तथा ऋषभदेव का प्रभाव था। डॉ० हेनरिच ज़िमर ने अपने महान ग्रंथ 'फिलासफीज़ आफ इंडिया' में लिखा है कि जैन धर्म अत्यंत प्राचीन है। वह आर्यों

---

(1) The standing figures of the Indus seals three to five (plate II F. G. H.) with a bull in the foreground may be the prototype of Rishabha "—Modern Review August 1932.

के आगमन के पूर्व में विद्यमान धर्म है। उन्होंने इसे सर्वाधिक प्राचीन द्रविड़ युग का धर्म कहा है।[२]

वैदिक साहित्य ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक स्वीकार करता हुआ, उनको अपना भी पूज्य अवतार अंगीकार करता है। भागवत के ऋषभावतार स्कन्ध में ऋषभनाथ भगवान को "गगन-परिधानः"—आकाश रूपी वस्त्र का धारक बताते हुए यह भी कहा है कि उन्होंने महामुनियों को श्रेष्ठधर्म—परमहंस धर्म अर्थात् दिगम्बरत्व का उपदेश दिया था। उस कथन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वे भगवान परमहंस महामुनियों के भी परम पूज्य तथा वंदनीय थे। उन्होंने "भक्ति-ज्ञान-वैराग्यलक्षणं पारम-हंस्यधर्ममुपशिक्ष्यमाणः"—भक्ति (सम्यग्दर्शन), ज्ञान तथा वैराग्य (सम्यक् चारित्र) रूप परम-हंस-धर्म (जैनधर्म) का उपदेश दिया था (भागवत स्कंध ५, अ. ५, पाद २८)।

भागवत के एकादश स्कंध के द्वितीय अध्याय में लिखा है :—

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायंभुवस्य यः।
तस्याग्नीध्र स्ततो नाभि-ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥१५॥

स्वायंभुव नामके मनुके पुत्र प्रियव्रत हुए। इनके पुत्र आग्नीध्र और आग्नीध्र के नाभि तथा नाभि के पुत्र ऋषभ हुए। जैन शास्त्रों में भगवान ऋषभदेव को नाभिराज का पुत्र बताया है। ऋषभदेव को जैन धर्म में प्रथम तीर्थंकर माना गया है। हिन्दू धर्म शास्त्र उनको वासुदेवांश—विष्णु का अंश मानता है। विचारक वर्ग का ध्यान इस भागवत वाक्य की ओर जाना उचित है :—

---

(2) It (Jainism) — reflects the cosmology and anthropology of a much older pre-Aryan upper class of north-eastern India—(P 217)

Dr. Zimmer regarded Jainism as the oldest of the non-Aryan group (Sankhya, Yoga and Jainism.). Dr. Zimmer believed that there is truth in the Jaina idea that their religion goes back to a remote antiquity, the antiquity in question being that of the pre-Aryan, socalled Dravidian period, which has recently been dramatically illuminated by the discovery of a series of the great Late Stone Age cities in the Indus Valley, dating from the third and perhaps even fourth millennium B. C. (P. 60) *Philosophies of India by* **Dr. Zimmer**

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षमार्गविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्ब्रह्मपारगम् ।।१६।।

श्री स्वामी अखण्डानंद सरस्वती ने गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित टीका में उक्त श्लोक के अर्थ में लिखा है "शास्त्रों ने उन्हें (ऋषभदेव को) भगवान वासुदेव का अंश कहा है।" 'तमाहुर्वासुदेवांश' ये भागवत के शब्द हिन्दू समाज के लिये ध्यान देने योग्य हैं। उन ऋषभावतार का क्या प्रयोजन था, यह स्पष्ट करते हुए कहा है, "मोक्षमार्गविवक्षया अवतीर्णम्" —"मोक्ष मार्ग का उपदेश करने के लिए उन्होंने अवतार ग्रहण किया था।" इसका भाव यह है कि ऋषभावतार ने संसार की लीला दिखाने के बदले में संसार से छूटने का उपाय बताने के लिये जन्म धारण किया था। संसार के बंधन से छूटकर मुक्ति को प्राप्त करने का उपाय बताना उनके जन्म धारण का मूल उद्देश्य था। "तस्यासीत् ब्रह्मपारगं सुतशतम्"—"उनके सौ पुत्र थे, जो ब्रह्म विद्या के पारगामी हुए। ब्रह्म विद्या वेदों का अंत (पार) होने से वेदान्त शब्द से कही जाती है। भगवान ऋषभदेव ने जिस ज्ञान धारा का उपदेश दिया, उसे उपनिषद् में 'परा विद्या', श्रेष्ठ-विद्या माना गया है। उन ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के कारण यह देश भारतवर्ष कहलाया। इस विषय में देश की प्राचीनतम जैन विचार धारा तथा वैदिक विचार धारा एक मत हैं। अतः इस विचार का महत्व तथा मान्यता पूर्णतया न्यायोचित है।

भागवत में लिखा है:—

तेषां वै भरतो ज्येष्ठः नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नामा तम् ।।१७।।

उन शत पुत्रों में भरत ज्येष्ठ थे। वे नारायण के परम भक्त थे। ऋषभदेव वासुदेव के अंश होने से नारायण रूप थे। उनके नाम से यह देश, जो पहले अजनाभवर्ष कहलाता था, भारतवर्ष कहलाया। यह देश अलौकिक स्थान था। मार्कण्डेयपुराण[1], कूर्मपुराण, विष्णुपुराण, लिंगपुराण, स्कन्दपुराण, ब्रह्माण्डपुराण आदि में भी भागवत का समर्थन है। चौबीस

---

(१) **ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः।**
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्माच्च भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ।।३९-४१मार्कण्डेय पु०।।

अवतारों में सर्व प्रथम मानव अवतार रूप युक्त ऋषभदेव के प्रतापी ब्रह्मज्ञान (परा विद्या) के पारगामी पुत्र भरतराज के कारण इस देश को भारतवर्ष स्वीकार न कर अन्य भरत नाम को कारण बताना असम्यक् है। स्वयं वैदिक महान शास्त्रों की मान्यता के भी प्रतिकूल है।

महापुराण में भगवज्जिनसेन स्वामी कहते हैं:—

प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बंधुता तदा।
तमाह्वद् भरतं भावि समस्तभरताधिपम् ॥१५८॥
तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति ह्यासीज्जनास्पदम्।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥१५९ पर्व १५॥

भरत के जन्म समय प्रेम परिपूर्ण बंधुवर्ग ने प्रमोद के भार से समस्त भरत के भावी स्वामी को भरत कहा। भरत के नाम से हिमालय से समुद्र पर्यन्त चक्रवर्ती का क्षेत्र भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भागवत के एकादशम् स्कन्ध से ज्ञात होता है:—

नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥२–२०॥

उन सौ पुत्रों में नौ पुत्रों ने सन्यास वृत्ति धारण की थी। वे महाभाग्य शाली थे। तत्त्वोपदेष्टा थे। आत्मविद्या में ये अत्यंत प्रवीण थे तथा दिगम्बर मुद्राधारी थे।

भगवान ऋषभदेव ने जो उपदेश दिया, उसका प्राण अहिंसा धर्म था। जिस अहिंसा धर्म की जैन धर्म में महान प्रतिष्ठा है, उसे भागवत में भी मान्यता देते हुए सन्यासी का मुख्य धर्म कहा है।

भागवत के १८वें स्कन्ध में कहा है:—

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप–ईक्षा वनौकसः।
गृहिणो भूत-रक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥४२॥

सन्यासी का मुख्य धर्म है शांति और अहिंसा; वानप्रस्थी का धर्म है तपस्या तथा भगवद्भाव, गृहस्थ का मुख्य धर्म है जीव रक्षा तथा पूजा, ब्रह्मचारी का धर्म है आचार्य की सेवा करना।

महाभारत में लिखा है कि अहिंसा के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है:—

अहिंसार्थ-समायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥१०॥–अ. १८१

हिंसा करने वाला पशु योनि में आता है।

कामक्रोध–समायुक्तो हिंसा-लोभ-समन्वितः।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते ॥१२, अ. १८१॥

जो व्यक्ति काम, क्रोध युक्त होता हुआ, हिंसा तथा लोभ को प्राप्त होता है, वह मानवता से गिरकर पशु योनि में उत्पन्न होता है।

गीता में दैवी संपत्ति को मोक्ष का हेतु बताया हैं। 'दैवी संपद्विमोक्षाय" (१६ अ-५)। उस दैवी संपदा में अहिंसा की परिगणना की गई है :—

अहिंसा-सत्य-मक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्॥

दयाभूतेस्वलोलुप्त्वं मार्दवं-ह्रीरचापलम्॥१६-२॥

दैवी संपदा को प्राप्त पुरुष के लक्षणों में अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अनिन्दापना, जीवदया, चंचलता का त्याग, मृदुता, लज्जा, व्यर्थ की चेष्टाओं का अभाव आदि गुण पाए जाते हैं।

इस अहिंसा विद्या को जैन तीर्थंकर ऋषभदेव आदि ने धर्म तथा आत्म विकास का प्राण माना है।

भागवत की सुखसागरी टीका के एकादशम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में लिखा है, "परमेश्वर का स्मरण व ध्यान चौबीस अवतारों में से, जिस पर जिसका मन चाहे, उसी रूप में पूजा व भक्ति करे।" (पृ० १०६९) उक्त ग्रंथ में यह महत्व की बात आई है "राजा ऋषभदेव जी ने धर्म के साथ प्रजा का पालन करके ऐसा राज्य किया, कि उनके राज्य में बाघ और बकरी एक घाट पानी पीते थे। कोई प्रजा दुःखी व कंगाल न थी। देवता उनकी स्तुति देव-लोक में किया करते थे। जब राजा इंद्र ने उनका यश सुना, तब डाह से उनके राज्य भरतखण्ड में पानी नहीं बरसाया। इस पर ऋषभदेव ने इंद्र के अज्ञान पर हंसकर अपने योगबल से ऐसा कर दिया कि उनके राज्य में जिस समय प्रजा के लोग पानी चाहते थे, उसी समय नारायण की कृपा से जल बरसाया था; तब इंद्र ने उनको भगवान का अवतार जान कर अपना अपराध क्षमा कराया।" (पृष्ठ २६८) उक्त ग्रंथ में यह भी लिखा है "ऋषभदेव के मत को मानने वाले जैनधर्मी कहलाते हैं।"

ऋषभनाथ भगवान के सम्बन्ध में ऋग्वेद का यह मंत्र महत्व पूर्ण है :—

ऋषभं मासमानानां सपत्नानां विषासहिं।

हंतारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्॥१०१-२१-६६॥

इसका अर्थ वेदतीर्थ पं० विरुपाक्ष एम० ए० इस प्रकार करते हैं :—

हे रुद्रतुल्य देव! क्या तुम हम उच्च वंश वालों में ऋषभदेव के समान आत्मा को उत्पन्न नहीं करोगे? उनकी 'अर्हन' उपाधि आदि उनको धर्मोपदेष्टा द्योतित करती है, उसे शत्रुओं का विनाशक बनाओ।" वैदिक

शास्त्रज्ञ डाक्टर राधाकृष्णन ने लिखा है :—"यजुर्वेद में तीर्थंकर ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि का उल्लेख आता है। भागवत् पुराण ऋषभदेव को जैनधर्म का संस्थापक मानता है।" (१)

भागवत पुराण के अनुसार ऋषभदेव विष्णु नामसे नवमें अवतार थे। यह अवतार वामनावतार, राम, कृष्ण तथा बुद्ध रूप अवतारों के पूर्व हुआ है। विद्यावारिधि बैरिस्टर चंपतरायजी ने लिखा है: अवतार की गणना में वामन अवतार पंद्रहवां है। ऋग्वेद में वामन अवतार का उल्लेख है। इससे यह परिणाम निकलता है कि वामन अवतार सम्बन्धी मंत्र की रचना के पूर्व ऋषभदेव हुए हैं। ऋग्वेदोक्त वामन अवतार के पहले ऋषभावतार हुआ है, अतः ऋषभावतार ऋग्वेद के बहुत पहले हुआ है यह स्वीकार करना होगा। श्री चंपतरायजी का उपरोक्त भाव इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है :—

According to Bhagvata Purana Rishabhadeva was the ninth Avatara (incarnation) of Vishnu and preceded the Vamana or Dwarf, Rama, Krishna and Buddha, who are also regarded as Avatars. Now since the Vamana Avatara, the fifteenth in the order of enumeration is expressly referred to in the Rig Veda, it follows that it must have priority in point of time to the composition of the hymn that refers to it and inasmuch as Shri Rishabha Deva Bhagwan even preceded the Vamana Avatara, he must have flourished still earlier (practical Path pp. 193-194).

---

(1) "Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajitnath and Arishtanemi. The Bhagvat Puran endorses the view that Rishabhadeo was the founder of Jainism." Indian Philosophy Vol. I, P. 237.

भागवतपुराण में चौबीस अवतारों के नाम इस प्रकार पाये जाते हैं :—(१) नारायण (२) ब्रह्मा (३) सनत्कुमार (४) नर-नारायण (५) कपिल (६) दत्तात्रेय (७) सुयज्ञ (८) हयग्रीव (९) ऋषभ (१०) पृथु (११) मत्स्य (१२) कूर्म (१३) हंस (१४) धन्वंतरि (१५) वामनावतार (१६) परशुराम (१७) मोहिनी (१८) नृसिंह (१९) वेद व्यास (२०) व्यास (२१) बलराम (२२) कृष्ण (२३) बुद्ध (२४) कल्कि (भा० पु० ६, २, ७)।

इस कथन के प्रकाश में तुलनात्मक तत्वज्ञान के अभ्यासी विद्वान् जैनधर्म का अस्तित्व वेदों के पूर्वकालीन स्वीकार करते हैं, क्योंकि जैनधर्म के संस्थापक भगवान ऋषभदेव का अस्तित्व वेदों के भी पूर्व का सिद्ध होता है। इससे उन लोगों का उत्तर हो जाता है, जो जैनधर्म का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करने में कठिनता का अनुभव करते हैं। प्रकाण्ड विद्वान् डाक्टर मंगलदेव एम० ए० डी० लिट्, काशी के ये विचार गंभीर तत्वचिंतन के फल स्वरूप लिखे गए हैं, "वेदों का, विशेषतः ऋग्वेद का काल अति प्राचीन है। उसके नादसीय सदृश सूक्तों और मंत्रों में उत्कृष्ट दार्शनिक विचारधारा पाई जाती है। ऐसे युग के साथ जबकि प्रकृति के कार्य निर्वाहक तत्तद देवताओं की स्तुति आदि के रूप में अत्यंत जटिल वैदिक कर्मकांड ही आर्य जाति का परम ध्येय हो रहा था, उपर्युक्त उत्कृष्ट दार्शनिक विचार की संगति बैठाना कुछ कठिन ही दिखाई देता है। हो सकता है कि उस दार्शनिक विचार-धारा का आदि स्रोत वैदिक धारा से पृथक या उससे पहले का हो।"

"ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में कपिल-सांख्यदर्शन के लिये स्पष्टतः अवैदिक कहा है। "न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्" (ब्र० सू० शां० भा० २।१।१।) । इस कथन से तो हमें कुछ ऐसी ध्वनि प्रतीत होती है, कि उसकी परम्परा प्राग्वैदिक या वैदिकेतर हो सकती है। जो कुछ भी हो, ऋग्वेद संहिता में जो उत्कृष्ट दार्शनिक विचार अंकित हैं, उनकी स्वयं परम्परा और भी प्राचीनतर होनी चाहिये। डॉ० मङ्गलदेव का यह कथन ध्यान देने योग्य है—(१) "जैनदर्शन की सारी दार्शनिक दृष्टि वैदिक दार्शनिक दृष्टि से स्वतन्त्र ही नहीं, भिन्न भी है। इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता। (२) हमें तो ऐसा प्रतीत होता है, कि उपर्यक्त दार्शनिक धारा को हमने ऊपर जिस प्राग्वैदिक परम्परा से जोड़ा है, मूलतः जैन-दर्शन भी उसके स्वतन्त्र-विकास की एक शाखा हो सकता है।

---

(१) जैनदर्शन की भूमिका, पृष्ठ १०

(२) स्व० जर्मन शोधक विद्वान् डा० जैकोबी ने जैनधर्म की स्वतन्त्रता तथा मौलिकता पर अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में चर्चा करते हुए कहा था :—

"In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others and that therefore it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India"—Studies in Jainism P-60.

उसकी सारी दृष्टि से तथा उसके कुछ पुद्‌गल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों से इसी बात की पुष्टि होती है।" गीता के चौथे अध्याय के वर्णन से ऋषभदेव की अत्यन्त प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। महाराज कृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन! इस योग का उपदेश सूर्य से मनु को प्राप्त हुआ था। मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इसका प्रतिपादन किया था। इक्ष्वाकुवंश के आदिपुरुष भगवान ऋषभदेव हुए हैं। स्वामी समंतभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में ऋषभदेव को "इक्ष्वाकुकुलादि आत्मवान्" इक्ष्वाकुवंशमें प्रथम आत्मज्ञ महापुरुष कहा है। महापुराण में जिनसेनाचार्य ने कहा है—

आकर्नाच्च तदेक्षूणां रस-संग्रहणे नृणाम्।

इक्ष्वाकुरित्यभूद्‌देवो जगतामभिसम्मतः ॥१६–२६४॥

उस समय भगवान ने लोगों को इक्षुरस के संग्रह का उपदेश दिया था, इससे जगत् उनको इक्ष्वाकु कहने लगा था।

भगवान राम भी इक्ष्वाकुवंशी हुए हैं। महाभारत में राम को "इक्ष्वाकु-नंदनः" (पृ. १७६६, गीता प्रेस प्रति) कहा है।

इक्ष्वाकु राजा के पश्चात् अन्य राजाओं को भी योग का ज्ञान हुआ किन्तु "स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप" ॥४–२ गीता॥ हे अर्जुन! वह योग बहुत समय से इस लोक में नष्ट हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥४–३॥

अब मैंने उसी पुरातन योग का तेरे लिए प्रतिपादन किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्री कृष्ण की गीता के बहुत पूर्व योग का उपदेश इक्ष्वाकु-वंशी राजा को मिला था। इससे उस वंश के आदि पुरुष की प्राचीनता का सहज ही विश्वास हो सकता है। अतः ऋषभदेव भारतीय संस्कृति के अत्यन्त प्राचीन आदरणीय व्यक्ति प्रमाणित होते हैं।

कुछ बातों में समानता देखकर दोनों विचारधाराओं को सर्वथा एक अथवा कुछ भिन्नता देख उनमें भयंकर विरोध की कल्पना गम्भीर विचार की दृष्टि में अनुचित हैं। सद्‌भावना के जागरण-निमित्त संस्कृतियों के मध्य ऐक्य के बीजों का अन्वेषण हितकारी है; जैसे जैनधर्म में छने पानी का उपयोग करना आवश्यक बताया गया है। वैदिक शास्त्र भागवत अध्याय १८ में लिखा है कि वानप्रस्थ आश्रमवाला व्यक्ति छना जल पीता है। कहा भी है :—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।

सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत् ॥१५॥

दृष्टि द्वारा भूमि का निरीक्षण करने के उपरान्त गमन करे, वस्त्र से छना हुआ पानी पीवे, सत्य से पुनीत वाणी बोले तथा पवित्र चित्त होकर कार्य करे।

भागवत में जो संत का स्वरूप कहा गया है, वह बहुत व्यापक है। उसमें दि० जैन मुनिराज अंतर्भूत हो जाते हैं। कहा भी है :—

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।

निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।।अध्याय २६, २७।।

सन्तों को किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती है। वे आत्मस्वरूप में मन लगाते हैं। वे प्रशान्त रहते हैं तथा सब में साम्यभाव रखते हैं। वे ममता तथा अहंकार रहित रहते हैं। वे निर्द्वन्द्व रहते हैं तथा सर्व प्रकार के परिग्रह रहित होते हैं। ऐसी पवित्र माधुर्यपूर्ण समन्वयात्मक सामग्री को भूलकर समाज में असङ्गठन के बीज बोने वाले, संकीर्ण विचारवाले व्यक्ति विद्वेष-वर्धक सामग्री उपस्थित कर कलह भावना को प्रदीप्त करते हैं। गाँधी जी ने ऐसी संकीर्ण वृत्ति को एक प्रकार का पागलपन (**Insanity**) कहा था। उन्होंने सन् १९४७ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के समक्ष कहा था—

"It is to me obvious that if we do not cure ourselves of this insanity, we shall lose the freedom, we have won." (Mahatma Gandhi, The last Phase Vol. II p. 516).

"मुझे तो यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि यदि हमने इस पागलपन का इलाज नहीं किया और रोगमुक्त न हुए तो हमने जिस स्वतन्त्रता को प्राप्त किया है, उसे हम खो बैठेंगे।" गाँधी जी ने सन् १९२४ के यङ्ग इण्डिया में ये महत्वपूर्ण शब्द लिखे थे—"इस समय आवश्यकता इस बात की नहीं है, कि सबका धर्म एक बना दिया जाए, बल्कि इस बात की है, कि भिन्न-भिन्न धर्म के अनुयायी और प्रेमी परस्पर आदरभाव और सहिष्णुता रखें। हम सब धर्मों को मृतवत एक सतह पर लाना नहीं चाहते, बल्कि चाहते हैं कि विविधता में एकता हो। हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं उत्पन्न होती, परन्तु स्वधर्म-विषयक प्रेम अंध प्रेम न रहकर ज्ञानमय हो जाता है....सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्यचक्षु खुल सकते हैं। धर्मान्धता और दिव्यदर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है।"

(गाँधी-वाणी पृष्ठ १००–१०१)

राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने अखिल भारतीय प्राच्य-परिषद् (All-India Oriental Conference) के सभापति के रूप में विविध धर्मों पर प्रकाश डालते हुए सर्वधर्मों के प्रति समादर के भाव का पोषण किया था। उन्होंने कहा था—

"Asoka ordered to be carved in stone columns and rocks the precepts of Buddhism. He enjoined his 'Children', i.e, his people, to love one another, to be kind to animals, to respect all religions." (Occasional Speeches and Writings P. 268.)—

"अशोक ने यह आज्ञा दी थी कि पाषाण स्तम्भों एवं चट्टानों पर बुद्ध धर्म की शिक्षाएं उत्कीर्ण की जावें। उसने अपनी प्रजा को आदेश दिया था कि परस्पर में प्रेम करें, प्राणियों पर दयाभाव धारण करें तथा सर्वधर्मों के प्रति आदर-बुद्धि रखें।" उन्होंने यह भी कहा था कि :—

"The future of Religion and mankind will depend on the choice we make. Concord, not discord, will contribute to the establishment of spiritual values in the life of mankind. Concord alone is meritorious, said Asoka : Samavaya eva Sadhuh." (P. 286)

जो धर्मान्ध तमोगुण प्रधान व्यक्ति धार्मिक विद्वेष को जगाते हैं, वे दुर्गति को प्राप्त करते हैं। गौतम बुद्ध ने कहा था—"लोहे का मुरचा (rust) ही लोहे को खाता है, उसी प्रकार पापी को उसके पाप खाते हैं।"

गीता में लिखा है—

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।" (९–२७)

एक विवेकी ईश्वर भक्त विश्व में प्रभु का दर्शन कर सर्वत्र प्रेम का सिन्धु लहराते हुए देखता है और कहता है, मैं तो सर्वत्र ईश्वर और उनका वैभव देखता हूँ। मुझे कोई शत्रु नहीं दिखता। वास्तव में मैं तो शत्रु और मित्र इस द्वैतभाव से विमुक्त अद्वैत एकत्व का सौन्दर्य देखता हूँ। तुलसीदासजी ने रामायण में कितना सुन्दर लिखा है :—

उमा जे रामचरन रत विगत काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत् केहि सन करहिं विरोध॥

भारत देश के सम्पूर्ण प्रभुत्वपूर्ण लोकतंत्रात्मक गणराज्य (Sovereign Democratic Republic) ने धर्म के विषय में सर्वधर्म समादर की भावना को स्वीकार करते हुए, भारत के नागरिकों को धर्म, पूजा, विश्वास तथा मत

प्रकट करने की स्वतंत्रता को मौलिक अधिकार (Fundamental Rights) के रूप में मान्य किया है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति डाक्टर राधाकृष्णन ने सन् १९६३ की महावीर जयंती के अवसर पर ५ अप्रेल को देहली के अपने महत्वपूर्ण भाषण में प्रकाश डालते हुए कहा था "हम धर्म निरपेक्ष (Secular) दृष्टिकोण को अपनाते हैं, जो जैन धर्म का अनेकान्त का अनुपम सिद्धान्त है। अहिंसा प्रेम का सिद्धान्त है। विज्ञान और अध्यात्म के मेल से मानवजाति सुख की ओर अग्रसर हो सकती है। भारत सरकार जैन धर्म के सिद्धान्तों को मानकर ही चल रही है।"

तुलनात्मक धर्म का अभ्यासी सात्विक वृत्तिवाला व्यक्ति विविध धर्म-ग्रन्थों का परिशीलन करे तो उसे धार्मिक एकता को परिपुष्ट करने योग्य विपुल सामग्री मिलेगी। जैनधर्म में परमात्मा को तीर्थंकर, परमेष्ठी, विष्णु वृषभ वीर, वर्धमान आदिनाथ आदि शब्दों द्वारा संकीर्तित किया है। भगवज्जिनसेन आचार्य ने जिन सहस्र नाम में उक्त नामों के सिवाय अन्य पवित्र नाम बताए हैं जिनका वैदिक तथा बुद्ध धर्म के वाङ्मय में भी प्रयोग होता है। विष्णु सहस्रनाम में पूर्वोक्त जैन धर्म के शब्द मिलते हैं। उनको स्मरण कर आत्मा निर्मल तथा पवित्र बनती है। विष्णु सहस्रनाम के ये पद्य ध्यान देने योग्य है :—

वृषाही 'वृषभो' विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः।
वर्धनो 'वर्धमानश्च' विविक्तः श्रुतिसागरः ॥४१॥

यहाँ वृषभ (वृषभदेव) और वर्धमान (महावीर भगवान) का उल्लेख है।

ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः ॥५८॥

यहाँ परमेष्ठी शब्द ध्यान देने योग्य है। स्वामी समंतभद्र ने रत्नकरंड श्रावकाचार में जिनेन्द्र भगवान को आप्त कहते हुए उन्हें परमेष्ठी कहा है।

परमेष्ठी परंज्योति विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोनादि-मध्यान्तः शास्ता सार्वोपलाल्यते ॥

जैन धर्म में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को पंच परमेष्ठी कहा है। जैनधर्म में "परमेष्ठिने नमः" कहते हैं। यही पाठ 'परमेष्ठिने नमः' वैदिक हिन्दू सहस्रनाम में पढ़ता है। एक जगह विष्णु सहस्रनाम में लिखा है:—

मनोजवस्तीर्थंकर वसुरेता वसुप्रदः ॥८७॥

यहां जगत में प्रसिद्धि प्राप्त तीर्थंकर शब्द द्वारा प्रभु का पुण्य स्मरण किया गया है। विष्णु भक्त भी "तीर्थंकराय नमः" पाठ पढ़ता है। वह भी

तीर्थंकर की आराधना करता है। इस परम सत्य पर दृष्टि देने से धार्मिक उदारता, मैत्र तथा सांस्कृतिक समन्वय के भाव जागृत होते हैं।

जैन संस्कृति की श्रमण संस्कृति रूप में प्रसिद्धि है। श्रमण का स्वरूप कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में इस प्रकार किया है:—

समसत्तु-बंधु-वग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
सम-लोट्ठु-कंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥३-४१

श्रमण वह है, जो शत्रु-बंधु वर्ग में साम्यभाव रखता है, जो सुख-दुख में समान है, प्रशंसा-निंदा में समान है; कचन और मृत्तिका में समान भाव युक्त है तथा जीवन और मरण में साम्य भाव युक्त है।

अशोक ने अपने अभिलेखों में जैन धर्म को 'समण धम्म' रूप से कहा है। महावीर भगवान को जैन शास्त्रों में महा श्रमण कहा है। विष्णु सहस्र नाम में परमात्मा को 'श्रमण' कहा है:—

भारभृत् कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः।
आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहन ॥ १०४ ॥

गीता के 'स्थितप्रज्ञ मुनि' के चित्रण से श्रमण का स्वरूप स्पष्ट होता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ २-५६ गीता ॥

समन्वय की भावना को दूरकर जो व्यक्ति अहंकार द्वेषादि की मलिनता पूर्ण मनोवृत्ति धारण करते हैं, वे व्यक्ति गीताकार के मत से शूकर कूकर आदि की आसुरी योनि में जन्म धारण करते हैं। कृष्ण महाराज अर्जुन से कहते हैं:—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्म-पर-देहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १६-१८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्र मशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १६-१९ ॥

अहंकार, बल, अभिमान, काम, क्रोध को प्राप्त हुए, दूसरों की निन्दा करने वाले अथवा दूसरों से ईर्षा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के देहों में विद्यमान मुझ अंतर्यामी से द्वेष करने वाले हैं।

उन द्वेष करने वाले पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में (शूकरादि की पर्यायों में) ही गिराता हूं, अर्थात् पापी व्यक्ति वास्तव में ईश्वर का शत्रु है और वह नरकादि में जाता है।

गीताभक्त को कृष्ण महाराज की चेतावनी है कि दुष्कर्म करने वाला अत्यन्त निंद्य योनि में जाकर कष्ट पाता है। भगवान का नाम जब 'श्रमण' है, तब श्रमण संस्कृति विद्वेष योग्य नहीं ममता की वस्तु बन जाती है।

विष्णु सहस्रनाम में कहा है:—

"आदि देवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरु ॥६५॥

(यहां आदिनाथ ऋषभदेव का द्योतक आदिदेव शब्द है। उनको महादेव भी कहते हैं)

कालनेमिनिहा वीर: शौरि: शूरजनेश्वर: ॥८२॥

यहां 'वीर' शब्द चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर की स्मृति कराता है, जिन्हें वीर, महावीर, अतिवीर, सन्मति और वर्धमान इन पांच नामों द्वारा संकीर्तित किया जाता है। विष्णु भक्त भी जैन के समान "वीराय नम:" पाठ पढ़ता है। ऐसी सुन्दर समन्वयात्मक सामग्री के होते हुए भी कहीं २ विद्वेष-वर्धक सामग्री क्यों प्राप्त होती है, ऐसी शंका की जा सकती है। गंभीर विचार करने पर पता चलेगा कि तमोगुण प्रधान व्यक्तियों ने बुद्धि की प्रखरता से उच्च अभ्यास कर लिया। वे अंत:करण स्थित मलिनता से प्रेरित हो ऐसी रचनाएं बनाते हैं, जिनसे मनुष्य अपने कर्तव्य से च्युत हो अधम कर्म करके आसुरी योनि में जाने की सामग्री संचय करता है। सत्पुरुष के समीप की विद्या प्रेम की ज्योत्स्ना द्वारा विश्व को सुखी बनाती है तथा वही विद्या तमोगुणी आदि हीन व्यक्तियों का आश्रय पा दृष्टिविष सर्पराज का रूप प्राप्त कर सर्वत्र संहार और विनाश का कार्य करती है। सज्जन की विद्या स्नेह की गंगा प्रवाहित करती है। पापी, असूयाभाव वाले दुष्ट का ज्ञान क्रूरता की वैतरिणी बहाती है। इस प्रकाश में धार्मिक उपद्रवों द्वारा धर्म को बदनाम करने वाले काले कारनामों का रहस्य समझा जा सकता है। नीतिकार का यह कथन अत्यन्त मार्मिक और विवेकपूर्ण है:—

साक्षरा: विपरीताश्चेत्‌राक्षसा एव केवलम्।
सरस: विपरीतश्चेत सरसत्वं न मुंचति॥

साक्षर व्यक्ति यदि विपरीत होते हैं, तो वे राक्षस हो जाते हैं। (साक्षरा: को विपरीत क्रम अर्थात उल्टे रूप में पढ़ो 'राक्षसा' बनता है)। सरस अर्थात सात्विकता के रस से परिपूर्ण व्यक्ति विपरीत होने पर भी 'सरस' रहता है ('सरस' को उल्टा पढ़ने पर भी सरस रहता है)।

हमारी दृष्टि से भारत शासन को अपनी 'सेक्यूलर' (Secular) धर्म निरपेक्ष नीति अथवा सर्वधर्म समभाव की दृष्टि को जनता के मानस में

प्रतिष्ठित कराने के लिए अशोक की पद्धति को अपनाकर प्रमुख सार्वजनिक स्थलों में धार्मिक मैत्री तथा समन्वय की भावना को प्रबुद्ध करने वाली सामग्री स्तंभों आदि में अंकित कराना चाहिए, जिससे मनुष्य गांधीजी के शब्दों में 'धर्मान्धता की बीमारी' (Insanity) से मुक्त हो।

हमारा कर्तव्य है कि हम अशोक तथा उसके पूर्ववर्ती भारत की धार्मिक उदारता की नीति को अपनावें। सम्राट बिम्बसार (महाराज श्रेणिक) बौद्धधर्म के भक्त थे और उनकी महारानी चेलना जैनधर्म की प्रगाढ़ श्रद्धा समलंकृत थी। इस धार्मिक विभिन्नता से उनके व्यक्तिगत जीवन में कटुता का जागरण नहीं होता था। धार्मिक प्रतिद्वंद्विता भी चलती थी। चेलना ने श्रेणिक के अन्तःकरण में जैनधर्म का महत्व अंकित करा दिया, इससे वह सम्राट् परम धार्मिक जैन बन गया। एक ही संस्कृति के संरक्षकों में विद्वेष का सद्भाव देख उन चेलों की कहानी स्मरण आती है, जो अपने गुरु के पैरों को दाब रहे थे। एक शिष्य से गुरुजी के दूसरे पैर को धक्का लग गया। इस पर रुष्ट हो उस शिष्य ने दूसरे पैर को जोर से मार दिया। उसने यह नहीं सोचा कि ये दोनों पांव भिन्न होते हुए भी गुरुजी से तो अभिन्न हैं। इस अविवेक का फल यह हुआ कि उन शिष्यों ने रोगी गुरुजी के पैरों को कुचलकर गुरुजी की दुर्दशा कर दी थी। उन्होंने अपने पैर से भिन्न पैर को शत्रुभाव से देखकर उसको दंडित किया। इस दण्ड का अंतिम फल यह हुआ कि बेचारे गुरुजी कष्ट में पड़ गए। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति के अविभाज्य अंग भारतीय मूर्ख शिष्यों का अनुकरण कर संस्कृति के भिन्न २ अंगों को क्षति पहुंचाते हुए हर्ष का अनुभव करते हैं। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि हमने श्रमण संस्कृति के आराधक जैनों को कष्ट पहुंचाया, उनके मूर्ति, मंदिरों को नष्ट किया, उनके साधुओं की निन्दा आदि की तो हम भारतीय संस्कृति पर ही प्रहार कर रहे हैं। संकीर्ण दृष्टिकोण को अपनाने पर एक ही संप्रदाय वाले विद्वेषाग्नि में जलते हैं। स्वतंत्र भारत के नागरिक को स्मरण रखना होगा, कि अब इस अणु युग में धर्म वालों ने मैत्री भाव का परित्याग किया, तो भौतिक विज्ञान के जाज्वल्यमान ज्वालामुखी के द्वारा उनका अस्तित्व भी संकट में पड़ जायगा। चतुर मानव अपने दुर्लभ मनुष्य जीवन को राक्षसी आचार–विचार से मलिन न बनाकर उसे मैत्री की भावना से समलंकृत करता है। इस अणुयुग में धर्म का विरोधी तत्व बढ़ रहा है। वह उद्वेलित सागर का रूप धारण कर रहा है। ऐसी स्थिति यदि ध्यान में नहीं रखी गई, तो आगे भीषण और अवर्णनीय दुर्दशा का सामना करना होगा।

जिनकी दृष्टि साम्प्रदायिकता के विकार से विमुक्त है, वे यदि जैन धर्म तथा उससे सम्बन्धित सामग्री का परिशीलन करें तो महत्वपूर्ण सत्य प्रकाश में आवे। तुलनात्मक धर्म के विशेषज्ञ बैरिस्टर चंपतराय जी ने यह महत्वपूर्ण बात लिखी है, कि जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकर कहे गए हैं, अन्य धर्मों में भी चौबीस महापुरुषों का उल्लेख पाया जाता है। उनके शब्द इस प्रकार हैं:—

"There is a special fascination in the number four and twenty; the Hindus have twenty-four Avataras (incarnation) of their favourite God Vishnu; there were twentyfour Counsellor gods of the ancient Babylonians, the Buddhists posit four and twenty previous Buddhas, that is teaching gods. The Zoroastrians also have twenty-four Ahuras who are regarded as the mightiest to advance desire and dominion of blessings" (Rishabha Deva, page 58)—

"चतुर्विंशति इस संख्या के प्रति विशेष आकर्षण पाया जाता है। हिन्दुओं में उनके प्रिय परमेश्वर विष्णु के चौबीस अवतार कहे गए हैं; प्राचीन बेबीलोनियनों में चौबीस पारिषद ईश्वर माने गए हैं, बौद्धों में पूर्वकालीन चौबीस बुद्धों का सद्भाव स्वीकार किया गया है, पारसियों में चौबीस अहूर कहे गए हैं, वे इच्छापूर्ति करने में अत्यन्त समर्थ हैं; तथा उनके आशीर्वाद का साम्राज्य भी महान है।" तुलनात्मक धर्म के साहित्य का अभ्यास यह बताता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव आदि का उपदेश पूर्णतया वैज्ञानिक तथा बुद्धिगम्य रहा है। विद्यावारिधि चंपतरायजी ने उपरोक्त विषय को इस प्रकार प्रकाशित किया है:—

Jainism, then, is the Scientific Religion discovered and disclosed by man for the benefit of man and the advantage of all other living beings. (Introduction of Rishabha Deva, VI)

पुरातन भारतीय साहित्य का सूक्ष्म रीति से परिशीलन करने पर दो पक्षों का सद्भाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। अहिंसा की विचारधारा को अपनानेवाला वर्ग क्षत्रिय था; पशुबलिदान द्वारा इष्ट सिद्धि के पक्ष का पोषण विप्रवर्ग करता था। अहिंसा की विशुद्ध धारा के समर्थक तथा प्रवर्धक समुदाय को पश्चात् जैन धर्मी कहा गया है। कुरुपांचाल देश के क्रियाकाण्डी याज्ञिक विप्रवर्ग मगध तथा विदेह को निषिद्ध भूमि समझते थे, क्योंकि वहाँ अहिंसात्मक यज्ञ का प्रचार था। इसके पश्चात् जनक सदृश

नरेशों के नेतृत्व में अहिंसा और आत्मविद्या का प्रभाव बढ़ा, अतएव उपनिषद् कालीन विप्रगण आत्मविद्या की शिक्षा-दीक्षा के लिये कुरुपांचाल देश से मगध तथा विदेह की ओर आने लगे थे। अहिंसावादी लोग एक विशेष भाषा का उपयोग करते थे, जिसमें 'न' के स्थान में 'ण' का प्रयोग किया जाता था। यह स्पष्टतया प्राकृत-भाषा के प्रचार तथा प्रभाव को सूचित करती थी। (१)

विचारक वर्ग के समक्ष यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वेदकालीन भारतीय अग्नि, सूर्य, चन्द्र, उषस्, इन्द्रादि की स्तुति करता था। इन प्राकृतिक वस्तुओं की अभिवंदना करते हुए वह व्यक्ति उपनिषद् काल में उच्च आत्मविद्या की ओर झुक जाता है। पहले वह स्वर्ग की कामना करता हुआ कहता था, "अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्गकामः", किन्तु उपनिषद काल में वह भौतिक वैभव की ओर आकर्षणहीन बनकर आत्मविद्या तथा अमृतत्व की चर्चा में संलग्न पाया जाता है। नचिकेता सदृश बालक समस्त वैभव का लालच दिए जाने पर भी उसकी ओर आकर्षित न होकर अमृतत्व के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए यम से अनुरोध करता है; मैत्रीय याज्ञवल्क्य से धन के प्रति निस्पृहता व्यक्त करती हुई अमृतत्व की उच्च चर्चा करती है। इस प्रकार उपनिषद् कालीन व्यक्ति के दृष्टिकोण में अद्‌भुत परिवर्तन का क्या कारण है? स्वामी समन्तभद्रके कथन से इस विषय में महत्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। भगवान महावीर से २५० वर्ष पूर्ववर्ती भगवान पार्श्वनाथ की तपोमयी श्रेष्ठ साधना के द्वारा अरण्यवासी तपस्वियों को सत्य-तत्व की उपलब्धि हुई थी तथा उन्होंने पार्श्वनाथ भगवान का शरण ग्रहण किया था। उनके स्वयंभूस्तोत्र में आगत यह पद्य मनन योग्य है :—

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेपि तथा बुभूषवः।
वनौकस स्वश्रमवंध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥

"दोष मुक्त भगवान पार्श्वनाथ को देख कर वनवासी तपस्वियों ने, जिनका श्रम व्यर्थ जा रहा था तथा जो पार्श्वनाथ प्रभु के समान निर्दोष स्थिति को प्राप्त करना चाहते थे, भगवान के शान्तिमय-अहिंसा पूर्ण उपदेश का शरण ग्रहण किया।" पद्य में आगत "वनौकसः" शब्द वन में निवास करने वाले आरण्यक, 'तपोधनाः'—तपस्वियों को सूचित करता है। बाल-

(1) Prof. A. Chakravarty's article in 'The Cultural Heritage of India.'

ब्रह्मचारी उग्र तपस्वी पार्श्वनाथ तीर्थंकर का प्रभाव उपनिषद् कालीन भारतीय के जीवन पर स्पष्टतया सूचित होता है ।

शान्त भाव से चिन्तन तत्पर सत्यान्वेषी इस सत्य को भी स्वीकार करेगा कि बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का भी महान् प्रभाव रहा है। बालब्रह्मचारी तथा करुणा के सागर भगवान नेमिनाथ को अरिष्टनेमि कहकर उनकी वेद में स्तुति की गई है :—

स्वस्ति न इंद्रो, वृद्धश्रवा, स्वस्ति नः पूषा, विश्ववेदा, स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ऋग्वेद अष्टक १ अध्याय ६

वे अरिष्टनेमि हमारा कल्याण करें, जो इंद्र (परमेश्वर) हैं, जो वृद्धश्रवा (जिनका यश वृद्धों में विख्यात है) हैं, सूर्य के समान पोषण प्रदाता होने से पूषा हैं, विश्व के ज्ञाता सर्वज्ञ हैं, जो ताक्ष्यं अर्थात् महाज्ञानियों के वंश वाले हैं, तथा जो बृहस्पति हैं अर्थात् महान् देवों के अधिपति हैं ।

मंत्र में आगत शब्द 'वृद्धश्रवा'—वृद्धों में जिनका यश वर्तमान है, महत्वपूर्ण है । इससे यह ध्वनित होता है कि इस मंत्र की रचना के पूर्व भगवान अरिष्टनेमि विद्यमान थे ।

इन तीर्थंकर नेमिनाथ की आत्मनिर्भरता की शिक्षा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब इस पद्य में पाया जाता है ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनोबंधुः आत्मैव रिपुः आत्मनः ।।

उक्त पद्य के साथ पूज्यपाद स्वामी के समाधि शतक का यह श्लोक तुलना के योग्य है :—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म-निर्वाणमेव च ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योस्ति परमार्थतः ।।७५।।

यह आत्मा ही जीव को संसार में भ्रमण कराता है तथा निर्वाण प्राप्त कराता है । इससे परामर्थ दृष्टि से आत्मा का कोई अन्य गुरु नहीं है ।

आत्म-निर्भरता का भाव गीता के इस पद्य द्वारा भी व्यक्त होता है :—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न च कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।

प्रभु लोक के कर्तृत्व अथवा कर्मत्व की सृष्टि नहीं करते। वह परमात्मा कर्मों के फल का संयोग भी नहीं जुटाता है। यह सब अपने भावों के अनुसार होता है। वह भगवान किसी के पाप का आदान नहीं करता है और न पुण्य का आदान करता है। अज्ञान (जड़ कर्म) के द्वारा ज्ञान ढँक गया है; इससे जीव मोह युक्त हो जाते हैं।

यह गीता का पद्य जैन विचारों से पूर्णतया अभिन्न प्रतीत होता है :—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममः निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥७१॥

जो पुरुष समस्त कामनाओं का त्यागकर निस्पृह होता है तथा ममता और अहंकार का त्याग करता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है।

जैन धर्म में निर्वाण अवस्था को प्राप्त करने के लिए दिगम्बर अवस्था अंगीकार करना आवश्यक माना गया है। बाह्य सामग्री का परित्याग क्यों आवश्यक है, इसको समझने में गीता के ये पद्य विशेष सहायक हो जाते हैं। उनसे दिगम्बरत्व का युक्तिवाद अंतकरण में प्रतिष्ठित होता है :—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६०॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३ अध्या० २॥

ह अर्जुन! विषयों का अनुचिंतन करने वाले पुरुष के चित्तमें उनके प्रति आसक्ति होती है, उससे कामना उत्पन्न होती है, उससे क्रोध भाव पैदा होता है, जिससे मूढ़ता का भाव होता है। इससे स्मृति भ्रमित हो जाती है। उससे बुद्धिनाश होता है, इससें पुरुष का विनाश हो जाता है।

धनवैभवादि के सद्भाव में आसक्ति आदि का होना स्वाभाविक है, इसी से परमहंस सन्यासी दिगम्बर पद को स्वीकार करते हैं। महाभारत में दिगम्बर जैन मुनि का उल्लेख आया है। विप्रराज उत्तंक ने नग्न जैन मुनि को देखा था "सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं"— (आदिपर्व अध्याय ३–१२६ पृ० ५७) इससे जैन दिगम्बर साधुओं का महाभारत काल में सद्भाव स्पष्ट होता है।

डा० जिमर अपनी शोध से इस निष्कर्ष पर पहुँचे " **In ancient times the Jain monks went about completely naked. (Philosophies of India P. 210)**

पुरातन काल में जैन साधुओं का पूर्णतया नग्न रूप में विहार होता था। डाक्टर ज़िमर का यह भी कथन है कि महावीर भगवान के युगमें किन्हीं साधुओं ने श्वेत वस्त्र भी धारण किए थे। अर्थात् वस्त्रधारी वर्ग का सूत्रपात पश्चात् हुआ। "Later on in Mahavira's period many assumed a white garment as a concession to decency & termed themselves Svetambara 'those, whose garment (ambara) is white (Sveta)." (P. 210)

भारत में जब सिकन्दर आया था, तब ईसा पूर्व ३२७–३२६ वर्ष में उसने बहुत से दिगम्बर साधुओं को देखा था। यह श्रेष्ठ त्याग भगवान ऋषभदेव के जीवन और शिक्षण से अनुप्राणित था।[1]

समस्त जैन वाङ्मय आत्मनिर्भरता तथा संयम-शीलता की शिक्षा से परिपूर्ण है। अतः तुलनात्मक तत्वज्ञान के अभ्यासी को यह सत्य स्वीकार करना होगा, कि तीर्थंकरों की पवित्र शिक्षा का विश्व की विचार धारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

यदि असांप्रदायिक भाव से न्याय बुद्धिपूर्वक विशेषज्ञ विश्व साहित्य का परिशीलन करे, तो वह जैन तीर्थंकरों के द्वारा विश्व संस्कृति का कितना कल्याण हुआ यह सहज ही जान सकेगा।

गौतमबुद्ध भगवान महावीर की सर्वज्ञता की चर्चा करते हुए, उसके प्रति शंका या अवज्ञा का भाव न प्रगट कर उसके विषय में अपनी आकांक्षा रूप रुचि का भाव व्यक्त करते हैं। मज्झमनिकाय में बुद्धदेव कहते हैं, "हे महानाम ! मैं एक समय राजगृह में गृद्धकूट नामक पर्वत पर बिहार कर रहा था। उसी समय ऋषिगिरि के पास काल शिला (नामक पर्वत) पर बहुत से निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) आसन छोड़कर उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में प्रवृत्त थे। हे महानाम ! मैं सायंकाल के समय उन निर्ग्रन्थों के पास गया और उन से बोला, अहो निर्ग्रन्थ ! तुम आसन छोड़ उपक्रम कर क्यों ऐसी घोर तपस्या की वेदना का अनुभव कर रहे हो। हे महानाम ! जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे निर्ग्रन्थ इस प्रकार बोले :—अहो, निर्ग्रन्थ

---

1. At the time of Alexander, the Great's raid across the Indus (327–326 B. C.), the Digambaras were still numerous enough to attract the notice of the Greeks, who called them gymnosophists, "naked philosophers" a most appropriate name (Phil. of India by Dr. Zimmer, P. 210)

ज्ञातृ पुत्र (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं। हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते समस्त अवस्थाओं में सदैव उनका ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा है :— निर्ग्रन्थों! तुमने पूर्व (जन्म) में पाप कर्म किए हैं, उनकी इस घोर दुश्चर तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन, वचन और काय की संवृत्ति से (नये) पाप नहीं बंधते और तपस्या से पुराने पापों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार नये पापों के रुक जाने से कर्मों का क्षय होता है, कर्मक्षय से दुःखक्षय होता है। दुःखक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से सर्व दुःखों की निर्जरा हो जाती है।" इस पर बुद्ध कहते हैं कि "यह कथन हमारे लिए रुचिकर है और हमारे मन को ठीक जंचता है।" पाली रचना में आगत बुद्धदेव के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं, "तं च पन् अम्हाकं रुच्चति चेव खमति च तेन च अम्हा अत्तमना ति" (मज्झिमनिकाय, P. T. S. P. ९२-९३)। महावीर भगवान की सर्वज्ञता के प्रति बुद्धदेव की रुचि का भाव मनोवैज्ञानिक तथ्य विशेष पर आश्रित है, कारण राजा मिलिन्द के प्रश्न का उत्तर देते हुए बौद्ध भिक्षु नागसेन ने कहा है, "बुद्ध का ज्ञान सदा नहीं रहता था। जिस समय बुद्ध किसी बात का विचार करते थे, तब उस पदार्थ की ओर मनोवृत्ति जाने से उसे वे जान लेते थे।" (१) अतः सर्वकाल विद्यमान रहने वाले तीर्थंकर महावीर की सर्वज्ञता के प्रति उनकी स्पृहापूर्ण ममता स्वाभाविक है।

सर्वज्ञ होने के कारण इन तीर्थंकरों ने तत्व का सर्वांगीण बोध प्राप्तकर जीवों के हितार्थ जो मंगलमयी देशना दी, वह अलौकिक एवं मार्मिक है।

इस पुस्तक के लेखन में पूज्य १०८ आदिसागरजी दि० मुनिराज (दक्षिण) का आरा से मुद्रित लघुकाय ट्रेक्ट "त्रिकालवर्ती महापुरुष" मूल कारण है। सन् १९५८ में उक्त मुनि महाराज का सिवनी में चातुर्मास हुआ था। संशोधन हेतु उक्त मुनि महाराज ने अपना ट्रेक्ट हमें दिया। उस रचना की अपूर्णता

---

1 Venerable Nagasena, was the Buddha Omniscient ? Yes, O King, he was. But the insight of knowledge was not always and continously present with him. The Omniscience of the Blessed One was dependent on reflection. But if he did reflect, he knew whatever he wanted to know............(Sacred books of the East, Vol. XXXV P. 154—"Milinda-Panha")

देख हमने स्वतंत्र रूप से करीब चार सौ पृष्ठ की रचना बनाई। वह रचना मुनि महाराज को देते समय यह विचार उत्पन्न हुआ कि त्रिकालवर्ती चक्रवर्ती, कामदेव, नारायण, नारद आदि महापुरुषों के चरित्रादि में से यदि तीर्थंकर के विषय की बातों को पृथक करके परिवर्धन किया जाय तो तीर्थंकर रूप में स्वतंत्र रचना बन जायगी। इस विचार का ही यह परिणाम है, जो यह तीर्थंकर पुस्तक बन गई। इस रचना का अक्षरशः बहुभाग मुनि महाराज के नाम से छपी पुस्तक में निबद्ध हुआ है। इस विषय में भ्रम निवारणार्थ यह लिखना उचित जँचता है कि पूज्य मुनि महाराज ने हमारी इच्छानुसार ही अपनी संग्रह रूप पुस्तक में हमारी लिखी सामग्री का उपयोग किया है।

जब हम पंचकल्याणकों का वर्णन लिख रहे थे, तब हमारे पूज्य पिता सिंघई कुंवरसेनजी इसे बड़े प्रेम से सुना करते थे। इससे उनका हृदय बड़ा आनन्दित होता था। वे जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव के महान प्रेमी थे। उन्होंने बड़े-बड़े पंचकल्याणक महोत्सवों में भाग लिया था तथा बड़े-बड़े विघ्नों का अपने बुद्धि-कौशल द्वारा निवारण किया था। उनकी इच्छा भी थी कि शास्त्रोक्त पूर्ण विधिपूर्वक एक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा स्वयं करावें। उनकी जिनेन्द्र भक्ति अपूर्व थी। लगभग बीस वर्ष से वे समाधिमरण के लिए अभ्यास कर रहे थे। एक विशाल परिवार के प्रमुख व्यक्ति होते हुए भी उन्होंने धर्म पुरुषार्थ की साधना को मुख्यता दी थी। शास्त्र श्रवण, तत्वचिंतन तथा जिनेन्द्र नाम-स्मरण उनके मुख्य कार्य थे। वे मुझसे कहा करते थे, "बेटा! मेरा समाधिमरण करा देना।" मैंने भी कहा था, समय आने पर आपकी कामना पूर्ण करूँगा।

इस तीर्थंकर पुस्तक के प्रकाशन कार्य में शीघ्रता निमित्त मैं जबलपुर १७ मार्च सन् १९६० को गया; वहाँ तारीख २४ मार्च को टेलीफोन द्वारा समाचार मिला, बापाजी की तबियत विशेष खराब है; दस मिनिट के अनंतर वज्रपात तुल्य दूसरा फोन आया कि परम धार्मिक बापाजी का स्वर्गवास हो गया। पहले उन्होंने "जिया, समकित बिना न तरो, बहु कोटि यतन करो, जिया समकित बिना न तरो" यह भजन मेरे छोटे भाई अभिनंदन कुमार दिवाकर एम. ए., एल-एल. बी. एडवोकेट से सुना था; पश्चात् भक्तामर का पाठ सुना। इसके अनंतर सहस्रनाम पाठ सुनाया गया। वे परम शान्त भाव से धर्मामृत का रस पान कर रहे थे। सहस्रनाम का पुनः पाठ प्रारम्भ किया गया, कि सवा नौ बजे दिन को बापाजी ने जराजीर्ण देह को छोड़ दिया और अपूर्व समाधिमरण के प्रसाद से उन्होंने दिव्य शरीर को प्राप्त किया।

मैं जबलपुर से सिवनी आया, पिताजी नहीं मिले। उनका शरीर मात्र था; जो निश्चेष्ट था। शास्त्रोक्त बातें सामने आईं। "लाख कोड़ की धरी रहेगी, सङ्ग न जै है एक तगा, प्रभु सुमरन में मन लगा-लगा", यह भजन बापाजी गाया करते थे। सचमुच में चैतन्य ज्योति चली गई। शेष सभी पदार्थ जहाँ के तहाँ पड़े रह गए। उनके अंत समय में काम न आ पाया, यह विचार मन में मूक वेदना उत्पन्न करता है। अब क्या किया जा सकता है? मैंने सोचा कि यह तीर्थंकर ग्रन्थ उन परम प्रभावशाली, शास्त्रज्ञ एवं धार्मिक नररत्न की पावन स्मृति में ही प्रकाश में लाया जाय। तीर्थंकरत्व में कारणरूप षोडश कारण भावनाओं के प्रति उनकी महान तथा अपूर्व श्रद्धा थी। उनके लोकोपकारी जीवन में आदर्शधार्मिक गृहस्थ की अपूर्व विशेषताओं का सुन्दर सङ्गम था। अतः इस रचना को उनकी पुण्य स्मृति रूप में प्रकाश में लाना पूर्णतया उपयुक्त लगा।

जैन समाज के महान् विद्वान् तथा दिवंगत होने के पूर्व दिगम्बर मुद्रा को धारणकरने वाले सत्पुरुष पूज्य न्यायाचार्य क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी (१०८ मुनि गणेशकीर्ति जी महाराज) ने अपने पत्र में लिखा था:—"आपका कल्याणमय जीवन व्यतीत हो। आपके पिताजी तो बहुत ही योग्य पुरुष हैं।"

जैन समाज के उद्भट विद्वान्, अखिल भारत वर्षीय दि० जैन शास्त्रि परिषद के संरक्षक, विद्वद्रत्न सिद्धान्तमहोदधि, तर्करत्न पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य ने लिखा था, "आपके पूज्य पिताजी बड़े प्रतिभाशाली, धार्मिक, वीर पुरुष थे। जैन विद्वानों से अक्षुण्ण प्रमाद भावना रखते थे। समाज में अनेक कार्य कर विशेष ख्याति प्राप्त कर चुके थे। ऐसे नर-रत्न को धन्य है। ऐसे महान् नर श्रेष्ठ अब कहाँ हैं?"

यह पुस्तक लिखते समय छोटे भाई शांतिलाल दिवाकर के चिरंजीव ऋषभकुमार ने बहुत सहायता दी। धर्मप्रिय ऋषभ प्रतिभासम्पन्न बालक है। उसने लेखनकार्य में बहुत परिश्रमपूर्वक अपूर्व सहयोग दिया। छोटे भाई प्रोफेसर सुशीलकुमार एम० ए० बी० काम० एल-एल० बी० ने मुद्रण-व्यवस्था, प्रूफ देखना, महत्वपूर्ण सुझाव देना आदि कार्यों द्वारा उल्लेखनीय सहयोग दिया है। भाई श्रेयांसकुमार बी० एस० सी० ने भी उचित सहायता दी है। इस प्रकार के सहयोग द्वारा यह संस्करण प्रकाश में आ सका।

दिवाकर सदन
सिवनी (म. प्र.)
१ जुलाई १९६०

सुमेरुचन्द दिवाकर

'जयउ सुयदेवदा'

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

इस रचना के प्रति विद्वानों, त्यागियों तथा जनसाधारण ने अपना आशातीत प्रेमभाव व्यक्त किया, जिसके परिणामस्वरूप दो वर्ष के भीतर ही प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। लोगों की माँग बहुत होने से इसके पुनः मुद्रण के लिए उद्योग करना पड़ा। समस्त रचना की बारीकी से जाँच करके अनेक आवश्यक संशोधन और परिवर्तन किए। इस कार्य में चि० ऋषभकुमार दिवाकर ने, जो इस समय बी० ए० का विद्यार्थी है, बहुत परिश्रमपूर्वक महत्वपूर्ण सहायता दी है। हमारे छोटे भाई प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर एम० ए० बी० काम० एल० एल० बी०, हेड ऑफ दी डिपार्टमेंट ऑफ कामर्स, जबलपुर विश्वविद्यालय ने भी महत्वपूर्ण सहयोग दिया। हम साहित्यिक सेवा आर्थिक लाभ की दृष्टि से न कर उसे आत्म-कल्याण और लोकसेवा का अत्यन्त पवित्र साधन मानते हैं। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ के प्रकाशन तथा प्रचार हेतु निम्नलिखित जैनागम के प्रसार प्रेमी बन्धुओं ने सहर्ष आर्थिक सहायता दी :—

(१) श्री मदनलाल जी काला ने (फर्म श्री छोगमल जी रतनलाल जी, कलकत्ता) अपने धार्मिक पिता श्री भँवरलालजी काला की स्मृति में निर्मित ट्रस्ट से १५०० रु०

(२) सेठ प्रेमसुख पन्नालाल जी काला फर्म के मालिक गुरुभक्त किशनलालजी काला कलकत्ता ने ५०० रु०

(३) सेठ भँवरीलालजी बाकलीवाल, अध्यक्ष भा० व० दि० जैन महासभा, इम्फाल, मणिपुर स्टेट ने ५०० रु०

इस दानशीलता और औदार्य के लिए उनको धन्यवाद है।

इस संस्करण के प्रकाशन में सिंघई प्रेस के व्यवस्थापक भाई अमृतलाल जी परवार ने विशेष रुचि ली। अतः मैं उनके प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ।

दिवाकर सदन, सिवनी म० प्र०
२३ अगस्त १९६४, रक्षाबंधन

सुमेरुचन्द दिवाकर

तीर्थंकर

जब जगत् म अन्धकार का अखण्ड साम्राज्य छा जाता है, तब नेत्रों की शक्ति कुछ कार्य नहीं कर पाती है । अन्धकार, नेत्रयुक्त मानव को भी अन्ध सदृश बना देता है। इस पौद्‌गलिक अन्धकार से गहरी अंधियारी मिथ्यात्व के उदय से प्राप्त होती है । उसके कारण यह ज्ञानवान् जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है। मोहनीय कर्म के आदेशानुसार यह निन्दनीय कार्य करता फिरता हैं। जड़ शरीर में यह मिथ्यात्वांध व्यक्ति आत्म-बुद्धि धारण करता है। जब इसे कोई सत्पुरुष समझाते हैं कि तुम चैतन्यपुञ्ज ज्ञायक स्वभाव आत्मा हो, शरीर का तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं है, तो यह अविवेकी उस वाणी को विष समान समझता है ।

धर्म-सूर्य

सूर्योदय होते ही अन्धकार का क्षय होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर रूपी धर्म-सूर्य के उदय होते ही जगत् में प्रवर्धमान मिथ्यात्व का अन्धकार भी अंतःकरण से दूर होकर प्राणी में निजस्वरूप का अवबोध होने लगता है।

किन्हीं की मान्यता है कि शुद्ध अवस्था प्राप्त परमात्मा मानवादि पर्यायों में अवतार धारण करता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध होने पर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार राग-द्वेष, मोह आदि विकारों के बीज के आत्म-समाधि रूप अग्नि से नष्ट होने पर परम पद को प्राप्त आत्मा का राग-द्वेष पूर्ण दुनियाँ में पुनः आना है। सर्वदोषमुक्त जीव द्वारा मोहमयी प्रदर्शन उचित नहीं कहा जायगा ।

उदय-काल

इस स्थिति में आचार्य रविषेण एक मार्मिक तथा सुयुक्ति समर्थित बात कहते हैं कि जब जगत् में धर्म-ग्लानि बढ़ जाती है, सत्पुरुषों को कष्ट उठाना पड़ता है तथा पाप-बुद्धि वालों के पास विभूति का उदय होता है, तब तीर्थंकर रूप महान् आत्मा उत्पन्न होकर सच्चे आत्म-धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाकर जीवों को पाप से विमुख बनाते हैं। उन्होंने पद्मपुराण में लिखा है—

> आचाराणां विघातेन कुदृष्टीनां च संपदा।
> धर्मग्लानिं परिप्राप्त मुच्छयन्ते जिनोत्तमाः ।।५—२०६।।

जब उत्तम आचार का विघात होता है, मिथ्याधर्मियों के समीप श्री की वृद्धि होती है, सत्य धर्म के प्रति घृणा निरादर का भाव उत्पन्न होने लगता है, तब तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और सत्य धर्म का उद्धार करते हैं।

तीर्थ का स्वरूप

इस तीर्थंकर शब्द के स्वरूप पर विचार करना उचित है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है, "तीर्थमागमः तदाधारसंघश्च" अर्थात् जिनेन्द्र कथित आगम तथा आगम का आधार साधुवर्ग तीर्थ है। तीर्थ शब्द का अर्थ घाट भी होता है। अतएव "तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः" का भाव यह होगा कि जिनकी वाणी के द्वारा सँसार सिंधु से जीव तिर जाते हैं, वे तीर्थ के कर्त्ता तीर्थंकर कहे जाते हैं। सरोवर में घाट बने रहते हैं, उस घाट से मनुष्य सरोवर के बाहर सरलतापूर्वक आ जाता है; इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के द्वारा प्रदर्शित रत्नत्रय पथ का अवलम्बन लेने वाला जीव संसार-सिन्धु में न डूब कर चिन्तामुक्त हो जाता है।

तीर्थ के भेद

मूलाचार में तीर्थ के दो भेद कहे हैं—एक द्रव्य तीर्थ,

दूसरा भाव तीर्थ। द्रव्य तीर्थ के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

दाहोपसमण-तण्हा-छेदो-मलपंकपवहणं चेव।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं॥५५६॥

द्रव्य तीर्थ में ये तीन गुण पाए जाते हैं। प्रथम तो सन्ताप शान्त होता है, द्वितीय तृष्णा का विनाश होता है तथा तीसरे मल-पंक की शुद्धि होती है। इस कारण आचार्य ने "सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं"—शास्त्र रूप धर्म को तीर्थ कहा है। जिनवाणी रूप गंगा में अवगाहन करने से संसार का सन्ताप शान्त होता है, विषयों की मलिनता का निवारण होता है। अतएव जिनवाणी को द्रव्य तीर्थ कहना उचित है। श्रुत तीर्थ स्वरूप जिनवाणी के विषय में भागचंद जी का यह भजन बड़ा मार्मिक है :—

साँची तो गङ्गा यह वीतराग वानी,
अविच्छिन्न धारा निजधर्म की कहानी ॥टेक॥

जामें अति ही विमल अगाध ज्ञान पानी।
जहाँ नहीं संशयादि पंक की निशानी ॥१॥

सप्तभङ्ग जहँ तरङ्ग उछलत सुखदानी।
संत चित्त मराल वृन्द रमें नित्य ज्ञानी ॥२॥

कवि के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं :—

जाके अवगाहन तें शुद्ध होय प्रानी।
भागचंद निहचै घट माँहि या प्रमानी ॥३॥

सरस्वती पूजन में कहा है—

इह जिणवर वाणि विसुद्ध मई,
जो भवियण णिय मण धरई।
सो सुर-णरिंद-संपइ लहइ,
केवलणाण वि उत्तरई॥

जो विशुद्ध बुद्धि भव्य जीव इस जिनवाणी को अपने मन में स्थान देता है, वह देवेन्द्र तथा नरेन्द्र की विभूति प्राप्त करते हुए

केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

जिनेन्द्र भगवान को भाव तीर्थ कहा है—

दंसण-णाण-चरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेपि।
तिहि कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदो तित्थं ॥५६०॥मू० आ०

सभी जिनेन्द्र भगवान सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चरित्र संयुक्त हैं। इन तीन कारणों से युक्त हैं, इससे जिन भगवान भाव तीर्थ हैं।

जिनेन्द्र वाणी के द्वारा जीव अपनी आत्मा को परम उज्ज्वल बनाता है। ऐसी रत्नत्रय भूषित आत्मा को भाव तीर्थ है। जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थंकर के समीप में षोडश कारण भावना को भाने वाला सम्यक्त्वी जीव तीर्थंकर बनता है। रत्न-त्रय-भूषित जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थ के द्वारा अपवित्र आत्मा भी पवित्रता को प्राप्त कर जगत् के सन्ताप को दूर करने में समर्थ होती है। इन जिनदेव रूप भाव तीर्थ के द्वारा प्रवर्धमान आत्मा तीर्थंकर बनती है और पश्चात् श्रुत-रूप तीर्थ की रचना में निमित्त होती है।

धर्म-तीर्थंकर

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है इससे उनको धर्म तीर्थंकर कहते हैं। मूलाचार के इस अत्यन्त भाव पूर्ण स्तुति-पद्य में भगवान को धर्म तीर्थंकर कहा है—

लोगुज्जोयरा धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरंहते ॥
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥५३९॥

जगत् को सम्यकज्ञान रूप प्रकाश देने वाले धर्म तीर्थ के कर्ता, उत्तम, जिनेन्द्र, अर्हन्त केवली मुझे विशुद्ध बोधि प्रदान करें अर्थात् उनके प्रसाद से रत्न-त्रय-धर्म की प्राप्ति हो।

तीर्थंकर शब्द का प्रयोग

तीर्थंकर शब्द का प्रयोग भगवान महावीर के समय में

अन्य सम्प्रदायों में भी होता था, यद्यपि प्रचार तथा रूढ़िवश तीर्थंकर शब्द का प्रयोग जिनेन्द्र भगवान के लिये किया जाता है । जैन शास्त्रों में भी तीर्थंकर शब्द का प्रयोग श्रेयांस राजा के साथ करते हुए उनको दान-तीर्थंकर कहा है ।* अतएव तीर्थंकर शब्द के पूर्व में धर्म शब्द को लगा कर धर्म तीर्थंकर रूप में जिनेन्द्र का स्मरण करने की प्रणाली प्राचीन है।

साधन रूप सोलह भावनाएँ

समीचीन धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य समंतभद्र ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप धर्म है, जिससे जीव संसार के दुःखों से छूटकर श्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त करता है । इस धर्म तीर्थ के कर्ता इस अवसर्पिणी काल की अपेक्षा वृषभदेव आदि महावीर पर्यन्त चौबीस श्रेष्ठ महापुरुष हुए हैं । तीर्थंकर का पद किसी की कृपा से नहीं प्राप्त होता है । पवित्र सोलह प्रकार की भावनाओं तथा उज्ज्वल जीवन के द्वारा कोई पुण्यात्मा मानव तीर्थंकर पद प्रदान करने में समर्थ तीर्थंकर प्रकृति नाम के पुण्य कर्म का बंध करता है । यह पद इतना अपूर्व है कि दस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण इस अवसर्पिणी काल में केवल चौबीस ही तीर्थंकरों ने अपने जन्म द्वारा इस भारत क्षेत्र को पवित्र किया है । असंख्य प्राणी रत्नत्रय की समाराधना द्वारा अर्हन्त होते हुए सिद्ध पदवी को प्राप्त करते हैं, किन्तु भरत क्षेत्र में तीर्थंकर रूप में जन्म धारण करके मोक्ष जाने वाले महापुरुष चौबीस ही होते हैं । ऐरावत क्षेत्र में भी यही स्थिति है ।

---

*जिनसेन स्वामी ने महापुराण में बताया है कि ऋषभ भगवान को आहार देने के पश्चात् चक्रवर्ती भरत द्वारा राजा श्रेयांस के लिये दानतीर्थंकर तथा महापुण्यवान् शब्द कहे गए थे । ग्रन्थकार कहते हैं—
त्वं दानतीर्थकृत् श्रेयान् त्वं महापुण्यभागसि ।। पर्व २०, १२८ महापुराण ।।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारण ये सोलह भावनाएं आगम में कही गई हैं; दर्शन-विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शील तथा व्रतों का निरतिचार रूप से पालन करना, अभीक्ष्ण अर्थात् निरन्तर ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितः त्याग, शक्तितः तप, साधु-समाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हंत-भक्ति, आचार्य-भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, प्रवचन-भक्ति, आवश्यकापरिहाणि अर्थात् आत्मा को निर्मल बनाने वाले आवश्यक नियमों के पालन में सतत सावधान रहना, रत्नत्रय धर्म को प्रकाश में लाने रूप मार्ग प्रभावना तथा प्रवचनवत्सलत्व अर्थात् साधर्मी बन्धुओं में गो-वत्स सम प्रीति धारण करना। इन सोलह प्रकार की श्रेष्ठ भावनाओं के द्वारा श्रेष्ठ पद तीर्थंकरत्व की प्राप्ति होती है।

महाबंध ग्रंथ में तीर्थंकर प्रकृति का तीर्थंकर-नाम-गोत्रकर्म कहकर उल्लेख किया गया है, यथा—"एदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयरणामागोदं कम्मं बंधदि" (ताम्रपत्र प्रति पृष्ठ ५)। उस महाबंध के सूत्र में सोलह कारणभावनाओं के नामों का इस प्रकार कथन आया है—

कदिहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामागोद-कम्मं बंधदि ? तत्थ इमेणाहि सोलसकारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधदि। दंसणविसुज्झदाए, विणयसंपण्णदाए, सीलवदेसु णिरदिचारदाए, आवासएसु अपरिहीणदाए 'खणलव पडिबुज्झण (सुदा) दाए', लद्धिसंवेग-संपण्णदाए अरहंतभत्तीए, बहुसुदभत्तीए, पवयणभत्तीए, पवयणवच्छलदाए, पवयणप्पभावणदाए, अभिक्खणं णाणोपजुत्तदाए।

उपरोक्त नामों में प्रचलित भावनाओं से तुलना करने पर विदित होगा कि यहाँ आचार्य-भक्ति का नाम न गिनकर उसके स्थान में खणलव-पडिबुज्झणदा भावना का संग्रह किया गया है। इसका अर्थ है—क्षण में तथा लव में अर्थात् क्षण-क्षण में अपने रत्नत्रय धर्म के कलंक का प्रक्षालन करते रहना क्षणलव-प्रतिबोधनता है।

इन सोलह कारणों के द्वारा यह मनुष्य धर्म तीर्थंकर जिन केवली होता है। कहा भी है—जस्स इणं कम्मस्स उदयेण सदेवासुर-

माणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा वंदणिज्जा णमंसणिज्जा धम्म-तित्थयरा जिणा केवली (केवलिणो) भवंति।

तीर्थंकर प्रकृति के बंधक

जिस तीर्थंकर प्रकृति के उदय से देव, असुर तथा मानवादि द्वारा वन्दनीय तीर्थंकर की पदवी प्राप्त होती है, उस कर्म का बंध तीनों प्रकार के सम्यक्त्वी करते हैं। सम्यक्त्व के होने पर ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। किन्हीं आचार्यं का कथन है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल अंतर्मुहूर्त प्रमाण अल्प है। उसमें सोलह भावनाओं का सद्भाव सम्भव नहीं है। अतः उसमें तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होगा।

यह भी बात स्मरण योग्य है, कि इसका बंध मनुष्यगति में ही केवली अथवा श्रुतकेवली के चरणों के समीप प्रारम्भ होता है। तित्थयरबंध-पारंभया णरा केवली-दुगंते। (९३ गो० कर्मकांड) इस प्रकृति का बंध तिर्यंच गति को छोड़ शेष तीन गतियों में होता है। इसका उत्कृष्टपने से अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष न्यून दो कोटि पूर्व अधिक तेतीस सागर प्रमाण काल पर्यन्त बन्ध होता है। केवली श्रुतकेवली का सानिध्य आवश्यक कहा है, क्योंकि तदन्यत्र तादृग्विशुद्धिविशेषासंभवात्" उनके सानिध्य के सिवाय वैसी विशुद्धता का अन्यत्र अभाव है।

नरक की प्रथम पृथ्वी में तीर्थंकर प्रकृति का बंध पर्याप्त तथा अपर्याप्त अवस्था में होता है। दूसरी तथा तीसरी पृथ्वी में इस प्रकृति का बंध अपर्याप्ति काल में नहीं होता है। कहा भी है—

घम्मे तित्थं बंधति वंसामेघाटण पुण्णगो चेव ॥१०६॥गो० कर्म०

गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ३६ में लिखा है कि तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध अविरत सम्यक्त्वी के होता है। "तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ"। इसकी संस्कृत टीका में लिखा है: "तीर्थंकरं उत्कृष्ट-स्थितिकं नरकगति-गमनाभिमुख-मनुष्यासंयत

सम्यग्दृष्टिरेव बध्नाति" (बड़ी टीका पृ० १३४)—उत्कृष्ट स्थिति सहित तीर्थंकर प्रकृति को नरक गति जाने के उन्मुख असंयत सम्यक्त्वी मनुष्य बाँधता है, कारण उसके तीव्र संक्लेश भाव रहता है। उत्कृष्ट स्थिति बंध के लिये तीव्र संक्लेश युक्त परिणाम आवश्यक है। नरक गति में गमन के उन्मुख जीव के तीव्र संक्लेश के कारण तीर्थंकर रूप शुभ प्रकृति का अल्प अनुभाग बंध होगा क्योंकि "सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण" (१६३)—शुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग बंध विशुद्ध भावों से होता है तथा अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग बंध संक्लेश से होता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान के छठवें भाग तक शुद्धोपयोगी तथा शुक्लध्यानी मुनिराज के इस तीर्थंकर रूप पुण्य प्रकृति का बंध होता है। वहाँ इसका उत्कृष्ट अनुभाग बंध पड़ेगा। स्थिति बंध का रूप विपरीत होगा अर्थात् वह न्यून होगा।

सोलह कारण भावनाओं में दर्शनविशुद्धि की मुख्यता मानी गई है। पं० आशाधर जी ने सागारधर्मामृत अध्याय ८ के ७३वें श्लोक की टीका में लिखा है—"एकया-असहायया विनयसंपन्नतादि-तीर्थंकरत्वकारणान्तर-रहितया, दृग्विशुध्या श्रेणिको नाम मगध महामंडलेश्वरो तीर्थंकृत धर्म-तीर्थंकरः भविता भविष्यति"। अर्थात् विनय-संपन्नतादि तीर्थंकरत्व के कारणान्तरों से रहित केवल एक दर्शन विशुद्धि के द्वारा श्रेणिक नामक मगधवासी महामंडलेश्वर धर्म-तीर्थंकर होंगे।

भिन्न-दृष्टि

उत्तरपुराण में प्रकृत प्रसंग पर प्रकाश डालने वाली एक भिन्न दृष्टि पाई जाती है। वहाँ पर्व ७४ में श्रेणिक राजा ने गणधरदेव से पूछा है, मेरी जैन धर्म में बड़ी भारी श्रद्धा प्रगट हुई है तथापि मैं व्रतों को क्यों नहीं ग्रहण कर सकता? उत्तर देते हुए गणधरदेव ने कहा—तुमने नरकायुका बंध किया है। यह नियम है कि देवायु के

बंध को छोड़कर अन्य आयु का बंध करनेवाला फिर व्रतों को स्वीकार नहीं कर सकता। इसी कारण तुम व्रत धारण नहीं कर सकते। हे महाभाग! आज्ञा, मार्ग, बीज आदि दस प्रकार की श्रद्धाओं में से आज तुम्हारे कितनी ही श्रद्धाएं विद्यमान हैं। इनके सिवाय दर्शन-विशुद्धि आदि शास्त्रों में कहे हुए जो सोलह कारण हैं, उनमें से सब या कुछ कारणों से यह भव्यजीव तीर्थंकर नाम कर्म का बंध करता है। इनमें से दर्शनविशुद्धि आदि कितने ही कारणों से तू तीर्थंकर नामकर्म का बंध करेगा। मर कर रत्नप्रभा नरक में जायगा और वहाँ से आकर उत्सर्पिणी काल में महापद्म नामक प्रथम तीर्थंकर होगा। ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार हैं—

> एतास्वपि महाभाग तव संत्यद्य कानचन।
> दर्शनाद्यागमप्रोक्त-शुद्ध-षोडशकारणैः ॥४५०॥—७४॥
>
> भव्यो व्यस्तैः समस्तैश्च नामत्मीकुरुतेतिमम्।
> तेषु श्रद्धादिभिः कैश्चिद् तन्नामकारणैः ॥४५१॥
>
> रत्नप्रभां प्रविष्टः संस्तत्फलं मध्यमायुषा।
> भुक्त्वा निर्गत्य भव्यास्मिन् महापद्माख्य-तीर्थंकृत ॥४५२॥

इस विषय में तत्वार्थ-श्लोकवार्तिकालंकार का यह कथन ध्यान देने योग्य है। विद्यानंदि-स्वामी कहते हैं—

> दृग्विशुध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्वस्य हेतवः।
> समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुध्या समन्विताः ॥पृष्ठ ४५६—पद्य १७॥

दर्शनविशुद्धि आदि तीर्थंकर नाम कर्म के कारण हैं, चाहे वे सभी कारण हों या पृथक्-पृथक् हों किन्तु उनको दर्शन विशुद्धि समन्वित होना चाहिये। वे इसके पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति के विषय में बड़े गौरवपूर्ण शब्द कहते हैं—

> सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् ॥१८॥

वह पुण्य तीन लोक का अधिपति बनाता है। वह पुण्य सर्वश्रेष्ठ है।

दर्शनविशुद्धि आदि भावनाएं पृथक् रूप में तथा समुदाय

रूप में तीर्थंकर पद की प्राप्ति में कारण हैं, ऐसा भी अनेक स्थलों में उल्लेख आता है, यथा हरिवंश पुराण में कहा है—

तीर्थंकरनामकर्माणि षोडश-तत्कारणान्यमूनि ।
व्यस्तानि समस्तानि भवंति सद्भाव्यमानानि ॥

अकलंक स्वामी राजवार्तिक में लिखते हैं :—

तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च । तीर्थंकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि ॥ अध्याय ६, सूत्र २४, पृष्ठ २६७॥

इन भावनाओं में दर्शनविशुद्धि का स्वरूप विचार करने पर उसकी मुख्यता स्पष्ट रूप से प्रतिभासमान होती है । तीर्थंकर-प्रकृति रूप धर्म-कल्पतरु पूर्ण विकसित होकर सुख रूप सुमधुर फलों से समलंकृत होते हुए अगणित भव्यों को अवर्णनीय आनन्द तथा शान्ति प्रदान करता है, उस कल्पतरु की बीजरूपता का स्पष्टरूप से दर्शन प्रथम भावना में होता है ।

दर्शन-विशुद्धि में आगत 'दर्शन' शब्द सम्यग्दर्शन का वाचक है । दर्शन का अर्थ है वे पुण्यप्रद उज्ज्वल भाव, जिनका संक्लेश की कालिमा से सम्बन्ध न हो, कारण विशुद्धभाव से शुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग पड़ता है और संक्लेश परिणामों से पाप प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग पड़ता है (गो० कर्मकाण्ड गाथा १६३)

इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखना उचित है कि तीर्थंकर प्रकृति के बंध रूप बीज बोने का कार्य *केवली-श्रुतकेवली के पादमूल अर्थात् चरणों के समीप होता है । भरत क्षेत्र में इस काल में अब उक्त साधन युगल का अभाव होने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध

---

*श्रुत केवली के निकट भी षोडशकारण भावनाएँ भाई जा सकती हैं । यदि षोडशकारणभावना भाने वाला स्वयं श्रुतकेवली हो, तो उसे अन्य श्रुतकेवली का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक नहीं होगा । जिसका सानिध्य अन्य व्यक्ति को तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने में सहायक हो सकता है, वह स्वयं उस प्रकृति का बंध नहीं कर सकेगा, ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता ।

नहीं हो सकता है।

केवली के चरणों की समीपता का क्या कारण है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि उन जिनेन्द्र की दिव्य वाणी के प्रसाद से देव, मनुष्य, पशु सभी जीवों को धर्म का अपूर्व लाभ होता है। यह देखकर किसी महाभाग के हृदय में ऐसे अत्यन्त पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं कि मिथ्यात्वरूप महा अटवी में मोह की दावाग्नि जलने से अगणित जीव मर रहे हैं, उनके अनुग्रह करने की प्रभो ! आपके समान क्षमता, शक्ति तथा सामर्थ्य मेरी भी आत्मा में उत्पन्न हो, जिससे मैं सम्पूर्ण जीवों को आत्मज्ञान का अमृत पिलाकर उनको सच्चे सुख का मार्ग बता सकूं। इस प्रकार की विश्वकल्याण की प्रबल भावना के द्वारा सम्यक्त्वी जीव तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है।

विनय-सम्पन्नता, अर्हन्त भक्ति, आचार्य भक्ति, प्रवचन-भक्ति, मार्ग प्रभावना, प्रवचन वात्सल्य सदृश अनेक भावनाएँ सम्यक्त्वके होने पर सहज ही उसके अङ्ग रूप में प्राप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार अक्षरहीन मन्त्र विष वेदना को दूर नहीं कर सकता है, इसी प्रकार अङ्गहीन सम्यक्त्व भी जन्म संतति का क्षय नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में सम्यक्त्व यदि साँगोपाँग हो तथा उसके साथ सर्व जीवों को सम्यक्ज्ञानामृत पिलाने की विशिष्ट भावना या मङ्गल कामना प्रबल रूप से हो जाय, तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। दर्शन विशुद्धि भावना परिपूर्ण होने पर अनेक भावनाएं अस्पष्ट रूप से उसकी सहचरी रूप में आ जाती हैं। यदि सहचरी रूप भावनाओं के निरूपण को गौण बनाकर कथन किया जाय, तो तीर्थंकर पद में कारण दर्शन-विशुद्धि को भी (मुख्य मानकर) कहा जा सकता है।

श्रेणिक राजा का उदाहरण

इस प्रसङ्ग में पहले महामंडलेश्वर राजा श्रेणिक का उदाहरण

आ चुका है। श्रेणिक महाराज अव्रती थे, क्योंकि वे नरकायुका बंध कर चुके थे। वे क्षायिक सम्यक्त्वी थे। उनके दर्शन-विशुद्धि भावना थी, यह कथन भी ऊपर आया है। महावीर भगवान का सानिध्य होने से केवली का पादमूल भी उनको प्राप्त हो चुका था। उनमें शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, आवश्यकापरिहाणि, शील-व्रतों में निरतिचारता सदृश संयमी जीवन से सम्बन्धित भावनाओं को स्वीकार करने में कठिनता आती है, किन्तु अर्हन्तभक्ति, गणधरादि महान् गुरुओं का श्रेष्ठ सत्सङ्ग रहने से आचार्य-भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, प्रवचन-भक्ति, मार्ग-प्रभावना, प्रवचन-वत्सलत्व सदृश सद्‌गुणों का सद्भाव स्वीकार करने में क्या बाधा है? ये तो भावनाएं सम्यक्त्व की पोषिकाएं हैं। क्षायिक सम्यक्त्वी के पास इनका अभाव होगा, ऐसा सोचना तक कठिन प्रतीत होता है। अतएव दर्शन-विशुद्धि की विशेष प्रधानता को लक्ष्य में रख कर उसे कारणों में मुख्य माना गया है। इस विवेचन के प्रकाश में प्रतीयमान विरोध का निराकरण करना उचित है।

सम्यग्दर्शन तथा दर्शन-विशुद्धि भावना में भेद

इतनी बात विशेष है, सम्यग्दर्शन और दर्शन-विशुद्धि-भावना में भिन्नता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का विशेष परिणाम है। वह बंध का कारण नहीं हो सकता। इसके सद्भाव में एक लोक-कल्याण की विशिष्ट भावना उत्पन्न होती है, उसे दर्शन-विशुद्धि-भावना कहते हैं। यदि दोनों में अन्तर न हो, तो मलिनता आदि विकारों से पूर्णतया उन्मुक्त सभी क्षायिक सम्यक्त्वी तीर्थंकर प्रकृति के बंधक हो जाते, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः यह मानना तर्क सङ्गत है, कि सम्यक्त्व के साथ में और भी विशेष पुण्य-भावना का सद्भाव आवश्यक है, जिस शुभ राग से उस प्रकृति का बंध होता है।

आगम में कहा है कि तीनों सम्यक्त्वों में तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है, अतः यह मानना उचित है कि सम्यक्त्व रूप

आत्मनिधि के स्वामी होते हुए भी लोकोद्धारिणी, शुभराग रूप विशुद्ध-भावना का सद्भाव आवश्यक है। उसके बिना क्षायिक सम्यक्त्वी भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकेगा।

क्षायिक सम्यक्त्व मात्र यदि तीर्थंकर प्रकृति का कारण होता, तो सिद्ध पदवी की प्राप्ति के पूर्व सभी केवली तीर्थंकर होते, क्योंकि केवलज्ञानी बनने के पूर्व क्षपक श्रेणी आरोहण करते समय क्षायिक सम्यक्त्वी होने का अनिवार्य नियम है। भरत क्षेत्र में एक अवसर्पिणी में चौबीस ही तीर्थंकर हुए हैं। इतनी अल्पसंख्या ही तीर्थंकर प्रकृति की लोकोत्तरता को स्पष्ट करती है। क्षायिक सम्यक्त्वी होने मात्र से यदि तीर्थंकर पदवी प्राप्त होती, तो महावीर तीर्थंकर के समवशरण में विद्यमान ७०० केवली सामान्य केवली न होकर तीर्थंकर केवली हो जाते; किन्तु ऐसा नहीं होता। एक तीर्थंकर के समवशरण में दूसरे तीर्थंकर का सद्भाव नहीं होता। एक स्थान पर एक ही समय जैसे दो सूर्य या दो चन्द्र प्रकाशित नहीं होते, उसी प्रकार दो तीर्थंकर एक साथ नहीं पाए जाते हैं।

हरिवंशपुराण में कहा है—

नान्योन्यदर्शनं जातु चक्रिणां धर्मचक्रिणाम्।
हलिनां वासुदेवानां त्रैलोक्यप्रतिचक्रिणाम् ।।सर्ग ५४–५९।।

चक्रवर्ती, धर्मचक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव इनका और अन्य चक्रवर्ती, धर्मचक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव का क्रमशः परस्पर दर्शन नहीं होता है।

तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव का प्रभाव

तीर्थंकर प्रकृति का उदय केवली अवस्था में होता है। "तित्थं केवलिणि" यह आगम का वाक्य है। यह नियम होते हुए भी तीर्थंकर भगवान के गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक तथा तपकल्याणक रूप कल्याणकत्रय तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव मात्र से होते हैं। होनहार तीर्थंकर के गर्भकल्याणक के छह माह पूर्व ही विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर

होने लगता है। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में पंचकल्याणक वालेही तीर्थंकर होते हैं। वे देवगति से आते हैं या नरक से भी चयकर मनुष्य पदवी प्राप्त करते हैं। तिर्यंच पर्याय से आकर तीर्थंकर रूप से जन्म नहीं होता है। तिर्यंचों में तीर्थंकर प्रकृति के सत्व का निषेध है। "तिरिये ण तित्थसत्तं" यह वाक्य गोम्मटसार कर्मकांड (३४५ गा०) में आया है।

पंचकल्याणक वाले तीर्थंकर

पंचकल्याणक वाले तीर्थंकर मनुष्य पर्याय से भी चयकर नहीं आते। वे नरक या देवगति से आते हैं। अपनी पर्याय परित्याग के छह माह शेष रहने पर नरक में जाकर देव होनहार तीर्थंकर के असुरादि कृत उपसर्ग का निवारण करते हैं। स्वर्ग से आने वाले देव के छह माह पूर्व माला नहीं मुरझाती है। त्रिलोकसार में कहा है—

> तित्थयरसंतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंति सुरा।
> छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाणमालंका ॥१९५॥

भरत क्षेत्र सम्बन्धी वर्तमान चौवीस तीर्थंकर स्वर्ग-सुख भोग कर भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे। इनमें नरक से चयकर कोई नहीं आए। आगामी तीर्थंकर भगवान महापद्म, अभी प्रथम नरक में चौरासी हजार वर्ष की आयु धारण कर नरक पर्याय में हैं। वे नरक से चयकर उत्सर्पिणी काल के आदि-तीर्थंकर होंगे।

नरक से निकलकर आने वाली आत्मा का तीर्थंकर रूप में विकास तत्वज्ञों को बड़ा मधुर लगता है, किन्तु भक्त-हृदय को यह ज्ञातकर मनोव्यथा होती है, कि हमारे भगवान नरक से आवेंगे। ईश्वर कर्तृत्व सिद्धान्त मानने वालों को तो यह कहकर सन्तुष्ट किया जा सकता है कि नरक के दुःखों का प्रत्यक्ष परिचयार्थ तथा वहाँ के जीवों के कल्याण निमित्त परम कारुणिक प्रभु ने वराहावतार धारणादि के समान नरकावतार रूपता अङ्गीकार की, किन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त समाधान असम्यक् है। ऐसी

स्थिति में उपरोक्त समस्या पर इस दृष्टि से विचार करना तर्कपूर्ण प्रतीत होता है।

स्वर्ग या नरक गमन का कारण

जीव विशुद्ध भावों से पुण्य का संचय कर स्वर्ग जाता है तथा संक्लेश परिणामों के कारण पाप का संग्रह कर नरक जाता है। पुण्य-कर्म को उदयावली द्वारा क्षय करने के लिये जैसे होनहार तीर्थंकर का स्वर्गगमन सुसङ्गत है, उसी न्यायानुसार संचित पाप राशि को उपभोग द्वारा क्षय करने के लिये नरक पर्याय में जाना भी तर्क पूर्ण है। मोक्ष को प्राप्त करने के हेतु संचित पुण्य एवं पाप का क्षय आवश्यक है।

जो लोग सम्यक्त्व की अपूर्व महिमा से परिचित हैं, उनकी दृष्टि में इन्द्रिय जनित स्वर्ग का सुख तथा नरक के दु:ख समान रूप से अनात्म भाव हैं। आत्मसुख का अनुभव करने वाला सम्यक्त्वी जीव हीनावस्था में भी तत्वत: दु:खी नहीं रहता है। सम्यक्त्वी जीव अपने को मनुष्य, देव, नारकी आदि न सोचकर ज्ञानमयी आत्मा अनुभव करता है।

तत्वज्ञानी आचार्य अमितगति के शब्दों में वह सोचता है, मेरी आत्मा अकेली है। उसका विनाश नहीं होता। वह मलिनता रहित है, ज्ञान स्वरूपवाली है। शेष समस्त पदार्थ मेरी आत्मा से जुदे हैं। कर्म की विविध विपाकरूप अवस्थाए मेरी नहीं हैं। वे कुछ काल तक टिकनेवाली हैं।

इस आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर इन्द्रियजनित दु:ख के समान इन्द्रियजन्य सुख की स्थिति का बोध होता है। अत: तीर्थंकर चाहे नरक से आकर नरपर्याय धारण करें, चाहे सुर पदवी के पश्चात् मानव देह को प्राप्त करें उनके तीर्थंकरत्व में कोई क्षति नहीं पहुचती है। आचार्य श्री १०८ शांतिसागर महाराज ने एक बार हमसे कहा था, सम्यक्त्व के सद्भाव में चाहे जीव किसी भी पर्याय म रहे, उसकी

आध्यात्मिक शाँति में कोई बाधा नहीं आती। उन्होंने एक सुन्दर दृष्टांत दिया था; एक व्यक्ति सुवर्ण पात्र में रखकर अमृत सदृश मधुर भोजन करता है और दूसरा मृत्तिका पात्र में उस मिष्टान्न का सेवन करता है, आधार की उच्चता, लघुता से पदार्थ के स्वाद में कोई अन्तर नहीं रहता है, इसी प्रकार देव, नरकादि पर्याय रूप भिन्न आधारों के होते हुए भी सम्यक्ज्ञानी जीव के आत्मरस पान की अलौकिक छटा को कोई भी क्षति नहीं प्राप्त होती।

गुणजन्य विशेषता

तीर्थंकर की विशेषता उनके आत्मगत गुणों को दृष्टिपथ में रखकर अवगत करनी चाहिये। महाकवि धनंजय की यह उक्ति कितनी मधुर तथा मार्मिक है :—

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव।
त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं
पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥२३॥ विषापहार स्तोत्र

हे आदि जिनेन्द्र ! जो आपके कुल को प्रकाशित करते हुए आपको नाभिराय के नन्दन कहते हैं, भरतराज के पिता प्रतिपादन करते हैं, इस प्रकार कुल के गौरव-गान द्वारा आपकी महिमा के निरूपण से ऐसा प्रतीत होता है कि वे विशुद्ध सुवर्ण को प्राप्त करके उसकी स्तुति करते हुए उसकी पाषाण से उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हैं, अर्थात् कहाँ पाषाण और कहाँ सुवर्ण ! इसी प्रकार कहाँ आपके कुल की कथा और कहाँ आपका त्रिभुवन में अलौकिक जीवन, जिसकी समता कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती है।

तीर्थंकर भक्ति

पुण्यशाली नरेन्द्र एवं देवेन्द्र भगवान की स्तुति करते हैं। इसमें उतनी अपूर्वता नहीं दिखती, जितनी वीतरागी महाज्ञानी

मुनीन्द्रों द्वारा तीर्थंकर की वंदना तथा भक्ति में लोकोत्तरता स्पष्ट होती है। तीर्थंकर भक्ति का यह पाठ बड़े-बड़े साधुजन पढ़ा करते हैं—

"इच्छामि भंते चउवीस-तित्थयरभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं चउतीस-अतिसयविसेस-संजुत्ताणं, बत्तीस-देविंद-मणिमउड-मत्थयमहियाणं, बलदेव-वासुदेव-चक्कहर-रिसि-मुणि-जइ-अणगारोवगूढाणं थुइसयसहस्स णिलयाणं उसहाइ-वीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं भत्तिए णिच्चकालं अच्चेमि पुज्जेमि वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइ-गमणं समाहि-मरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवान् ! मैं समस्त दोषों को दूर करने के लिए चौबीस तीर्थंकरों की भक्तिरूप कायोत्सर्ग धारण करता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मों की आलोचना करता हूँ। पंचमहाकल्याणकों से सुशोभित, अष्टमहाप्रातिहार्य से युक्त चौतीस अतिशय विशेष संयुक्त, बत्तीस देवेन्द्रों के मणिमय मुकुट समलंकृत मस्तकों के द्वारा पूजित, बलदेव वासुदेव, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति, अनगार इनके द्वारा वेष्टित, शत-सहस्त्र अर्थात् लाखों स्तुतियों के स्थान, वृषभादि महावीर पर्यन्त मङ्गल पुरुषों की मैं सर्वकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ। मैं उनको प्रणाम करता हूँ। मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय का लाभ हो, सुगति में गमन हो। समाधि पूर्वक मरण हो। जिनेन्द्र की गुण-सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो।

इस तीर्थंकर भक्ति में उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। वृषभादि महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकरों का प्रथम विशेषण है, "पंच-महाकल्लाणसंपण्णाणं"—वे पंच महान कल्याणकों को प्राप्त हैं, अतएव प्रभु के पंच कल्याणकों आदि के विषय में प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है, कारण वे तीर्थंकर को छोड़ अन्य जीवों में नहीं पाए जाते।

पंच-कल्याणक

इस संसार को पंच प्रकार के संकटों-अकल्याणों की आश्रय-भूमि माना गया है। उनको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पंच परावर्तन कहते हैं। तीर्थंकर भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष का स्वरूप चितवन करने वाले सत्पुरुष को उक्त पंच परावर्तन-रूप संसार में परिभ्रमण का कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। उनके पुण्य-जीवन के प्रसाद से पंच प्रकार के अकल्याण छूट जाते हैं तथा यह जीव मोक्षरूप पंचमगति को प्राप्त करता है। पंच अकल्याणों की प्रतिपक्ष रूप तीर्थंकर के जीवन की गर्भ, जन्मादि पंच अवस्थाओं की पंचकल्याण या पंचकल्याणक नाम से प्रसिद्धि है।

★

गर्भ-कल्याणक

जिनेन्द्र भगवान के जननी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही इस वसुन्धरा में भावी तीर्थंकर के मङ्गलमय आगमन की महत्ता को सूचित करने वाले अनेक शुभ कार्य सम्पन्न होने लगते हैं

जन्मपुरी का सौन्दर्य

भगवान ऋषभदेव के माता मरुदेवी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व ही इन्द्र की आज्ञानुसार देवों ने स्वर्गपुरी के समान अयोध्या नगरी की रचना की थी। उसे साकेता, विनीता तथा सुकोशलापुरी भी कहते हैं। उस नगरी की अपूर्व रमणीयता का कारण महाकवि जिनसेन स्वामी के शब्दों में यह था—

स्वर्गस्यैव प्रतिच्छंदं भूलोकेऽस्मिन् विधित्सुभिः।
विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी ॥१२—७१॥

देवों ने उस अयोध्या नगरी को विशेष मनोहर बनाया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवताओं की यह इच्छा थी, कि मध्यलोक में भी स्वर्ग की प्रतिकृति रही आवे।

उस नगरी के मध्य में सुरेन्द्रभवन से स्पर्धा करने वाला महाराज नाभिराज के निवासार्थ नरेन्द्रभवन की रचना की गई थी। उसकी दीवालों में अनेक प्रकार के दीप्तिमान मणि लगे थे। वह सुवर्णमय स्तम्भों से समलंकृत था तथा पुष्प, मूँगा, मुक्तादि की मालाओं से शोभायमान था।

सर्वतोभद्र प्रासाद

हरिवंशपुराण में लिखा है कि उस राजभवन का नाम सर्वतोभद्र था। उसके इक्यासी मंजले थे। वह परकोटा, वाटिका उद्यानादि

से शोभायमान था। हरिवंशपुराणकार के शब्द इस प्रकार हैं—

सर्वतोभद्रसंज्ञोसौ प्रासादः सर्वतो मतः।
सैकाशीति पदः शालवाप्युद्यानाद्यलंकृतः ।।सर्ग ८—४।।

शातकुंभमयस्तंभो विचित्रमणिभित्तिकः।
पुष्पविद्रुम-मुक्तादिमालाभिरुपशोभितः ।।३।।

तीर्थंकर आदिनाथ भगवान जिस नगरी में जन्म लेने वाले हैं, तथा जहाँ सभी देव, देवेन्द्र निरन्तर आया करेंगे, उसकी श्रेष्ठ रचना में संदेह के लिये स्थान नहीं हो सकता। इसका कारण महापुराणकार इस प्रकार प्रगट करते हैं—

सुत्रामा सूत्रधारोऽस्याः शिल्पिनः कल्पजाः सुराः।
वास्तुजातं मही कृत्स्ना सोढा नास्तु कथं पुरी ।।१२—७५।।

उस जिनेन्द्रपुरी के निर्माण में इन्द्र महाराज सूत्रधार थे, कल्पवासी देव शिल्पी थे, तथा निर्माण के योग्य समस्त पृथ्वी पड़ी थी, वह नगरी प्रशंसनीय क्यों न होगी? वह नगरी द्वादश योजन प्रमाण विस्तारयुक्त थी।

जिनसेन स्वामी का कथन है—'उस अयोध्या नगरी में सब देवों ने हर्षित होकर शुभ दिन, शुभ मुहूर्त्त, शुभ योग तथा शुभ

---

१ इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि वैज्ञानिक जैन संस्कृति में मुहूर्त शोधन आदि ज्योतिष-शास्त्रोक्त बातों का सम्मानपूर्ण स्थान है। जैनागम के द्वादश अङ्गों में ज्योतिर्विद्या की भी परिगणना की गई है। जो व्यक्ति यह कह दिया करते हैं कि मुहूर्त आदि विचार सब व्यर्थ की बातें हैं, इसमें कुछ सार नहीं है, वे जैन-दृष्टि से अपरिचित हैं। आचार्य वीरसेन ने धवला टीका में बताया है कि महाज्ञानी मुनीन्द्र धरसेनाचार्य ने भूतवलि पुष्पदंत मुनियुगल को जो महाकम्म पयडिपाहुड का उपदेश देना प्रारम्भ किया था, वह शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभवार में सम्पन्न किया गया था। धवला टीका (पृ.७०, भाग १) के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

"धरसेण—भडारएण सोम-तिहि-णक्खत्त-वारे गंथो पारद्धो"

'लग्न में पुण्याह् वाचन किया। जिन्हें अनेक संपदाओं की परम्परा प्राप्त हुई है, ऐसे महाराज नाभिराज तथा महारानी मरुदेवी ने हर्षित हो समृद्धियुक्त अयोध्या नगरी में निवास प्रारम्भ किया।

विश्वदृश्वैतयोः पुत्रो जनितेति शतक्रतुः।
तयोः पूजां व्यधात्तोच्चैः अभिषेकपुरस्सरम् ॥१२--८३॥

इन राजदंपति के सर्वज्ञ पुत्र उत्पन्न होने वाले हैं; इसलिए इन्द्र ने अभिषेक पूर्वक उन दोनों की बड़ी पूजा की थी।

रत्न-वृष्टि

भगवान के जन्म के १५ माह पूर्व से उस नगरी में प्रभात, मध्यान्ह, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में चार बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी। इस प्रकार चौदह करोड़ रत्नों की प्रतिदिन वर्षा हुआ करती थी। महापुराण एवं हरिवंशपुराण में लिखा है कि

---

१ मैंने देखा था कि, आचार्य शांतिसागर महाराज सदा महत्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठानों के विषय में पंचाङ्ग देखा करते थे। एक दिन मैंने पूछा था—"महाराज! मुहूर्त्त देखने में क्या सार है? किसी आदमी के मन में वैराग्य उत्पन्न होते ही उसे दीक्षा देना चाहिये। आप दीक्षा का मुहूर्त्त क्यों विचारा करते हैं?" महाराज ने कहा था—"शास्त्र में लिखा है, किस मुहूर्त्त में दीक्षा देना ठीक है, कब ठीक नहीं है। असमय में जिनकी दीक्षादि विधि हुई है, उनमें अनेकों को हमने भ्रष्ट होते देखा है। अतः विचारकर योग्य समय पर कार्य करना चाहिये।"

आजकल ज्योतिर्विद्या की योग्यता रखने वाले व्यक्ति कम मिलते हैं। अल्पज्ञानी मुहूर्त-शुद्धि के नाम पर प्रायः अत्यन्त अशुभ काल को ही अविवेकवश शुभ मुहूर्त्त बता देते हैं। इसका कुफल देख जन-साधारण भ्रम-वश शास्त्र को ही दोष देने लगते हैं। विचारक व्यक्ति का कर्तव्य है कि सुयोग्य विद्वान् से परामर्श ले अपना कार्य सम्पन्न करे।

महाराज नाभिराज ने जब योग्य मुहूर्त में अयोध्या महानगरी में प्रवेश किया था, तब अन्य पुरुषों का क्या कर्तव्य है यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

यह रत्नवर्षा राजभवन में होती थी। वर्धमान चरित्र में कहा है कि तिर्यग्विजृंभक नामके देवगण कुबेर की आज्ञा से चारों दिशा में साढ़े तीन कोटि रत्नों की वर्षा करते थे। (सर्ग १७—श्लोक ३६)

सुरांगनाओं द्वारा माता की सेवा

अनेक देवांगनाएँ जिनेन्द्र जननी की सेवार्थ राजभवन में पहुँची; श्री देवी भगवान के पिता से कहने लगीं।

निर्जरासुर-नरोरगेषु ते कोऽधुनापि गुणसाम्यमृच्छति।
अप्रतस्तु सुतरां यतो गुरुस्त्वं जगत्त्रय-गुरोर्भविष्यसि ।।५--२६
धर्मशर्माभ्युदय ।।

देव, असुर, मानव तथा नागकुमारों में अब कौन आपके गुणों से समानता को प्राप्त करेगा, क्योंकि आप त्रिलोक के गुरु के भी गुरु होंगे ?

इसके पश्चात् वे देवियाँ माता की सेवा के लिए अन्तःपुर में प्रवेश करती हैं। अशग कवि ने लिखा है कि कुण्डल पर्वत पर निवास करने वाली चूलावती, मालनिका, नवमालिका, त्रिशिरा, पुष्पचूला, कनकचित्रा, कनकादेवी तथा वारुणी देवी नाम की अष्ट-दिक् कन्याएं इन्द्र की आज्ञा से जिनमाता की सेवार्थ गई थीं।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चारों दिशाओं में सामान्य दृष्टि से समानता होते हुए भी पूर्व दिशा को विशेष महत्व इसलिए दिया जाता है कि भूमंडल में अपना उज्वल प्रकाश प्रदान करने वाला भास्कर उसी दिशा में उदय को प्राप्त होता है। प्रभातकाल में सूर्योदय के बहुत पहले से ही पूर्व दिशा में विशेष ज्योति की आभा दिखाई पड़ती है और वह दिशा सबके नेत्रों को विशेष रमणीय लगती है। इसी प्रकार जिनेन्द्र जननी के गर्भ के सूर्य तीर्थंकर परमदेव का जन्म होने के पहले ही अपूर्व सौभाग्य और सातिशय पुण्य की प्रभा दृष्टिगोचर होती है। तीर्थंकर भगवान के जन्म लेने के पहले से ही वह भावी जिनमाता मनुष्यों की तो बात ही क्या देवेन्द्रों तथा इन्द्राणियों के द्वारा भक्तिपूर्वक सेवा तथा पूजा को प्राप्त करती है। यह

पूजा वस्तुतः माता की स्वयं की विशेषता के कारण नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव की जननी होने के कारण है। यदि ऐसा न होता, तो पहले भी माता की सुरेन्द्रादिकों के द्वारा पूजा तथा सेवा होनी चाहिये थी।

सबकी दृष्टि भगवान की ओर केन्द्रित हुआ करती है। सचमुच में जिनेन्द्र की जननी का भाग्य और पुण्य अलौकिक है। नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ में गर्भकल्याणक के प्रकरण में भगवान की माता की आदरपूर्वक पूजा करते हुए यह पद्य लिखा गया है—

विश्वेश्वरे विश्वजगत्सवित्रि पूज्ये महादेवि महासति त्वाम्।
सुमङ्गलेऽर्घ्यैः बहुमंगलार्थैः सम्भावयामो भव नः प्रसन्नाः ॥पृष्ठ ३९०॥

हे विश्वेश्वरा, विश्वजगत्-सवित्री, पूज्या, महादेवी, महासती, सुमङ्गला माता! अनेक मङ्गल रूप पदार्थों के अर्घ्य द्वारा हम आपकी समाराधना करते हैं। हे माता! हम पर प्रसन्न हो।

इस अवसर्पिणी में सभी तीर्थंकर स्वर्ग से चलकर भरत-क्षेत्र में आए थे। जब स्वर्ग से चय करने को छह माह शेष रहे, तब उन भावी तीर्थंकर रूप पूज्य आत्मा के प्रति सुर समुदाय का महान् आदर भाव उत्पन्न होने लगा था। वर्धमानचरित्र में बताया है कि जिनेन्द्र होने वाले उस स्वर्गवासी देव को सभी देवता लोग प्रणाम करने लगते थे। कवि ने महावीर भगवान के जीव प्राणतेन्द्र के विषय में जो बात लिखी है, वह अन्य तीर्थंकरों के विषय में भी उपयुक्त है। कवि ने लिखा है—

भक्त्या प्रणेमुरथ तं मनसा सुरेन्द्रं
षण्मासशेषसुरजीवितमेत्य देवाः।
तस्मादनंतरभवे वितनिष्यमाणं
तीर्थं भवोदधि-समुत्तरणैकतीर्थम् ॥१७—३०॥

जिनकी देवगति सम्बन्धी आयु के छह माह शेष रहे हैं तथा जो आगामी जन्म में संसार-समुद्र को तर कर जाने के लिए अद्वितीय

घाट सदृश धर्मतीर्थ का प्रसार करने वाले हैं, ऐसे उस प्राणतेन्द्र के समीप जाकर अनेक देवता अन्तःकरण पूर्वक प्रणाम करने लगे थे।

ऐसी भक्तिपूर्वक समाराधना पूर्णतया स्वाभाविक है। होनहार तीर्थंकर को देवरूप में स्वर्ग में देखकर देवों को, देवियों को तथा देवेन्द्रों को ऐसा ही हर्ष होता है, जैसे सूर्य के दर्शन से कमलों को आनन्द प्राप्त होता है और वे विकास को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार किसी जगह पर कोई अद्भुत निधि अल्पकाल के लिये आ जाए, तो उसके दर्शन के लिये सभी नागरिक और ग्रामवासी गए बिना नहीं रहते; इसी प्रकार छह माह के पश्चात् स्वर्ग को छोड़कर मनुष्य लोक को प्रयाण करने वाली उस परम पावन आत्मा की सभी देव अभिवंदना द्वारा अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं। भगवान छह माह पश्चात् स्वर्गलोक का परित्याग करने वाले हैं इसलिए ही उन पुण्यात्मा का अनुगमन करनेवाली लक्ष्मी छह माह पूर्व ही स्वर्ग से मध्यलोक में रत्नवृष्टि के बहाने से जा रही थी। जिनसेन स्वामी की कल्पना कितनी मधुर है—

संक्रन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिता।
साभात् स्वसंपदौत्सुक्यात् प्रस्थितेवाग्रतो विभोः ॥१२—६५।

इन्द्र के द्वारा नियुक्त हुए कुबेर के द्वारा जो रत्नों की वर्षा हो रही थी, वह इस प्रकार शोभायमान होती थी, मानो जिनेन्द्रदेव की सम्पत्ति उत्सुकतावश उनके आगमन के पूर्व ही आ गई हो।

अयोध्या का सौभाग्य

स्वर्ग से अवतरण के छह मास के समय में जैसे-जैसे दिन न्यून हो रहे थे, वैसे-वैसे यहाँ अयोध्यापुरी की सर्वाङ्गीण श्री, वैभव, सुख आदि की वृद्धि हो रही थी। शीघ्र ही वह समय आ गया, कि देवायु का उदय समाप्त हो गया। मनुष्यगति, मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी का उदय आ जाने से वह स्वर्ग की विभूति मानव-लोक में आई और उसने माता मरुदेवी को सोलह स्वप्न-दर्शन

द्वारा उक्त बात की सूचना देने के साथ अपने मङ्गल जीवन की महत्ता को पहले से ही प्रगट कर दिया।

स्वप्न-दर्शन

प्रत्येक जिनेन्द्र-जननी सोलह स्वप्नों को रात्रि के अन्तिम प्रहर में दर्शन के पश्चात् अपने पतिदेव से उनका फल पूछती है, जिससे माता को अपार आनन्द प्राप्त होता है, कारण वे स्वप्न भगवान के गर्भ में आगमन की सूचना देते हैं। माता अपने पतिदेव से स्वप्नों का वर्णन करती हुई उनका फल पूछती है; तब भगवान के पिता कहते हैं—

नागेन तुंगचरितो वृषतो वृषात्मा
सिंहेन विक्रमधनो रमयाऽधिकश्रीः।
स्रग्भ्यां धृतश्च शिरसा शशिना क्लमच्छित्
सूर्येण दीप्तिमहितो झषतः सुरुपः ॥२८॥
कल्याणभाक्कलशतः सरसः सरस्तो
गम्भीरधीरुदधिनासनतस्तदीशः।
देवाहिवास-मणिराश्यनलैः प्रतीत-
देवोरगागमगुणोद्गम-कर्मदाहः ॥२९—३॥मुनिसुव्रतकाव्य

हे देवि! गजेन्द्र दर्शन से सूचित होता है, कि तुम्हारा पुत्र उच्च चरित्रवाला होगा। वृषभदर्शन से धर्मात्मा, सिंहदर्शन से पराक्रमी, लक्ष्मी से अधिक श्री सम्पन्न, माला से सबके द्वारा शिरोधार्य, चन्द्रमा से संसार के सन्ताप को दूर करनेवाला, सूर्यदर्शन से अधिक तेजस्वी, मत्स्यदर्शन से रूप सम्पन्न, कलश से कल्याण को प्राप्त, सरोवर से वात्सल्यभाव युक्त, समुद्र से गम्भीर बुद्धिवाला, सिंहासन से सिंहासन का स्वामी, देवविमान से देवों का आगमन, नागभवन से नागकुमार देवों का आगमन, रत्नराशि से गुणों का स्वामी तथा अग्नि-दर्शन से सूचित होता है कि वह पुत्र कर्मों को भस्म करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।

माता मरुदेवी के स्वप्न में दिखा था, कि उनके मुख में वृषभ ने प्रवेश किया। उसका फल यह था, कि वृषभनाथ भगवान तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करेंगे। अन्य तीर्थंकरों के आगमन के शुभ समय वृषभ के आकार के स्थान में गजाकारधारी शरीर का मुख-द्वार से प्रवेश होता है।

जिनेन्द्र जननी के समान सोलह स्वप्न अन्य माताओं को नहीं दिखते हैं। अष्टाङ्ग निमित्त विद्या में एक भेद स्वप्न-विज्ञान है। निरोग तथा स्वस्थ व्यक्ति के स्वप्नों द्वारा भविष्य का बोध होता है। क्षत्रचूड़ामणि काव्य में कहा है—

अस्वप्नपूर्वं हि जीवानां न हि जातु शुभाशुभम् ॥२१--अ. १॥

जीवों के कभी भी स्वप्नदर्शन के बिना शुभ तथा अशुभ नहीं होता है। इस विद्या के ज्ञाताओं की आज उपलब्धि न होने से उस विद्या को अयथार्थ मानना भूलभरी बात है। तुलनात्मक रीति से विविध धर्मों का साहित्य देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि भावी जिनेन्द्र शिशु की श्रेष्ठता को सूचित करने वाले उपरोक्त स्वप्न समुदाय जिनमाता के सिवाय अन्य माताओं को नहीं दिखते। इस स्वप्नदर्शन के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टि डालने वाले को जिनेन्द्र तीर्थंकर की श्रेष्ठता स्वयं समझ में आए बिना न रहेगी। माता के गर्भ में पुण्यहीन शिशु के आने पर अमङ्गल स्वप्न आते हैं।[1]

---

१ इस प्रसङ्ग में यह उल्लेख स्मरणयोग्य है, कि धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्रगुफा में थे। प्रभात में उन मुनीन्द्र को स्वप्न आया था, कि दो धवलवर्णीय वृषभ उनके पास आए, जिन्होंने उनकी तीन प्रदक्षिणा दीं और उनके चरणों में पड़ गए। इस स्वप्नदर्शन के उपरान्त उन्होंने कहा—"जयउ सुय-देवदा"-जिनवाणी जयवंत हो। उसी दिन भूतबलि, पुष्पदन्त नाम से आगामी प्रसिद्ध होने वाले मुनि युगल आचार्यदेव के समीप आए, जिन्होंने उनको प्रणाम किया (धवला टीका भाग १, पृष्ठ ६८)। धरसेनाचार्य स्वप्नादि अष्टांग निमित्त शास्त्र के पारदर्शी विद्वान् थे। इस कथन के प्रकाश में स्वप्न-विज्ञान का महत्व स्पष्ट ज्ञात होता है।

उपरोक्त स्वप्नदर्शन के पश्चात् तीर्थंकर होने वाली ग्रात्मा माता के गर्भ में ग्रा गई।

गर्भावतरण

उस समय समस्त सुरेन्द्र गर्भावतरण की बात विविध निमित्तों से जानकर ग्रयोध्यापुरी में ग्राए। सब देवेन्द्रों तथा देवों ने उस पुण्य नगरी की प्रदक्षिणा की ग्रौर महाराज नाभिराज तथा माता मरुदेवी को नमस्कार किया। बड़े हर्ष से गर्भकल्याणक का महोत्सव मनाया गया। भगवान के मनुष्यायु का उदय है ही। माता के गर्भ में ग्राने से उनके मनुष्यायु के उदय में कोई ग्रन्तर नहीं पड़ता।

गर्भ तथा जन्म में तुलना

तत्वदृष्टि से गर्भ में ग्राना तथा गर्भ से बाहर जन्म लेने में कोई ग्रन्तर नहीं है। इस ग्रपेक्षा से गर्भकल्याणक ग्रौर जन्मकल्याणक में ग्रधिक भेद नहीं दिखता। ग्रन्तर इतना ही है कि जन्म लेने पर उन प्रभु का चर्म चक्षुग्रों से दर्शन का सौभाग्य सबको प्राप्त होता है। भगवान का सद्भाव माता के उदर के भीतर गर्भकल्याणक में हो जाता है। इसी कारण उनका प्रभाव ग्रद्भुत रूप से दिखने लगता है।

प्रभु का प्रभाव

उनके प्रभाव से माता की बुद्धि विशुद्ध हो जाती है ग्रौर वह परिचारिका देवियों द्वारा पूछे गए ग्रत्यन्त कठिन मार्मिक तथा गूढ़ प्रश्नों का सुन्दर समाधान करती हैं।

भगवान स्वर्ग छोड़कर ग्रयोध्या में ग्राए हैं, किन्तु उनकी सेवा में तत्पर देव-देवी समुदाय को देखकर ऐसा लगता है कि स्वयं स्वर्ग ही उन प्रभु के पीछे-पीछे वहाँ ग्रा गया है। देवताग्रों का चित्त स्वर्ग वापिस जाने का नहीं होता था, कारण जो निधि जिनेन्द्र भगवान के रूप में ग्रब ग्रयोध्या में ग्रा गई है, वह ग्रन्यत्र नहीं है।

सेवा का पुरस्कार

अब माता का विशेष मनोरञ्जन तथा सेवा आदि का कार्य देवाँगनाएं करने लगीं। इन्द्र का एकमात्र यह लक्ष्य था कि देवाधिदेव की सेवा श्रेष्ठ रूप में सम्पन्न हो। इस श्रेष्ठ सेवा तथा भक्ति का पुरस्कार भी तो असाधारण प्राप्त होता है।

वादिराज सूरि ने एकीभाव स्तोत्र में लिखा है—भगवन्! इन्द्र ने आपकी भली प्रकार सेवा की इसमें आपकी महिमा नहीं है। महत्व की बात तो यह है कि उस सेवा के प्रसाद से उस इन्द्र का संसार परिभ्रमण छूट जाता है। कहा भी है—

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते।
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यतामातनोति ॥२०॥

शची का अद्भुत सौभाग्य

त्रिलोकसार में लिखा है कि सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र, उसकी इन्द्राणी वहाँ से चयकर[1] एक मनुष्य भव धारण करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। सौधर्मेन्द्र तो साधिक दो सागर प्रमाण देवायु पूर्ण होने के पश्चात, मनुष्य होकर मोक्ष पाता है, किन्तु उसकी पट्टदेवी शची-इन्द्राणी पंचपल्य प्रमाण आयु को भोग मनुष्य होकर शीघ्र मोक्ष जाती है। सागर प्रमाण स्थिति के समक्ष पँच पल्य की आयु बहुत ही कम है। इन्द्राणी के शीघ्र मोक्ष जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि जिनमाता और प्रभु इन दोनों की सेवा का अपूर्व तथा उत्कृष्ट सौभाग्य उसे प्राप्त होता है। इस उज्ज्वल कार्य से उसे अपूर्व विशुद्धता प्राप्त होती है। लौकान्तिक देव की पदवी महान है। उनकी स्थिति आठ सागर है। सर्वार्थसिद्धि के देव लोकोत्तर हैं। उनकी स्थिति तेतीस सागर है। इतने लम्बे काल के पश्चात उन

---

१ सोहम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा।
लोयंतिय-सव्वट्ठा तदो चुआ णिव्वुदिं जंति ॥५४८॥ त्रिलोकसार

सौधर्मेन्द्र, शची, उनके सोम आदि लोकपाल, दक्षिणेन्द्र, लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धि के देव वहाँ से चय करके नियम से मोक्ष जाते हैं।

महान देवों को मोक्ष का लाभ मिलता है। शची का भाग्य सचमुच में अद्भुत है, कारण स्त्रीलिङ्ग छेदकर वह शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करती है। जिनेन्द्र-भगवान की भक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण इन्द्राणी है।

देवियों का कार्य

माता की सेवा में तत्पर श्री आदि देवियों ने क्या कार्य किया, इसे महाकवि जिनसेन इस प्रकार कहते हैं—

श्री-ह्रीर्धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः।
श्रियं लज्जां च धैर्यं च स्तुति-बोधं च वैभवम् ॥१२—१६४॥

श्री देवी ने माता में श्री अर्थात् शोभा की वृद्धि की। ह्री देवी ने ह्री अर्थात् लज्जा की धृति, देवी ने धैर्य की, कीर्ति देवी ने स्तुति की, बुद्धि देवी ने ज्ञान की तथा लक्ष्मीदेवी ने विभूति की वृद्धि की।

माता के शरीर में गर्भवृद्धि का बाह्य चिन्ह न देखकर प्रभु के पिता के शंकित मन को इससे शान्ति मिलती थी, कि जिनमाता की तीव्र अभिलाषा त्रिभुवन के उद्धार रूप दोहला में व्यक्त हुआ करती थी।

मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है :—

गर्भस्य लिंगं परमाणुकल्पमप्येतदंगष्वनवेक्ष्य रक्षी।
जगत्त्रयोद्धारण-दोहदेन परं नराणां बुबुधे ससत्वां ॥४—६॥

भगवान के पिता ने जिनेन्द्रजननी के शरीर में परमाणु-प्रमाण भी गर्भ के चिन्ह न देखकर केवल जगत्त्रय के उद्धाररूप दोहला से उसे गर्भवती समझा।

इस कथन से जिनेन्द्रजननी की शरीर-स्थिति सम्बन्धी परिस्थिति का ज्ञान होता है, वैसे भगवान् की गर्भकल्याणक सम्बन्धी अपूर्व सामग्री को देखकर सभी जीव प्रभु के गर्भावतरण को भली प्रकार जानते थे और उनके जन्म-महोत्सव देखने की ममता से एक-एक क्षण को ध्यानपूर्वक गिना करते थे।

मनोहर-चित्रण

रत्नगर्भा धरा जाता हर्षगर्भाः सुरोत्तमाः ।
क्षोभमायाज्जगद्गर्भो गर्भाधानोत्सवे विभोः ।।१२—६८।।

भगवान के गर्भकल्याणक के उत्सव के समय पृथ्वी तो रत्नवर्षा के कारण रत्नगर्भा हो गई, सुरराज हर्षगर्भ अर्थात् हर्षपूर्ण हो गए हैं। जगत्गर्भ अर्थात् पृथ्वीमण्डल क्षोभ को प्राप्त हुआ, अर्थात् संसार भर में गर्भावतरण की वार्ता विख्यात हो गई।

गर्भस्थ शिशु जैसे-जैसे वर्धमान हो रहे थे, वैसे-वैसे माता की बुद्धि विशुद्ध होती जा रही थी। नवमा माह निकट आने पर सेवा में संलग्न देवियों ने अत्यन्त गूढ़ तथा मनोरंजक प्रश्न माता से पूछना प्रारम्भ किया तथा माता द्वारा सुन्दर समाधान प्राप्त कर वे हर्षित होती थीं।

सेवा का आनन्द

कोई यह सोचे कि जिन-जननी की विविध प्रकार से सेवा करने में महान् पुण्यवती देवियों को कष्ट होता होगा, तो अनुचित बात होगी। जिन माता के गर्भ में मति, श्रुत, अवधिज्ञानधारी तीर्थंकर-प्रकृति सम्पन्न जिनेन्द्रदेव हैं; उनकी सेवा तथा सत्संग से जो उनको आनन्द प्राप्त होता था, वह स्वात्म-संवेद्य ही था। दूसरा व्यक्ति उस महान सौभाग्यजनित रस का कैसे कथन कर सकता है?

तीर्थंकर रूप अपूर्व निमित्त के सुयोग से माता के ज्ञान का अद्भुत विकास हो गया था। देवता भी माता के महान ज्ञान तथा अनुभव से अपने को कृतार्थ करते थे।

माता से प्रश्नोत्तर

देवियों के द्वारा माता से किए गए प्रश्नोत्तरों की रूपरेखा समझने के लिये महापुराण में लिखित ये प्रश्नोत्तर महत्वपूर्ण हैं। देवियों ने पूछा—

...कः पंजरमध्यास्ते...कः परुषनिस्वनः ?
कः प्रतिष्ठा जीवानां....कः पाठ्योक्षरच्युतः ? ।।१२--२३६।।

माता ! पिंजरे में कौन रहता है ? कठोर शब्द करनेवाला कौन है ? जीवों का आश्रय कौन है ? अक्षर-च्युत होने पर भी पढ़ने योग्य क्या पाठ है ?

माता ने उत्तर दिया—

शुकः पंजरमध्यास्ते काकः परुष-निस्वनः ।
लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्योक्षरच्युतः ।।२३७।।

कः पंजरमध्यास्ते ?—इसमें शु शब्द जोड़कर माता कहती हैं—शुक पिंजरे में रहता है । दूसरे प्रश्न के उत्तर में माता "का" शब्द जोड़कर कहती हैं—कठोर स्वर वाला काक पक्षी होता है । तीसरे प्रश्न के उत्तर में माता लो शब्द को जोड़कर कहती हैं—जीवों का आश्रय लोक है । चौथे प्रश्न के उत्तर में माता कहती हैं—श्लो शब्द को जोड़ने से अक्षर-च्युत होने पर भी श्लोक पठनीय है ।

तीन देवियों ने क्रम-क्रम से ये प्रश्न पूँछे—

कः समुत्सृज्यते धान्ये घटयत्यम्ब को घटम् ?
वृषान्दशति कः पापी वदाद्यैरक्षरैः पृथक् ? ।।२४४।।

माता ! धान्य में क्या छोड़ दिया जाता है ? घट को कौन बनाता है ? वृषान् अर्थात् चूहों को कौन पापी भक्षण करता है ? इनका उत्तर पृथक्-पृथक् शब्दों में बताइये जिनके आदि के अक्षर पृथक्-पृथक् हों ?

माता ने उत्तर दिया—पलाल धान्य में छोड़ा जाता है । कुलाल—कुँभकार घट को बनाता है । बिडाल चूहों को खाता है । इस उत्तर में प्रारम्भ के दो शब्द पृथक्-पृथक् होते हुए अन्त का अक्षर ल सबमें है ।

प्रगट रूप से अनेक देवियाँ माता की बड़े विवेक पूर्वक सेवा करती थी ।

शची द्वारा गुप्त-सेवा

महापुराण में यह महत्वपूर्ण कथन आया है—

निगूढं च शची देवी सिषेवे किल साप्सराः ॥
मघोनाऽघ-विनाशाय प्रहिता तां महासतीम् ॥२६६॥

अपने समस्त पापों का नाश करने के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी अनेक अप्सराओं के साथ माता की गुप्त रूप से सेवा करती थी ।

प्रभु की माता में प्रारम्भ से ही लोकोत्तरता थी । अब जिनेन्द्र देव के गर्भ में आने से वह सचमुच में जगत् की माता या जगदम्बा हो गई । उनकी महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ?

गर्भस्थ-प्रभु का वर्णन

गर्भकल्याणक के वर्णन प्रसङ्ग में माता के गर्भ में विराजमान तथा सूर्य सदृश शीघ्र ही उदय को प्राप्त होने वाले उन भगवान की अवस्था पर प्रकाश डालने वाला धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य कितना भावपूर्ण है—

गर्भे वसन्नपि मलैरकलंकितांगो ।
ज्ञानत्रयं त्रिभुवनैकगुरुर्बभार ।
तुंगोदयाद्रि-गहनांतरितोपि धाम ।
किं नाम मुंचति कदाचन तिग्मरश्मिः ।६—६॥

वे जिनभगवान् गर्भ में निवास करते हुए भी मल से अकलंक अंग युक्त थे । त्रिभुवन के अद्वितीय गुरु उन प्रभु ने मति, श्रुत तथा अवधि इन ज्ञानत्रय को धारण किया था । उन्नत उदयाचल के गहन में छिपा हुआ भी तिग्मरश्मि अर्थात् सूर्य क्या कभी अपने तेज को छोड़ता है ?

भगवान तो माता के गर्भ में विराजमान हैं । वे चर्म-चक्षुओं के अगोचर अवश्य हैं, किन्तु उनके प्रभाव से माता में वृद्धि को प्राप्त

अपूर्व सौन्दर्य तथा ज्ञान का अद्भुत विकास देखकर सभी लोग यह जानते थे, कि इस असाधारण स्थिति का क्या कारण है ? प्राची दिशा

के गर्भ में सूर्य प्रारम्भ में छिपा रहता है, फिर भी विश्व को प्रकाश देने वाले तेजःपुञ्ज प्रभाकर के प्रभाव से उस दिशा में विलक्षण सौन्दर्य तथा अपूर्वता नयनगोचर होती है; ऐसी ही स्थिति भगवान के गर्भ में विद्यमान रहने पर जिनेन्द्रजननी की हुई थी। माता के सौन्दर्य की झलक एक देवी की इस सुन्दर उक्ति में प्रतीत होती है, जो उसने प्रश्न के रूप में माता के समक्ष उपस्थित की थी। देवी पूछती है—

माता की स्तुति

किमेन्दुरेको लोकेऽस्मिन् त्वयाम्ब मृदुरीक्षितः।
आछिनत्सि बलादस्य यदशेषं कलाधनम् ॥१२—२१४ महापुराण॥

हे माता! यह तो बताओ कि क्या तुमने इस जगत् में एक चंद्रमा को ही मृदु देखा है, जो उसकी परिपूर्ण कलारूप संपत्ति को तुमने जबरदस्ती छीनकर अपने पास रख लिया है?

यहाँ व्याज-स्तुति अलंकार के द्वारा माता के अनुपम सौन्दर्य पर प्रकाश डाला गया है। महाकवि जिनसेन स्वामी माता की एक अपूर्व विशेषता को सप्राण शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं—

सा नर्नाम परं कंचित् नम्यते स्म स्वयं जनैः।
चान्द्रीकलेव शुद्धश्रीः देवीव च सरस्वती ॥१२—२६७॥

माता को स्वयं सभी लोग प्रणाम करते थे। माता किसी को प्रणाम नहीं करती थी। गर्भ में भगवान को धारण करने से माता की समता कौन कर सकता है? अतः जिनजननी महान् सौन्दर्य पूर्ण चन्द्रकला तथा भगवती सरस्वती सदृश प्रतीत होती थी।

प्रभु की जन्म-वेला

भगवान के जन्म का समय समीप आ गया है। उस समय भगवान के पिता महाराज नाभिराय की स्थिति पर महापुराणकार इन अर्थपूर्ण शब्दों में प्रकाश डालते हैं—

अनेक देवियाँ आदर के साथ जिसकी सेवा करती हैं, ऐसी माता मरुदेवी परमसुख देने वाले और तीनों लोकों में आश्चर्य

उत्पन्न करने वाले भगवान ऋषभदेवरूपी तेजः पुञ्ज को धारण कर रही थी और महाराज नाभिराज कमलों से शोभायमान सरोवर के समान जिनेन्द्र होने वाले सुत रूपी सूर्य की प्रतीक्षा करते हुए बड़ी आकांक्षा के साथ महान् धैर्य को धारण कर रहे थे।

जगदम्बा महादेवी माता मरुदेवी के गर्भ में विराजमान ऋषभनाथ प्रभु का ज्ञान-नेत्रों द्वारा दर्शन कर मुमुक्षु जन उन परम प्रभु को प्रणाम करते हुए महान् सुख का अनुभव करते थे। प्रत्येक के अन्तःकरण में बाल-जिनेन्द्र के साक्षात् दर्शन की अवर्णनीय उत्कंठा उत्पन्न हो रही थी। काल व्यतीत होते देर नहीं लगती। सुख के क्षण तो और भी वेग से बीत जाते हैं। अब वह मङ्गल वेला समीप है, जब त्रिभुवन को सुखदाता देवाधिदेव भगवान आदीश्वर प्रभु का जन्म होने वाला है। उन प्रभु को शतशः प्रणाम है।

जन्म-कल्याणक

प्राची के गर्भ में स्थित सूर्य सदृश जननी के गर्भ में वे धर्म-सूर्य जिनेन्द्र भव्यों को अधिक हर्ष प्रदान कर रहे थे, किन्तु जिस समय उन प्रभु का जन्म हुआ, उस समय के आनन्द और शान्ति का कौन वर्णन कर सकता है ? अन्तःकरणों में सभी जीवों ने जिनेन्द्र-जन्मजनित आनन्द का अनुभव किया। त्रिभुवन के सभी जीवों को सुख प्राप्त हुआ। जन्म के समय जननी को कोई कष्ट नहीं हुआ। देवियाँ सेवा में तैयार थीं।

पुण्य वातावरण

उस समय का नैसर्गिक वातावरण रमणीय और सुन्दर हो गया। नभोमण्डल अत्यन्त स्वच्छ था। मन्द, सुगन्धित पवन का संचार हो रहा था। आकाश से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा हो रही थी। प्राकृतिक मुद्रा को धारण करके आत्मा की वैभाविक परणति का त्याग कर अपनी प्राकृतिक स्थिति को ये जिनेन्द्र शीघ्र ही प्राप्त करेंगे, इसलिए सचेतन एवं अचेतन प्रकृति के मध्य एक अपूर्व उल्लास और आनन्द की रेखा दिखाई पड़ती थी। महापुराण में जन्म के समय हुई मधुर बातों का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

> दिशः प्रसत्तिमासेदुः आसीन्निर्मलमम्बरम्।
> गुणानामस्य वैमल्यं अनुकर्तुमिव प्रभोः ॥१३-५॥

उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छता को प्राप्त हुई थीं। आकाश-भी निर्मल हो गया था। उससे ऐसा प्रतीत होता था मानो भगवान के गुणों की निर्मलता का वे अनुकरण कर रहे हों।

> प्रजानां ववृधे हर्षः सुरा विस्मयमाययुः।
> अम्लानि कुसुमान्युच्चैः मुमुचुः सुरभूरुहाः ॥६॥

प्रजा का हर्ष बढ़ रहा था। देव आश्चर्य को प्राप्त हो रहे थे। कल्पवृक्ष प्रचुर प्रमाण में प्रफुल्लित पुष्पों की वर्षा कर रहे थे।

अनाहताः पृथुध्वाना दध्वनुर्दिविजानकाः।
मृदुः सुगंधिश्शिशिरो मरुन्मंदं तदा ववौ ॥७॥

देवों की दुंदुभि अपने आप ऊँचा शब्द करते हुए बज रहीं थीं। मृदु, शीतल और सुगन्धित पवन मन्द-मन्द बह रहा था।

प्रचचाल मही तोषात् नृत्यन्तीव चलद्गिरिः।
उद्वेलो जलधिर्नूनं अगमत् प्रमदं परम् ॥८॥

उस समय पहाड़ों को कम्पित करती हुई पृथ्वी भी हिलने लगी थी, मानो आनन्द से नृत्य ही कर रही हो। समुद्र की लहरें सीमा के बाहर जाती थीं, जिनसे सूचित होता था कि वह परम आनन्द को प्राप्त हुआ हो।

मुनिसुव्रत-काव्य में लिखा है :—

गृहेषु शंखाः भवनामराणां वनामराणां पटहाः पदेषु।
ज्योतिस्सुराणां सदनेषु सिंहाः कल्पेषु घंटाः स्वयमेव नेदुः ॥४--३६॥

प्रभु के जन्म होते ही भवनवासियों के यहाँ शंखध्वनि होने लगी। व्यंतरों के यहाँ भेरीनाद होने लगा। ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद हुआ तथा कल्पवासियों के यहाँ स्वयमेव घंटा बजने लगे।

सौधर्मेन्द्र का विस्मय

उस समय सौधर्मेन्द्र का आसन कम्पित हुआ तथा मस्तक झुक गया था। सौधर्मेन्द्र चकित हो सोचने लगे कि यह किस निर्भय, शंकारहित, अत्यन्त बाल-स्वभाव, मुग्ध-प्रकृति, स्वच्छन्द भाववाले तथा शीघ्र कार्य करने वाले व्यक्ति का कार्य है?

हरिवंशपुराण में कहा है—

आसनस्य प्रकंपेन दध्यौ विस्मितधीस्तदा।
सौधर्मेन्द्रश्चलन्मौलिर्भूत्वा मूर्धानमुन्नतम् ॥८—१२२॥
प्रतिबालेन मुग्धेन स्वतंत्रेणाशुकारिणा।
निर्भयेन विशंकेन केनेदमप्यनुष्ठितम् ॥१२३॥

इन्द्रमहाराज पुनः चिन्तानिमग्न होकर विचार करते हैं—

देव-दानवचक्रस्य स्वपराक्रमशालिनः ।
कथंचित्प्रतिकूलस्य यः समर्थः कदर्थने ॥१२४॥
इन्द्रः पुरंदरः शक्रः कथं न गणितोऽधुना ।
सोऽहं कंपयतानेन सिंहासनमकंपनम् ॥१२५॥

अपने पराक्रम से शोभायमान भी देव-दानव समुदाय के किंचित् प्रतिकूल होने पर जो उनके दमन करने की सामर्थ्य धारण करता है, ऐसे शक्र, पुरंदर, इन्द्र नामधारी मेरे अकंपित सिंहासन को कंपित करते हुए उसने मेरी कुछ भी गणना नहीं की ।

सहसा सौधर्मेन्द्र के चित्त में एक बात उत्पन्न हुई, कि तीनों लोकों में ऐसा प्रभाव तीर्थंकर भगवान के सिवाय अन्य में सम्भावनीय नहीं है—"संभावयामि नेदृक्षं प्रभावं भुवनत्रये । प्रभुं तीर्थंकरादन्यम् ।" पश्चात् अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात हो गया कि भरतक्षेत्र में महाराज नाभिराज के यहाँ ऋषभनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ है । तत्काल ही वह विस्मयभाव महान् आनन्दरस में परिणत हो गया । "जयतां जिन इत्युक्त्वा प्रणनाम कृतांजलिः" (१२८ सर्ग ८)—जिनेन्द्र भगवान जयवंत हों । ऐसा कहकर सात पैंड जा हाथ जोड़कर सौधर्मेन्द्र ने जिनेन्द्र भगवान को परोक्षरूप से प्रणाम किया ।

जन्मपुरी को प्रस्थान

शीघ्र ही तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर का जन्म जानकर देवों की हाथी, घोड़ा, रथ, गन्धर्व, पियादे, बैल तथा नृत्यकारिणी रूप सात प्रकार की सैन्य इन्द्र महाराज की आज्ञा से निकलीं । उस समय शोक, विषाद आदि विकारों का सर्वत्र अभाव हो गया था । सर्व जगत् आनन्द के सिन्धु में निमग्न था । शान्ति का सागर दिग्-दिगन्त में लहरा रहा था ।

प्रश्न ?

इस प्रसङ्ग में एक शंका उत्पन्न होती है कि भगवान का जन्म तो अयोध्या में हुआ और उनके जन्म की सूचना देने वाली वाद्य-ध्वनि स्वर्गलोक में होने लगी। इन्द्रों के मुकुट झुक गए। इस कथन का क्या कोई वैज्ञानिक समाधान है ?

समाधान

जिनागम में जगद् व्यापी एक पुद्गल का महास्कन्ध माना है, वह सूक्ष्म है। आज के भौतिक शास्त्रज्ञों ने 'ईथर' नाम का एक तत्व माना है, जिसके माध्यम से हजारों मील का शब्द रेडियो यन्त्र द्वारा सुनाई पड़ता है। इस विषय में आगम का यह आधार ध्यान देने योग्य है। तत्वार्थ सूत्र में पुद्गल के शब्द, बंध आदि भेदों का उल्लेख करते हुए उसका भेद सूक्ष्मता के साथ स्थूलता भी बताया है। तत्वार्थराजवार्तिक में लिखा है "द्विविधं स्थौल्यमवगंतव्यं। तत्रान्त्यं जगद्व्यापिनि महास्कंधे" (अध्याय ५, सूत्र २४, पृष्ठ २३३)—दो प्रकार की स्थूलता कही गई है। पुद्गल की अन्तिम स्थूलता जगत् भर में व्याप्त महास्कंध में है। इस महास्कंध के माध्यम से जिनेन्द्र-जन्म की सूचना तत्काल सम्पूर्ण जगत् को अनायास प्राप्त हो जाती है। इस महास्कंध तत्व का स्वरूप किसी भी अन्य सिद्धान्त में नहीं बताया गया है, कारण वे एकान्तवाद असर्वज्ञों के कथन पर आश्रित हैं और जैन-धर्म सर्वज्ञ के परिपूर्ण ज्ञान तथा तदनुसार निर्दोष वाणी पर अवस्थित है।

देव सेना

सिद्धान्तसार दीपक में लिखा है कि इन्द्र महाराज की सवारी के आगे-आगे सात प्रकार की सेना मधुर गीत गाती हुई चलती थी। आभियोग्य जाति के देवों ने गज, तुरङ्ग आदि का रूप धारण किया था। देवगति नाम कर्म का उदय होते हुए भी कल्प

पुण्य होने के कारण उन आभियोग्य जाति के देवों को विविध प्रकार के वाहन आदि का रूप धारण करना पड़ता था। ऐसी ही दशा किल्विषिक देवों की हीन पुण्य होने के कारण होती है। वे अशुद्ध पिंडधारी न होते हुए भी शूद्रों के समान उच्च देवों से पृथक् गमनादि कार्य करते हैं। जिनेन्द्र जन्मोत्सव के समय उनका कहाँ स्थान रहता है, यह पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया गया है।

गज रूपधारी देवों की सेना विद्याधर, कामदेव आदि का षड्ज स्वर में गुणगान करती है। तुरङ्ग सेना ऋषभ स्वर में मांडलिक महामांडलिक राजाओं का गुणगान करती है। देवरथ वाली सेना गांधार स्वर में बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण के बल-वीर्य का गुणगान करती हुई नृत्य करती जाती थी। पैदल रूप देवसेना मध्यम स्वर में चक्रवर्ती की विभूति, बल, वीर्यादि का गुणगान करती थी। वृषभ सेना पंचम स्वर में लोकपाल जाति के देवों का गुणानुवाद करती हुई चरमशरीरी मुनियों का गुणगान करती थी। धैवत स्वर में गन्धर्व-सेना गणधरदेव तथा ऋद्धिधारी मुनियों का गौरवगान करती थी। नृत्यकारिणी सेना निषाद स्वर में तीर्थंकर भगवान के छियालीस गुणों का और उनके पुण्य जीवन का मधुर गान करती थी।

अद्भुत रस का उद्दीपक ऐरावत

सौधर्मेन्द्र ने ऐरावत हाथी पर शची के साथ बैठकर अनेक देवों से समलंकृत हो अयोध्या के लिए प्रस्थान किया। ऐरावत गज का वर्णन अद्भुत रस को जागृत करता है। दैविक चमत्कार का वह अत्यन्त मनोज्ञ रूप था। विक्रिया शक्ति सम्पन्न देवों में कल्पनातीत शक्ति रहती है। उनका शरीर औदारिक शरीर की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म होता है। उस सूक्ष्म परिणमन प्राप्त वैक्रियिक शरीर का स्थूल रूप दर्शन ऐरावत हाथी के रूप में होता था। वह

---

१ "यथेह दासाः वाहनादिव्यापारं कुर्वन्ति तथा तत्राऽऽभियोग्याः वाहनादिकार्येणोपकुर्वन्ति। किल्बिषं पापं तदेषामस्तीति किल्विषिकाः तेऽन्त्यवासिस्थानीया मताः"—(त० रा० अ० ४, सू० ४ पृ० १५१)।

गज लौकिक गजेन्द्रों से भिन्न था। वह देव सामर्थ्य का सुमधुर प्रदर्शन था।

ऐरावत का स्वरूप चिन्तन करते ही बुद्धिजीवी मनुष्य में अद्भुत रस उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। यदि वह सोचे कि स्थूल रूप-धारी छोटे दर्पण में बड़े-बड़े पदार्थ प्रतिबिम्ब रूप से अपना सूक्ष्म परिणमन करके प्रतिबिम्बित होते हैं। छोटे से केमरा द्वारा बड़ी वस्तुओं का चित्र खींचा जाता है, तब इससे भी सूक्ष्म वैक्रियिक शरीरधारी देव रचित ऐरावत गज का सद्भाव पूर्णतया समीक्षक बुद्धि के अनुरूप है। सम्यग्दृष्टि जीव की श्रद्धा पदार्थों की अचिंत्य शक्ति को ध्यान में रखकर ऐसी बातों को शिरोधार्य करने में संकोच का अनुभव नहीं करती है। सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी भगवान के द्वारा कथित तत्व होने से ऐसी बातें सम्यक्त्वी सहज ही स्वीकार करता है। इन बातों को काल्पनिक समझने वाला आगम की विविध शाखाओं का मार्मिक ज्ञाता होते हुए भी सम्यक्त्वशून्य ही स्वीकार करना होगा, कारण सम्यक्त्वी जीव प्रवचन में कथित समस्त तत्वों को प्रामाणिक मानता है। एक भी बात को न मानने वाला आगम में मिथ्यात्वोदय के अधीन माना गया है तथा श्रद्धाशून्य कहा गया है।

विवेकी सम्यक्त्वी जीव आगमोक्त आश्चर्यप्रद बातों के विरुद्ध अश्रद्धा का भाव त्यागकर यह सोचता है :—

> सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
> आज्ञासिद्धं च तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनः॥

सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उसका युक्तियों द्वारा खंडन नहीं हो सकता। उसे भगवान की आज्ञा रूप से प्रामाणिक मानकर ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र अन्यथा प्रतिपादन नहीं करते हैं। रागद्वेष तथा अज्ञान के द्वारा मिथ्या कथन किया जाता है। जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ, वीतराग एवं हितोपदेशी हैं; अतः उनकी वाणी में मुमुक्षु भव्य संदेह नहीं करता है।

विशेष बात

एक बात विशेष विचारणीय है। आधुनिक विज्ञान के अनुसन्धान द्वारा ऐसी अनेक शोधों तथा आविष्कारों की उपलब्धि हुई है, जिसका जैन शास्त्रों में पहले ही कथन किया जा चुका है। पुद्गल तत्व में अचिन्त्य अनन्त शक्तियों का भण्डार है, यह जैन-मान्यता आज के भौतिक विचित्र आविष्कारों द्वारा समर्थन को प्राप्त कर रही है। वैज्ञानिकों की एटम (अणु) सम्बन्धी शोध ने संसार को चकित कर दिया है। जर्मन वैज्ञानिक आंस्टाइन ने यह प्रमाणित कर दिया[1] कि एक माशा वजन के पुद्गल में शक्ति का इतना महान् भण्डार भरा है कि उससे दिल्ली से कलकत्ता पूरी लदी हुई डाकगाड़ी छह सौ बार गमनागमन कर सकती है। अमेरिकन शासन द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'Exploring the Atom'[2] में लिखा है जब हम दियासलाई की एक लकड़ी जलाते हैं, तब एक मोमबत्ती जलाने योग्य पर्याप्त गर्मी प्राप्त होती है। यदि हम उस दियासलाई के अणुओं का विभाजन करते जांय, तो इतनी शक्ति प्राप्त हो जायगी, जिससे स्विटजरलैंड देश के हिमाच्छादित आल्प्स पर्वत का समस्त बर्फ पानी रूप परिणत कराया जा सकता है। जब ऐसी पुद्गल की

---

1 Einstein proved mathematically that one gram of matter, if wholly converted into energy could perform about 900,000,000,000,000,000,000 ergs of work. One gram is about one masha in the India system of weights...... ...And the amount of energy expressed above can enable the fully loaded Calcutta Mail to make six hundred trips between Delhi and Calcutta—"Einstein's contribution to World" article in 'The American Reporter of March, 1957.

2 "When we strike a match we have enough heat to light a candle. But if we could break up the match atom by atom converting its entire mass into energy, it is said that we could have enough heat to melt all the snow in the Swiss Alps"—Exploring the Atom' Page 5.

अद्भुत शक्तियों का उपयोग सीमित शक्ति तथा साधन सम्पन्न मानव कर सकता है, तब वैक्रियिक शरीरधारी अवधिज्ञानी देव क्या-क्या चमत्कार नहीं दिखा सकते ? अतएव आत्म हितैषियों का कर्तव्य है कि जिनवाणी के कथन पर श्रद्धा करने में संकोच न करें ।

सुन्दर कल्पना

सोलह स्वर्ग पर्यंत के समस्त देव-देवांगना तथा भवनत्रिक के देवताओं का समुदाय महान् पुण्यात्मा सौधर्मेन्द्र के नेतृत्व में आकाशमार्ग से श्रेष्ठ वैभव, आनन्द, प्रसन्नता तथा अमर्यादित उल्लास के साथ अयोध्या की ओर बढ़ रहा था । जिनसेन स्वामी ने लिखा है—

> तेषामापततां यानविमानैराततं नभः ।
> त्रिषष्टिपटलेभ्योऽन्यत् स्वर्गान्तरमिवासृजत् ।।१३—२२।।

उन आते हुए देवों का विमान और वाहनों से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता था मानो त्रेसठ-पटल वाले स्वर्ग को छोड़ यहाँ अन्य स्वर्ग का निर्माण हुआ हो ।

महाराज नाभिराजके राजभवन का प्रांगण सुरेन्द्रों के समुदाय से भर गया था । देवों की सेनाएं अयोध्यापुरी को घेरकर अवस्थित हो गई । इन्द्र ने शची को आदेश दिया, कि तुम प्रसव-मन्दिर में प्रवेश करो । माता को सुखमयी निद्रा में निमग्न करके उनकी गोद में मायामयी शिशु को रखकर जिनेन्द्रदेव को मेरु पर्वत पर अभिषेक के लिये लाओ ।

शची द्वारा जिनेन्द्र-चंद्र का दर्शन

शची ने सुरराज की आज्ञा का पालन करते हुए उस नरेन्द्र-भवन के अन्तःपुर में प्रवेश किया और माता मरुदेवी के अंचल के भीतर विद्यमान बालस्वरूप जिनेन्द्र—चन्द्र का दर्शन किया । उस समय इन्द्राणी के हृदय में ऐसा आनन्द हुआ कि उसका वर्णन

साक्षात् भारती के द्वारा भी शायद ही सम्भव हो। त्रिलोकीनाथ की मुख-चन्द्रिका का दर्शन कर शची के नयन-चकोर पुलकित हो रहे थे। हृदय कल्पनातीत आनन्द-सिन्धु में निमग्न हो रहा था। शची ने बाल-जिनेन्द्र सहित माता को बड़े प्रेम, ममता, श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक देखा। अनेक बार भगवान और जिनमाता की प्रदक्षिणा के पश्चात्, त्रिभुवन के नाथ भगवान को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया तथा जिनमाता की स्तुति करते हुए कहा—

त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणी त्वं सुमंगला।
महादेवी त्वमेवाद्य त्वं सपुण्या यशस्विनी ॥१३—३० महापुराण॥

हे माता! तुम तो तीनों लोकों का कल्याण करने वाली विश्वजननी हो, कल्याणकारिणी हो, सुमङ्गला हो, महादेवी हो, यशस्विनी और पुण्यवती हो।

जिनेन्द्र के स्पर्शन का सुख

इस प्रकार जिनेन्द्र जननी के प्रति अपना उज्ज्वल प्रेम प्रदर्शित करते हुए माता को निद्रा निमग्न कर तथा उनकी गोद में माया-शिशु को रखकर शची ने जगद्गुरु को अपने हाथों में उठाया और परम आनन्द को प्राप्त किया। जिनसेन स्वामी कहते हैं—

तद्गात्र-स्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसौ तदा।
मेने त्रिभुवनैश्वर्यं स्वसात्कृतमिवाखिलम् ॥१३—३३॥

उस समय अत्यन्त दुर्लभ बाल-जिनेन्द्र के शरीर का स्पर्श कर शची को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो तीन लोक का ऐश्वर्य ही उसने अपने अधीन कर लिया हो। इन्द्राणी ने प्रभु को बड़े आदर पूर्वक लेकर इन्द्र को देने के लिए प्रसव-मन्दिर के बाहर पैर रखे। उस समय भगवान के आगे अष्टमङ्गल द्रव्य अर्थात छत्र, ध्वजा, कलश, चामर, सुप्रतिष्ठिक (ठोना) झारी, दर्पण तथा पंखा धारण करने वाली दिक्कुमारी देवियाँ भगवान की उत्तम ऋद्धियों के समान गमन करती हुई प्रतीत होती थीं। इसके अनन्तर इन्द्राणी ने देवाधिदेव को

सुरराज के करतल में सौंपा । कहा भी है—

ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधात् ।
बालार्कमौदये सानौ प्राचीव प्रस्फुरन्मणौ ।।१३—३६।।

जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियों से शोभायमान उदयाचल के शिखर पर बाल-सूर्य को विराजमान करती है, उसी प्रकार इन्द्राणी ने बाल-जिनेन्द्र को इन्द्रके करतलमें विराजमान कर दिया ।

सुरराज द्वारा सहस्र नेत्र धारण

प्रभु की अनुपम सौन्दर्यपूर्ण मनोज्ञ छबि का दर्शन कर सुरराज ने सहस्रनेत्र बनाकर अपने आश्चर्यचकित अंतःकरण को तृप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी वह आश्चर्य एवं आनन्द के सिन्धु में आकंठ निमग्न रहा आया । जिस समय सुरराज ने जिनराज को अपनी गोद में लिया, उस समय जय-जयकार के उच्च स्वर से दशों दिशाएँ पूर्ण हो रही थीं । इन्द्र ने प्रभु की स्तुति करते हुए कहा—

त्वं देव जगतां ज्योतिः त्वं देव जगतां गुरुः ।
त्वं देव जगतां धाता त्वं देव जगतां पतिः ।।४१।। महापुराण

हे भगवन् ! आप विश्वज्योति स्वरूप हो, जगत् के गुरु हो, त्रिभुवन को मोक्षमार्ग का प्रदर्शन कराने वाले विधाता हो । हे देव ! आप समस्त जगत् के नाथ हो ।

ऐरावत पर स्थित प्रभु की शोभा

भगवान को अपनी गोद में लेकर सुरराज ऐरावत हाथी पर विराजमान हुए । उस समय ऐसा दिखता था मानो निषध पर्वत के अंक में बालसूर्य शोभायमान हो रहा हो । उस परम पावन दृश्य की क्षण भर अपने मन में कल्पना करने से हृदय में एक मधुर रस की धारा प्रवाहित हुए बिना न रहेगी । सौधर्मेन्द्र की गोद

में त्रिलोकीनाथ हैं । ईशान स्वर्ग का सुरेन्द्र धवल वर्ण का छत्र लगाए है । सनत्कुमार तथा महेन्द्र नामक इन्द्रयुगल देवाधिदेव के ऊपर चामर ढुरा रहे हैं । उस लोकोत्तर दृश्य की कल्पना ही जब हृदय में पीयूष धारा प्रवाहित करती है, तब उसके साक्षात् दर्शन से जीवों की क्या मनःस्थिति हुई होगी ? जिनसेनाचार्य कहते हैं—

दृष्ट्वा तदातनीं भूतिं कुदृष्टिमरुतो परे ।
सन्मार्गरुचिमातेनुः इन्द्र-प्रामाण्यमास्थिताः ॥६३॥

उस समय की विभूति का दर्शन करके अनेक मिथ्यादृष्टि देवों ने इन्द्र को प्रमाणरूप मानकर सम्यक्त्वभाव को प्राप्त किया था ।

सुमेरु की ओर प्रस्थान

महापुराण में लिखा है, "मेरु पर्वत पर्यन्त नीलमणियों से निर्मित सोपान-पंक्ति ऐसी शोभायमान हो रही थी, मानो नीले दिखने वाले नभोमंडल ने भक्तिवश सीढ़ियाँ रूप परिणमन कर लिया हो ।

समस्त सुर-समाज ज्योतिषपटल का उल्लंघन कर जब ऊपर बढ़ा, तब वे ताराओं से समलंकृत गगनमंडल को ऐसा सोचते थे, मानो यह कुमुदिनियों से शोभायमान सरोवर ही हो । ज्योतिष-पटल में ७९० योजन पर ताराओं का सद्भाव है । उसके आगे दश योजन ऊँचाई पर सूर्य का विमान है; पश्चात् ८० योजन ऊपर जाने पर चन्द्र का विमान है । तीन योजन पर नक्षत्र हैं । तीन योजन ऊपर बुध है । तीन योजन ऊपर शुक्र है । तीन योजन ऊपर बृहस्पति है । चार योजन ऊपर मङ्गल है । चार योजन ऊपर शनैश्चर का विमान है ।[1] इस प्रकार ७९० योजन से ऊपर ११० योजन में ज्योतिषी

---

१ जैनागम के अनुसार ८०० महायोजन अर्थात् ८०० × २००० कोश अर्थात् १,६००,००० कोश पर सूर्य विमान है । शनैश्चर का विमान ९०० महायोजन अर्थात् १८००,००० कोश पर स्थित है । मेरु पर्वत एक लाख योजन प्रमाण ऊँचा है । एक हजार योजन तो उसकी गहराई है । चालीस योजन की चूलिका है । अतः भूतल से ९९०४० योजन पर मेरु शिखर है । वह ९९०४० × २००० अर्थात् १९८०८०००० कोश पर है । उतनी ऊँचाई तक देवों के सिवाय ऋद्धिधारी मुनि तथा विद्याधर भी जाते हैं । अतः ज्योतिर्लोक तक मनुष्यों के पहुँचने की संभावना तनिक भी अचरजकारी नहीं है ।

देवों का आवास है । ये ज्योतिषी देव मेरु पर्वत से ११२१ योजन दूर रहकर मेरु की परिक्रमा करते हैं ।

मधुर उत्प्रेक्षा

जब जिननाथ को लेकर देवेन्द्र समुदाय ज्योतिर्लोक के समीप से जा रहा था, उस समय के दृश्य को ध्यान में रखकर कवि अर्हंद्दास एक मधुर उत्प्रेक्षा करते हैं—

> मुग्धाप्सराः कापि चकार सर्वानुत्फुल्ल-दवग्रान् किल धूपचूर्णम् ।
> रथाग्रवासिन्यरुणे क्षिपंती हसंति चांगारधियस्य बुध्या ।।५–३१।।

किसी भोली अप्सरा ने सूर्य सारथि को अंगीठी की अग्नि समझकर उस पर धूपचूर्ण डालकर सबको हास्ययुक्त कर दिया था ।

सुमेरु की ओर जिनेन्द्रदेव को लेकर जाता हुआ समस्त सुर-समाज ऐसी आशंका उत्पन्न करता था, मानो जिनेन्द्र के समवशरण के समान अब स्वर्ग भी भगवान के साथ साथ विहार कर रहा है ।

मेरु पर पहुँचना

अब सौधर्मेन्द्र मेरु पर्वत के शिखर पर जिनेन्द्र भगवान के साथ पहुँच गए । महापुराण में कहा है :—सुरेन्द्र ने बड़े प्रेम से गिरिराज सुमेरु की प्रदक्षिणा की और पांडुकवन में ऐशान दिशा में स्थित पाँडुक-शिला पर भगवान को विराजमान किया । यह शिला सौ योजन लम्बी, आठ योजन चौड़ी और अर्धचंद्रमा के समान आकार वाली है । उस पांडुक वन में आग्नेय दिशा में पांडु कंबला, नैॠत्य दिशा में रक्ताशिला और वायव्य दिशा में रक्तकंबला शिला हैं ।

सुवर्ण वर्ण वाली पांडुक शिला पर भरतक्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकर का अभिषेक होता है । रूप्य अर्थात् रजत वर्णवाली पांडुकंबला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकर का; सुवर्ण वर्ण वाली रक्ताशिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर का तथा रक्त वर्णवाली पांडुकंबला शिला पर पूर्व विदेह के तीर्थंकर का अभिषेक होता है । यह कथन त्रिलोकसार (गाथा

६३३, ६३४) में आया है। तत्वार्थराजवार्तिक में पांडुकशिला को पूर्व दिशा में बताया है— "तस्यां प्राच्यां दिशि पांडुकशिला" (पृ० १२७)। वहाँ यह भी लिखा है— "अपाच्यां पांडुकंबलशिला" अर्थात् दक्षिण दिशा में पांडुकंबल-शिला है। "प्रतीच्यां रक्तकंबल-शिला" अर्थात् पश्चिम में रक्तकंबलाशिला है। "उदीच्यां अति-रक्तकंबलशिला" अर्थात् उत्तरमें अतिरक्तकंबलशिला है।

अकलंक स्वामी ने यह भी लिखा है कि—पूर्व दिशा के सिंहासन पर पूर्व विदेह वाले तीर्थंकर का, दक्षिण में भरत वालों का, पश्चिम में पश्चिम विदेहोत्पन्नों का तथा उत्तर के सिंहासन पर ऐरावत क्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरों का चारों निकाय के देवेन्द्र सपरिवार तथा महाविभूतिपूर्वक क्षीरोदधि के १००८ कलशों से अभिषेक करते हैं। कहा भी है—पौरस्त्ये सिंहासने पूर्वविदेहजान्, अपाच्ये भरतजान्, प्रतीच्ये अपरविदेहजान्, उदीच्ये ऐरावतजांस्तीर्थंकराश्चतुर्निकाय-देवाधिपाः सपरिवाराः महत्या विभूत्या क्षीरोदवारिपरिपूर्णाष्ट-सहस्र-कनककलशैरभिषिंचंति (पृ० १२७)।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि पांडुकशिला पर सूर्य के समान प्रकाशमान उन्नत सिंहासन है। सिंहासन के दोनों पार्श्वों में दिव्यरत्नों से रचे गए भद्रासन विद्यमान हैं। जिनेन्द्र भगवान को मध्य सिंहासन पर विराजमान करते हैं। सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठ पर और ईशान इन्द्र उत्तर पीठ पर अवस्थित होते हैं। (गाथा १८२२—२३—२८—२९, अध्याय ४)

उक्त विषय पर त्रिलोकसार की ये गाथाएँ प्रकाश डालती हैं—

पांडुक-पांडुकंबल-रक्ता तथा रक्तकंबलाख्याः शिलाः।
ईशानात् कांचन-रूप्या-तपनीय-रुधिरनिभाः ॥६३३॥
भरतापरविदेहैरावतपूर्वविदेह-जिननिबद्धाः
पूर्वापरदक्षिणोत्तर-दीर्घा अस्थिर-स्थिरभूमिमुखाः ॥६३४॥
मध्ये सिंहासनं जिनस्य दक्षिणगतं तु सौधर्मे।
उत्तरमीशानेंद्रे भद्रासनमिह त्रयं वृत्तम् ॥६३६॥

मेरु वर्णन

भरतक्षेत्र के जिनेन्द्र का मेरु पर्वत की पाँडुक शिला पर अभिषेक होता है। उस मेरु की नींव एक हजार योजन प्रमाण है। जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु का नाम सुदर्शन मेरु है। इस मेरु के अधोभाग में भद्रशाल वन है। पाँच सौ योजन ऊँचाई पर नन्दनवन है। पश्चात् साढ़े बासठ हजार योजन की ऊँचाई पर सौमनस वन है। वहाँ से छत्तीस हजार योजन ऊँचाई पर पांडुक वन है। इन चारों वनों में चारों दिशाओं में एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है। एक मेरु सम्बन्धी चारों वनों के सोलह चैत्यालय हैं। विजय, अचल, मंदर तथा विद्युन्माली नाम के चारों मेरुओं के सोलह-सोलह जिनालय मिलकर पांच मेरु सम्बन्धी अस्सी जिनालय आगम में कहे गए हैं। इन अकृत्रिम जिनालयों में अत्यन्त वैभवपूर्ण जीवित जैनधर्म समान मनोज्ञ १०८ जिनबिम्ब शोभायमान होते हैं। राजवार्तिक में लिखा है—"अर्हत्प्रतिमा अनाद्यनिधना अष्टशतसंख्याः वर्णनातीतविभवाः मूर्ता इव जिनधर्मा विराजंते" (पृ० १२६)

यह मेरु पर्वत नीचे से इकसठ हजार योजन पर्यन्त नाना रत्नयुक्त है। उसके ऊपर यह सुवर्ण संयुक्त है। त्रिलोकसार में कहा है—

> नानारत्नविचित्रः एकषष्ठि[स]हस्रेषु प्रथमतः।
> तत उपरि मेरुः सुवर्णवर्णान्वितः भवति ॥६१८॥

मेरु सम्बन्धी जिनालयों की वंदना करके देव, विद्याधर तथा चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वर आत्म-निर्मलता प्राप्त करते हैं। इस सुदर्शन मेरु की चालीस योजन ऊँची चूलिका कही गई है। उस चूलिका से बालाग्र भाग प्रमाण दूरी पर स्वर्ग का ऋजु विमान आ जाता है। इस एक लक्ष योजन ऊँचे मेरु के नीचे से अधोलोक आरम्भ होता है। मेरु प्रमाण मध्यलोक माना गया है। यही बात राजवार्तिक में इस प्रकार वर्णित है—"मेरुदयं त्रयाणां लोकानां मानदंडः। तस्याधस्तादधोलोकः। चूलिकामूलादूर्ध्वमूर्ध्वलोकः। मध्यमप्रमाणस्तिर्यग्वि-

स्तीर्णस्तिर्यग्लोकः। एवं च कृत्वाऽन्वर्थनिवचनं क्रियते। लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति" (पृ० १२७)

मेरु के वर्ण के विषय में अकलंक स्वामी ने लिखा है—"अधोभूमिभाग सम्बन्धी एक हजार योजन प्रमाण प्रदेश के ऊपर वैडूर्य मणिरूप मेरु का प्रथम कांड है। द्वितीय कांड सर्व रत्नमय है, तृतीयकाण्ड सुवर्णमय है। 'चूलिका वैडूर्यमयीं'—"चूलिका वैडूर्यमणिमयी है।" (पृ० १२७)

पांडुक शिला

पांडुक शिला के विषय में जिनसेन स्वामी का यह पद्य ध्यान देने योग्य है--

याऽमला शीलमालेव मुनीनामभिसम्मता।
जैनी तनुरिवात्यन्तभास्वरा सुरभिश्शुचिः ॥१३--९२॥

वह निर्मल पांडुकशिला शील-माला के समान मुनियों को अत्यन्त इष्ट है। वह जिनेन्द्र भगवान के शरीर के समान अत्यन्त दैदीप्यमान, मनोज्ञ तथा पवित्र है।

स्वयं धौतापि या धौता शतशः सुरनायकैः।
क्षीरार्णवाम्बुभिः पुण्यैः पुण्यस्येवाकरक्षितिः ॥१३--९३॥

वह शिला स्वयं धौत अर्थात् उज्ज्वल है, फिर भी सुरेन्द्रों ने सैकड़ों बार उसका प्रक्षालन किया है। वास्तव में वह पाँडुकशिला पुण्योत्पत्ति के लिए खानि की भूमि तुल्य है।

जन्माभिषेक

सभी देवगण जन्मोत्सव द्वारा जन्म सफल करने के हेतु पाँडुकशिला को घेरकर बैठ गए। देवों की सेना आकाशरूपी आँगन को व्याप्त कर ठहर गई। भगवान पूर्व मुख विराजमान किए गए। देव दुंदुभि बज रही थी। अप्सराएँ नृत्यगान में निमग्न थीं। अत्यन्त प्रशान्त, भव्य तथा प्रमोद परिपूर्ण वातावरण था। सौधर्मेन्द्र ने

अभिषेक के लिए प्रथम कलश उठाया । ईशानेन्द्र ने सघन चन्दन से चर्चित दूसरा पूर्ण कलश उठाया । बहुत से देव श्रेणिबद्ध होकर सुवर्णमयी कलशों से क्षीरसागर का जल लेने निकले ।

भगवान का रक्त धवल वर्ण का था । क्षीरसागर का जल भी उसी वर्ण का है । अतएव उस जल द्वारा जिनेन्द्रदेव का अभिषेक बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था । महापुराणकार कहते हैं—

पूतं स्वायंभुवं गात्रं स्प्रष्टुं क्षीराच्छशोणितम् ।
नान्यदस्ति जलं योग्यं क्षीराब्धि सलिलादृते ॥१३--१११॥

जो स्वयं पवित्र है, और जिसमें दुग्ध सदृश स्वच्छ रुधिर है, ऐसे भगवान के शरीर का स्पर्श करने के लिए क्षीरसागर के जल के सिवाय अन्य जल योग्य नहीं है, ऐसा विचारकर ही देवों ने पंचम क्षीरसागर के जल से पंचम गति को प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र के अभिषेक करने का निश्चय किया था ।

क्षीरसागर की विशेषता

क्षीरसागर के विषय में त्रिलोकसार का यह कथन ध्यान देने योग्य है—

जलयरजीवा लवणे कालेयंतिम-सयंभुरमणे य ।
कम्ममहीपडिबद्धे ण हि सेसे जलयरा जीवा ॥३२०॥

लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र ये कर्मभूमि से सम्बद्ध हैं । इनमें जलचर जीव पाए जाते हैं । शेष समुद्रों में जलचर जीव नहीं हैं ।

इससे यह विशेष बात दृष्टि में आती है कि क्षीरसागर का जल जलचर जीवों से रहित होने के कारण विशेषता धारण करता है । अभिषेक जल लाने के कलश सुवर्णनिर्मित थे । वे घिसे हुए चन्दन से चर्चित थे तथा उनके कंठभाग मुक्ताओं से अलंकृत थे "मुक्ता फलांचितग्रीवाः चन्दनद्रवचर्चिताः ।" (पृ० ११५)

सौधर्मेन्द्र की लोकोत्तर भक्ति

जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक की भक्ति में लीन सौधर्मेन्द्र की विचित्र अवस्था हो रही थी। देवों द्वारा लाए गए सभी १००८ कलशों को एक साथ धारण करने की लालसा से सुरेन्द्र ने विक्रिया द्वारा अनेक भुजाएँ बना लीं। अनेक आभूषणों से अलंकृत उन भुजाओं से वह इन्द्र भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष सदृश प्रतीत होता था; अथवा एक हजार भुजाओं द्वारा उठाए हुए तथा मोतियों से अलंकृत सुवर्ण-कलशों को धारण करते हुए वह सुरराज भाजनांग कल्पवृक्ष की शोभा को धारण करता था।

प्रथम जलधारा का हर्ष

सौधर्मेन्द्र ने जय-जय शब्द कहते हुए प्रभु के मस्तक पर प्रथम ही जलधारा छोड़ी, उस समय करोड़ों देवों ने भी जयजयकार के शब्दों द्वारा महान् कोलाहल किया था। आचार्य कहते हैं—

जयेति प्रथमां धारां सौधर्मेन्द्रो न्यपातयत्।
तथा कलकलो भूयान् प्रचक्रे सुरकोटिभिः ॥१६॥

भगवान के मस्तक पर पड़ती हुई उस पुण्यधारा ने समस्त भूमण्डल को पवित्र कर दिया था। महापुराणकार कहते हैं—

पवित्रो भगवान् पूतैः अंगैस्तदपुनाज्जलम्।
तत्पुनर्जगदेवेदम् अपावीद् व्याप्तदिङ्मुखम् ॥१३०॥

भगवान् तो स्वयं पवित्र थे। उन्होंने अपने पवित्र अङ्गों से उस जल को पवित्र कर दिया था। उस पवित्र जल ने समस्त दिशाओं में फैलकर सम्पूर्ण जगत् को पवित्र कर दिया था।

प्रभु के अतुल बल से विस्मय

भगवान में बाल्यकाल में भी अतुल बल था। विशाल कलशों से गिरी हुई जलधारा से बाल-जिनेन्द्र को रंचमात्र भी बाधा नहीं होती थी। यह देख अनेक देवगण विस्मय में निमग्न हो गए थे।

महावीर भगवान का जब मेरु पर इन्द्रकृत अभिषेक संपन्न होने को था, उस समय सुरेन्द्र के चित्त में यह शंका उत्पन्न हुई थी, कि भगवान का शरीर छोटा है। कहीं बड़े-बड़े कलशों के द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला यह महान् अभिपेक प्रभु के अत्यन्त सुकुमार शरीर को सन्ताप तो उत्पन्न न करे? भगवान ने अवधिज्ञान से इस बात को जानकर इन्द्र के सन्देह को दूर करने के लिए अपने पैर के अंगूठे के द्वारा उस महान गिरिराज को कम्पित कर दिया था। इससे प्रभावित हो इन्द्र ने वर्धमान तीर्थंकर का नाम 'वीर' रखा था। आचार्य प्रभाचन्द्र ने बृहत्प्रतिक्रमण की टीका में उपरोक्त कथन इन शब्दों में स्पष्ट किया है—"जन्माभिषेके च लघुशरीर-दर्शनादाशंकितवृत्तेरिंद्रस्य स्वसामर्थ्यख्यापनार्थं पादांगुष्ठेन मेरुसंचालनादिंद्रेण 'वीर' इति नाम कृतम् (पृ० ६६—प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी)।

वर्धमान चरित्र में उक्त प्रसङ्ग का इस प्रकार निरूपण किया गया है—

तस्मिन् तदा क्षुवति कंपित-शैलराजे घोणाप्रविष्ट सलिलात्पृथुकोदरेऽस्म्।
इन्द्रादयस्तृणमिवैकपदे निपेतुः वीर्यं निसर्गजमनंतमहो जिनानां ॥१७—८२॥

जिस समय इन्द्र ने बाल-जिनेन्द्र का अभिषेक किया, उस समय नासिका में जल के प्रवेश होने से उन बाल-जिनेन्द्र को छींक आ गई। उससे मेरु पर्वत कम्पित हो गया और इन्द्र आदिक तृण के समान सहसा गिर पड़े। जिनेश्वर के स्वाभाविक अपरिमित बल है।

यह प्रभाव देखकर इन्द्र न प्रभु का नाम वीर रखा था। पद्मपुराण का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—

पादांगुष्ठेन यो मेरुमनायासेन कंपयत्।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात् ॥२—७६॥

भगवान वर्धमान प्रभु ने बिना परिश्रम के पैर के अंगुष्ठ के द्वारा मेरु को कम्पित कर दिया था, इसलिए देवेन्द्र ने उनका नाम 'महावीर' रखा था। यथार्थ में तीन लोक में जिन भगवान की सामर्थ्य के समान दूसरे की शक्ति नहीं होती है। मेरु शिखर पर किया गया

उनका महाभिषेक भगवान जिनेन्द्र की बाल्य अवस्था में भी अपार सामर्थ्य को स्पष्ट करता है।

सुमेरु की धवलरूपता

क्षीर सागर की विपुल जलराशि से व्याप्त सुमेरु पर्वत रत्नपिंजर के स्थान में धवलगिरि की तरह दिखाई पड़ता था। हरिवंश-पुराण में कहा है—

> दृष्टः सुरगणैर्यः प्राग् मंदरो रत्नपिंजरः।
> स एव क्षीरपूरौघैर्धवलीकृतविग्रहः ॥८—१६८॥

अभिषेक की लोकोत्तरता

जिनेन्द्रदेव के लोकोत्तर अभिषेक के विषय में आचार्य लिखते हैं—

> स्नानासनमभून्मेरुः स्नानवारि-पयोम्बुधेः।
> स्नानसंपादका देवाः स्नानमीदृग् जिनस्य तत् ॥८—१७०॥

उनके स्नान का स्थल सुमेरु पर्वत था। क्षीर सागर का जल स्नान का पानी था। स्नान कराने वाले देवगण थे। जिन भगवान का स्नान इस प्रकार लोकोत्तर था। महापुराण में कहा है कि शुद्ध जला-भिषेक के पश्चात् विधि-विधान के ज्ञाता इन्द्र ने सुगन्धित जल से भगवान का अभिषेक किया था। इसके पश्चात् क्या हुआ? इस पर प्रकाश डालते हुए महापुराणकार कहते हैं—

> कृत्वा गंधोदकैरित्थं अभिषेकं सुरोत्तमाः।
> जगतां शांतये शांति घोषयामासमुच्चकैः ॥१३—१६७॥

इस प्रकार गंधोदक से भगवान का अभिषेक करने के उपरान्त इन्द्रों ने जगत् की शन्ति के लिए उच्च स्वर से शान्ति-मन्त्र का पाठ किया।

गंधोदक की पूज्यता

भगवान के अभिषेक के गंधोदक को मुनिजन भी आदर की दृष्टि से देखते हैं। कहा भी है—

माननीया मुनीन्द्राणां जगतामेकपावनी ।
साव्याद् गंधाम्बुधारास्मान् या स्म व्योमापगायते ॥१३--१६५॥

जो श्रेष्ठ मुनियों द्वारा आदरणीय है, जो जगत् को पवित्र करने वाले पदार्थों में अद्वितीय है और जो आकाशगङ्गा के समान शोभायमान है, ऐसी वह सुगन्धित जल की धारा हम सबकी रक्षा करे ।

इस प्रसङ्ग में कन्नड़ भाषा के महाकवि रत्नाकर का यह कथन स्मरण योग्य है—"हे रत्नाकराधीश्वर ! देवेन्द्र आपकी सेवा में अपना ऐरावत अर्पण कर गौरव को प्राप्त करता है । वह अपनी इन्द्राणी से आपका गुणगान कराता है । आपके अभिषेक के लिए देवताओं की सेना के साथ भक्तिपूर्वक सेवा करता है । श्रद्धापूर्वक छत्र धारण करता है, नृत्य करता है, पालकी उठाता है । जब इन्द्र की ऐसी मार्दवभावपूर्ण परणति है, तब क्षुद्र मानव का अहंकार धारण करना कहाँ तक उचित है ? (रत्नाकरशतक पद्य ८१)

बालरूप भगवान के अलंकार

श्रेष्ठ रीति से त्रिलोकचूड़ामणि जिनेन्द्र का जन्माभिषेक होने के पश्चात् इन्द्राणी ने बाल जिनेन्द्र को विविध आभूषणों तथा वस्त्रादि से समलंकृत किया । भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों के उपभोग में आने वाले रत्नमय आभूषण सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग में विद्यमान रत्नमय सींकों में लटकते हुए उत्तम रत्नमय करंडकों अर्थात् पिटारों में रहते हैं । तिलोयपण्णत्ति में इन पिटारों के विषय में लिखा है—"सक्कादि-पूजणिज्जा" अर्थात् ये इन्द्रादि के द्वारा पूजनीय हैं; 'अणादिणिहणा' अर्थात् अनादि निधन है तथा 'महारम्मा' महान् रमणीय हैं । (अध्याय ८, गाथा ४०३, पृ० ८३६, भाग दूसरा)

ये रत्नमय पिटारे वज्रमय द्वादशधारा युक्त मानस्तम्भों में पाए जाते हैं । त्रिलोकसार में भी कहा है—"सौधर्मद्विके तौ मानस्तंभौ भरतैरावततीर्थंकरप्रतिबद्धौ स्याताम् ।" सानत्कुमार

माहेन्द्र स्वर्ग के मानस्तम्भों में पूर्वापर विदेह के तीर्थंकरों के भूषण रहते हैं। (त्रिलोकसार गाथा ५२१, ५२२)

प्रभु का जन्मपुरी में आगमन

सुन्दर वस्त्राभूषणों से प्रभु को समलंकृत कर सुरराज ने अपने अंतःकरण के उज्ज्वल भावों को श्रेष्ठ स्तुति के रूप में व्यक्त किया। पश्चात् वैभव सहित वे देव-देवेन्द्र ऐरावत गज पर प्रभु को विराजमानकर अयोध्यापुरी आए। इन्द्र ने महाराज नाभिराज के सर्वतोभद्र महाप्रासाद में प्रवेशकर श्रीगृह के आँगन में भगवान को सिंहासन पर विराजमान किया। उस समय क्या हुआ, यह महापुराणकार के शब्दों में ध्यान देने योग्य है—

> नाभिराजः समुद्भिन्नपुलकं गात्रमुद्वहन्।
> प्रीतिविस्फारिताक्षस्तं ददर्श प्रियदर्शनम् ।।७४।।
>
> मायानिद्रामपाकृत्य देवी शच्या प्रबोधिता।
> देवीभिः सममैक्षिष्ट प्रहृष्टा जगतां पतिम् ।।१४--७५।।

महाराज नाभिराज उन प्रियदर्शन भगवान को प्रेम से विस्तृत नेत्र करके रोमाञ्चयुक्त शरीर होकर देखने लगे।

माया निद्रा को दूरकर इन्द्राणी के द्वारा प्रबोध को प्राप्त जिन जननी ने अत्यन्त आनन्दित हो देवियों के साथ भगवान का दर्शन किया।

माता-पिता का वर्णनतीत आनन्द

गर्भ में प्रभ के आगमन के छह माह पूर्व से ही रत्नों की वर्षा द्वारा भगवान के जन्म की सूचना पाए हुए माता-पिता को इस समय प्रभ का दर्शन कर जो कल्पनातीत सुख प्राप्त हुआ, वह कौन बता सकता है? तीर्थंकर के जन्म से जब जगत् भर के जीवों को अपार आनन्द प्राप्त हुआ, तब उनके ही माता-पिता के आनन्द की सीमा बतान की कौन धृष्टता करेगा?

धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है—

उत्संगमारोप्य तमंगजं नृपः परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ।
प्रंतर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघटयन्निव द्वयम् ॥९—११॥

पिता ने अपने अङ्ग से उत्पन्न अङ्गज अर्थात् पुत्र को गोद में लिया तथा आलिङ्गन किया। उस समय उनके दोनों नेत्र बन्द हो गए थे।

शंका

इन्द्र ने जब प्रभु का प्रथम बार दर्शन किया था, तब वह तो सहस्त्र नेत्रधारी बना था, किन्तु यहाँ त्रिलोकीनाथ के पिता ने मनुष्य को सहज प्राप्त चक्षुयुगल का उपयोग न ले उनको भी क्यों बन्द कर लिया था!

इस शंका के समाधान हेतु महाकवि के उक्त पद्य का उत्तरार्ध ध्यान देने योग्य है। कवि का कथन है कि—"पिता ने भगवान के दर्शनजनित सुख को शरीर रूपी भवन के भीतर रखकर नेत्ररूपी कपाट-युगल को बन्द कर लिया, जिससे वह हर्ष बाहर न चला जाय।" कितनी मधुर तथा आनन्ददायी उत्प्रेक्षा है?

एक नरभव धारण करने के पश्चात् शीघ्र ही सिद्ध भगवान बनकर भगवान के साथ में सिद्धालय में निवास करने के सौभाग्य वाले इन्द्र की भक्ति, विवेक तथा प्रवीणता परम प्रशंसनीय थी। सुविज्ञ सुरराज ने जिनराज के माता-पिता का भी समुचित समादर किया। महापुराणकार लिखते हैं—

माता-पिता की पूजा का भाव

ततस्तौ जगतां पूज्यौ पूजयामास वासवः।
विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिः अंशुकैश्च महार्घकैः ॥१४—७८॥

इसके अनन्तर सुरराज ने महामूल्य तथा आश्चर्यकारी आभूषणों, मालाओं तथा वस्त्रों से जगत्-पूज्य जिनेन्द्र के माता-पिता की पूजा की।

यहाँ भगवान के माता-पिता के सम्मान कार्य के लिए श्लोक म 'पूजा' का वाचक 'पूजयामास' शब्द आया है। इसके प्रकाश में पूजा के प्रकरण में उत्पन्न अनेक विवाद सहज ही शांत हो जाते हैं। पूजा का अर्थ है सन्मान करना। पूज्य की पात्रता आदि को ध्यान में रखकर यथायोग्य पूजा करना पूजक की विवेकमयी दृष्टि पर आश्रित है। वीतराग भगवान की पूजा तथा अन्य की पूजा में पूजा शब्द के प्रयोग की अपेक्षा समानता होते हुए भी उसके स्वरूप तथा लक्ष्य में अन्तर है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में जिनेन्द्र देव की पूजा, आराधना का लक्ष्य संसार-सताप का क्षय करना है। जिनेन्द्र जनक-जननी की पूजा शिष्टाचार तथा भद्रतापूर्ण व्यवहार है। पुत्र की पूजा करके पिता-माता की उपेक्षा करना इन्द्र जैसी विवेकीआत्मा के लिये अक्षम्य अशोभन बात होगी। पूजा शब्द को सुनने मात्र से घबड़ाना नहीं चाहिये। अर्थ पर दृष्टि रखना विवेकी का कर्तव्य है।

इन्द्र द्वारा स्तुति

महापुराण के शब्दों में इंद्र ने महाराज नाभिराज की स्तुति में कहा—

भो नाभिराज सत्यं त्वं उदयाद्रिर्महोदयः।
देवी प्राच्येव यज्ज्योतिः युष्मत्तः परमुद्बभौ ॥८१॥

हे नाभिराज! वास्तव में आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल हैं और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा है, क्योंकि जिनेन्द्र सुत-स्वरूप-ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है।

देवधिष्ण्यमिवागारम् इदमाराध्यमद्य वाम्।
पूज्यौ युवां च नः शश्वत् पितरौ जगतां पितुः ॥पर्व १४—८२॥

आज आपका भवन हमारे लिए जिनेन्द्र-मन्दिर सदृश पूज्य है (साक्षात् बाल-जिनेन्द्र उस भवन में प्रत्यक्ष नयनगोचर हो रहे हैं)। आप जगत् के पिता भगवान के भी माता-पिता हैं, अतएव हमारे लिए सदा पूज्य हैं।

इन्द्र ने भगवान के जन्म महोत्सव का जो सजीव वर्णन किया, उसे सुनकर माता-पिता को अत्यन्त हर्ष हुआ।

पिता मेरु पर क्यों नहीं गए ?

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है, कि बुद्धिमान इन्द्र ने मेरु पर्वत पर प्रभु को वैभवपूर्वक ले जाते समय भगवान के पिता को ले जाने के कार्य में क्यों प्रमाद किया ? उस महोत्सव को प्रत्यक्ष देखकर पिता को कितना आनन्द होता ! माता ने पुत्र को उत्पन्न किया है। भगवान के अतुल बल था, इससे उनको मेरु पर ले जाना ठीक था, किन्तु माता की शरीर स्थिति ऐसी नहीं होगी, जो उनको मेरु की यात्रा कराई जाय। यह कठिनता पिता के विषय में उत्पन्न नहीं होती। भगवान के पिता का संहनन भी श्रेष्ठ था। कर्मभूमि सम्बन्धी स्त्री होने से माता के वज्रवृषभ नाराच, वज्र नाराच तथा नाराच संहनन त्रय का अभाव था, "अन्तिमतिय-संहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं। आदिमतिगसंहणणं णत्थित्ति जिणेहिं-णिद्दिट्ठं" (कर्मकांड गोम्मटसार, ३२); अतएव जन्मोत्सव में भगवान के पिता को नहीं ले जाने का क्या रहस्य है ?

समाधान

इस समस्या का समाधान विचारते समय यह प्रति-प्रश्न उठता है, कि यदि भगवान के पिता को मेरुगिरि पर ले गए होते तो क्या परिणाम निकलता ? भगवान के पिता भगवान की अपार सामर्थ्य को मोहवश पूर्ण रीति से नहीं सोच सकते थे। तत्काल उत्पन्न बालक को लाख योजन उन्नत पर्वत के शिखर पर विराजमान करके एक हजार आठ विशाल सुवर्ण कलशों से उनका अभिषेक होना कौन पिता पसन्द करेगा ? ममतामय पिता का हृदय अनिष्ट की आशंका-वश या तो अभिषेक करने में विघ्नरूप बनता अथवा उनकी ऐसी शोचनीय अवस्था सम्भव थी, जो इस आनन्द सिंधु में निमग्न समस्त

विश्व के मध्य अद्भुत होती। सारा संसार तो जन्मोत्सव से सुखी हो रहा है और उसी समय भगवान के पिता की मानसिक दशा भयंकर चिन्ता, मनोव्यथा से परिपूर्ण हो यह स्थिति अद्भुत होती। प्रभु के जन्मोत्सव में निमग्न सभी थे। कौन उस आनंद की बेला में पिता को बैठकर उनको समझाते रहता तथा उनकी योग्य रीति से रक्षा करता? ऐसी अनेक विकट परिस्थितियों की कल्पना का भी उदय न हो, इसीलिए प्रतीत होता है विवेकमूर्ति इन्द्र ने सुमेरु के शीश पर पिता को ले जाने की आपत्ति स्वीकार नहीं की। यह भी संभव है कि भगवान के पिता के विषय में उक्त आशंका भ्रममूलक ही हो, फिर भी इन्द्र इस विषय में खतरा मोल लेने को तैयार नहीं था। जैसे जिन-जननी को पुत्र वियोग की व्यथा का अनुभव न हो, इसलिए माता को मायामयी बालक सौंपकर सुरराज ने सामयिक कुशलता का कार्य किया था, ऐसी ही विचारकता इन्द्र ने पिता के विषय में प्रयुक्त की थी। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त प्रश्न महत्वशून्य बन जाता है।

जन्मपुरी में उत्सव

सुमेरुगिरि पर तो असंख्य देवी देवताओं ने जन्मोत्सव मनाया यह तो बड़ा सुन्दर कार्य हुआ, किन्तु प्रभु की जन्मपुरी में भी कोई उत्सव मनाया गया क्या? इसके समाधान में आचार्य जिनसेन स्वामी लिखते हैं, "इन्द्र के द्वारा जन्माभिषेक की सब कथा मालूम कर माता-पिता दोनों ही आनंद और आश्चर्य की अंतिम सीमा पर आरुढ़ हुए। उन्होंने इन्द्र से परामर्शकर बड़ी विभूति पूर्वक पुरवासियों के साथ जन्मोत्सव किया था। सारे संसार को आनन्दित करने वाला यह महोत्सव जैसा मेरु पर्वत पर हुआ था, वैसा ही अन्तःपुर सहित इस अयोध्यापुरी में हुआ। उन नगर वासियों का आनन्द देखकर अपने आनंद को प्रकाशित करते हुए इन्द्रने आनन्द नामक नाटक करने में अपना मन लगाया।" उस समय इन्द्र ने जो नृत्य किया था, वह अपूर्व था। आचार्य कहते हैं, "उस

समय अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे। तीनों लोकों में फैली हुई कुलाचलों सहित पृथ्वी ही उसकी रंगभूमि थी। स्वयं इन्द्र प्रधान नृत्य करने वाला था। महाराज नाभिराज आदि उत्तम पुरुष उस नृत्य के दर्शक थे। जगद्गुरु भगवान वृषभदेव उसके आराध्य थे। धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परम आनंदमय मोक्ष ही उसका फल था। कहा भी है--

प्रेक्षका नाभिराजाद्याः समाराध्यो जगद्गुरुः।
फलं त्रिवर्गसंभूतिः परमानंद एव च ॥१४--१०२॥

इन्द्र ही नटराज है

भक्ति के रस में निमग्न होकर जब इन्द्र ने तांडव नृत्य किया, उस समय की शोभा तथा आनंद अवर्णनीय थे। जिस समय वह इन्द्र विक्रिया से हजार भुजाएँ बनाकर नृत्य कर रहा था, उस समय पृथ्वी उसके पैरों के रखने से कंपित होने लगी थी, कुलाचल चंचल हो उठे थे, समुद्र भी मानो आनंद से शब्द करता हुआ नृत्य करने लगा था। नृत्य करते समय वह इन्द्र क्षणभर में एक तथा क्षण भर में अनेक हो जाता था। क्षणभर में सब जगह व्याप्त हो जाता था, क्षणमात्र में छोटासा रह जाता था; इत्यादि रूप से विक्रिया की सामर्थ्य से उसने ऐसा नृत्य किया मानो इन्द्र ने इन्द्रजाल का ही प्रयोग किया हो।

"इन्द्रजालमिवेन्द्रेण प्रयुक्तमभवत् तदा" ॥१४--१३१॥

भारतीय शिल्पकला में नृत्य के विषय में नटराज की श्रेष्ठ कलामय मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। [1]सर्व श्रेष्ठ मूर्ति तंजौर के वृहदीश्वर नामके हिन्दूमंदिर में हैं। प्रतीत होता है कि भगवान के जन्म महोत्सव पर अलौकिक नृत्य करने वाला इन्द्र ही नटराज के रूप में पूज्यता को प्राप्त हो गया है।

---

१ भारतीय मूर्तिकला पृष्ठ १४६, नागरी प्रचारिणी सभा काशी

भगवान की अनुपम भक्ति कर इन्द्र ने भगवान की सेवा के लिए उनके अनुरूप देवों तथा देवियों को नियुक्त कर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया ।

भगवान के जीवन की लोकोत्तरता

जिस प्रकार चन्द्रमा क्रमशः विकास को प्राप्त होता है, उसी भगवान शिशु-सुलभ मधुरताओं के द्वारा सबको सुख पहुँचाते हुए धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे । उनका विकास लोकोत्तर होते हुए भी पूर्णतया स्वाभाविक था । उनमें जन्म सम्बन्धी दस बातें थीं, जिनको जन्मातिशय कहते हैं । नन्दीश्वर भक्ति में पूज्यपाद आचार्य उनकी इस प्रकार परिगणना करते हैं—

> नित्यं निःस्वेदत्वं निर्मलता क्षीर-गौर-रुधिरत्वं च ।
> स्वाद्याकृति-संहनने सौरूप्यं सौरभं च सं.लक्ष्यम् ।।३८।।
> अप्रमितवीर्यता च प्रियहितवादित्व-मन्यदमितगुणस्य ।
> प्रथिता दशसंख्याताः स्वतिशयधर्माः स्वयंभुवो देहस्य ।३९।।

स्वयंभू भगवान के शरीर में नित्य निःस्वेदता अर्थात् पसीना-रहितपना था । मल-मूत्र का अभाव था । क्षीर के समान गौरवर्ण युक्त रुधिर था । उनका संहनन वज्रवृषभ नाराच था । समचतुरस्र संस्थान अर्थात् सुन्दर और सुव्यवस्थित अङ्गोपाङ्गों की रचना थी। अत्यन्त सुन्दर रूप था । शरीर सुगन्ध सम्पन्न था । उसमें एक हजार आठ शुभ लक्षण थे, अतुल बल था । वे प्रिय तथा हितकारी वाणी बोलते थे ।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है—"एदं तित्थयराणं जम्मग्गहणादि उप्पण्णं" (भाग १, गाथा ८९६—८९८, अध्याय ४) । ये दश स्वाभाविक अतिशय तीर्थंकर के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न होते हैं ।

लोकोत्तरता का रहस्य

यह शंका की जा सकती है, कि तीर्थंकर को अलौकिक

महापुरुष मानकर उनमें असाधारण बातों को स्वीकार करने के स्थान में विविध मत-प्रवर्तकों के समान उनकी समस्त बातों की मान्यता तीर्थंकर के जीवन को पूर्ण स्वाभाविक रूपता प्रदान करती। चमत्कारों का स्वाभाविकता के साथ सामंजस्य नहीं बैठता।

इस आशंका के समाधान हेतु हमारी दृष्टि कार्य-कारण भाव के विश्वमान्य तर्कसङ्गत सिद्धान्त की ओर जाना चाहिये। सुविकासपूर्ण स्थिति में तीर्थंकर रूप मनोज्ञ वृक्ष को देखकर जिनको आश्चर्य होता है, वे गम्भीरता पूर्वक यह भी विचार करें, कि इस वृक्ष के बीज-वपन के पूर्व से कितनी बुद्धिमत्ता, परिश्रम, विवेक और उद्योग का उपयोग किया गया है ? किस-किस प्रकार की श्रेष्ठ सामग्री जुटाई गई ? तब वह आश्चर्य आश्चर्यस्वरूप रहते हुए भी स्वाभाविकता समलंकृत प्रतीत होने लगता है। तीर्थंकर बनानेवाली अनेक भवों की अद्‌भुत तपः साधना, ज्ञानाराधना तथा स्वावलम्बनपूर्ण समस्त जीवनी पर गम्भीर दृष्टि डालने से अनेक प्रकार की शंकाओं का जाल उसी प्रकार दूर हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य की किरणमालिका के द्वारा अन्धकार का विनाश हो जाता है।

जन-साधारण सदृश दुर्बलताओं तथा असमर्थताओं का केन्द्र तीर्थंकर को भी होना चाहिये, यह कामना उसी प्रकार विनोद तथा परिहास प्रवर्धक है, जैसे नक्षत्र मालिकाओं में अल्प दीप्ति तथा प्रकाश को देख यह इच्छा करना कि इसी प्रकार सूर्य की दीप्ति तथा प्रकाश होना चाहिये। श्रेष्ठ साधना के द्वारा जिस प्रकार के श्रेष्ठ फलों की उपलब्धियाँ होती हैं, उसका प्रत्यक्ष दर्शन तीर्थंकर भगवान के जीवन में सभी जीवों को हुआ करता है। इस विषय की यथार्थता को हृदयङ्गम करने के लिए समीक्षक का ध्यान तीर्थंकरत्व के लिए बीज स्वरूप षोडश भावनाओं की ओर जाना उचित है। कारण रूप भावनाओं की एक रूपता रहने से कार्यरूप में विकसित तीर्थंकर स्वरूप विशाल वृक्ष भी समानता समलंकृत होता है।

तीर्थंकरों में समानता का कारण

इस प्रकाश में यह आशंका भी दूर हो जाती है कि सभी तीर्थंकर समान रूप के क्यों होते हैं ? एक आदमी का रूप-रङ्ग, ढङ्ग दूसरे से नहीं मिलता, किन्तु एक तीर्थंकर दूसरे से असमान नहीं दिखते, क्योंकि उत्कृष्ट साधना के द्वारा जिनश्रेष्ठ परमाणुओं द्वारा एक तीर्थंकर का शरीर-निर्माण होता है, वे ही साधन अन्य तीर्थंकर को भी समुपलब्ध होते हैं । तीर्थंकर भगवान के जीवन के अन्तः बाह्य सौन्दर्य का चमत्कार यथार्थ में भगवती अहिंसा तथा सत्य की समाराधना का ही अद्भुत परिणाम है ।

जिन सन्तों या धर्म संस्थापकों का वर्तमान तथा अतीत जीवन हिंसामयी भावनाओं तथा प्रवृत्तियों पर अवस्थित रहता है, उनका रूप-रङ्ग, ढङ्ग आदि उनकी आंतरिक स्थिति के अनुरूप होता है । जीववध करते हुए भी जिनके मुख से संकोच रहित विश्वप्रेम की वाणी जगत् को सुनाई जाती है, उनके समीप अहिंसा का सौन्दर्य कैसे आनन्द और अभ्युदयों की वर्षा करेगा ? खोजा वर्ग के स्व० आगाखान कहते थे—"शराब का मेरे मुख से सम्पर्क होते ही मेरे प्रभाववश जल रूप में परिवर्तन हो जाता है ।" एक जापानी प्रोफेसर ने सन् १९५६ में हमसे जापान में कहा था, "शराब और पानी में कोई अंतर नहीं है । मुखद्वार से भीतर जाकर पानी भी उसी तत्व-रूप में परिवर्तित होता है, जिस रूप में शराब रहती है ।" पश्चिम का विख्यात दार्शनिक सुकरात सदृश विचारक व्यक्ति भी अहिंसा के अंतस्तत्व को हृदयंगम न कर विषपान द्वारा प्राण परित्याग के पूर्व अपने स्नेही क्रिटो (Crito) से कहता है, कि मेरी एक अंतिम इच्छा तुम्हें पूर्ण करना है, "I owe a cock to Asclepius" मुझे एसक्लिपियस देवता के यहाँ एक मुर्गा भेंट करना था, अतः यह बलिदान का काम तुम पूरा कर देना । इस प्रकार दुनियाँ में प्रसिद्धि प्राप्त बड़े-बड़े धर्म तथा सांस्कृतिक प्रमुख लोगों की

कथा है। उन लोगों के जीवन पर उनके धार्मिक साहित्य का प्रभाव है, जिसमें जीववध करते हुए भी उज्ज्वल जीवन निर्माण में बाधा नहीं आती।

कोयले के घिसने से जैसे धवलता की वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार हिंसा को विविध कल्पनामयी आभूषणों से अलंकृत करने पर भी दु:ख, दरिद्रता, सन्ताप आदि की बाढ़ को नहीं रोका जा सकता। भगवान जिनेन्द्र का श्रेष्ठ अहिंसामय जीवन ऐसी विशेषताओं का केन्द्र बनता है, जिसका अन्यत्र दर्शन होना असम्भव है। इन शब्दों के प्रकाश में तीर्थंकर के जन्म सम्बन्धी पूर्वोक्त अतिशय कवि कल्पना प्रसूत अतिशयालंकार न होकर वास्तविक विशेषताएँ प्रतीत होंगे। अहिंसा की सच्ची स्वर्णमुद्रा समर्पण करने पर प्रकृति देवी लोकोत्तर सामग्री दान द्वारा जीवन को समलंकृत करती है। इसमें क्या आश्चर्य की बात है?

अतिशय काल्पनिक नहीं हैं

कुछ लोग लोकरुचि को परितृप्त करने के हेतु तीर्थंकर भगवान के जीवन की अपूर्वताओं को पौराणिक कल्पना कहकर उनको दूसरों के समान सामान्य रूपता प्रदान करते हैं। अपूर्वताओं को बदलकर अपूर्णताओं को स्थानापन्न बनाना ऐसा ही अनुचित कार्य है, जैसे सर्वाङ्ग सुन्दर व्यक्ति के हाथ, पांव तोड़कर तथा आंख फोड़कर उसे विकृत बनाना है। जिन्हें आत्मकल्याण इष्ट है, वे भव्यजन वीतराग वाणी पर पूर्ण तथा अविचलित श्रद्धा धारण करते हैं।

परीक्षा-प्रधानियों के परमाराध्य देवागमस्तोत्र के रचयिता महान तार्किक आचार्य समंतभद्र भी भगवान के अतिशयों को परमार्थ-सत्य स्वीकार करते हुए तथा अपने बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में उनका उल्लेख करते हुए प्रभु का स्तवन करते हैं। मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के स्तवन में वे भगवान के रुधिर को शुक्ल वर्ण का स्वीकार करते हुए उनके

शरीर को मल रहित कहते हैं। भगवान अरनाथ के स्तवन में वे इंद्र के हजार नेत्र बनाने की पौराणिक कथनी को प्रमाण मानकर उसका उल्लेख करते हैं; किन्तु आज के अल्प अभ्यासी कोई-कोई व्यक्ति इन बातों पर अविश्वास व्यक्त करने में स्वयं को ऐसा कृतार्थ अनुभव करते हैं, जैसे कूपमंडूक समुद्र के सद्भाव को मिथ्या बताता हुआ छोटे से जलाशय को ही समुद्र मानता है तथा अपने को ही सत्यज्ञानी अनुभव करता है। कूपमंडूक की दृष्टि से सर्वज्ञ प्रणीत जिनवाणी का रसपान संभव नहीं है। इसके लिए व्यापक तथा गंभीर दृष्टि आवश्यक है। समीक्षक पुरुषार्थी परिश्रम के द्वारा आगम के रहस्य को भली प्रकार जान सकता है।

सर्वज्ञ वाणी में असत्यका लेश भी नहीं है। परीक्षा की योग्यता के बिना जो परीक्षक बनने का अभिनय करते हैं, उनको दुर्गति होती है और सत्य की उपलब्धि भी नहीं होती। "भगवान का शरीर पसीना रहित है। मलमूत्र रहित है। आहार होते हुए भी नीहार नहीं है," इस आगम वाक्य के पीछे यह वैज्ञानिक सत्य निहित है, कि तीर्थंकर आदि विशिष्ट आत्माओं की जठराग्नि इस जाति की होती है कि उसमें डाली गई वस्तु रस, रुधिर आदि रूप परिणत हो जाती है। ऐसा तत्व उसमें नहीं बचता है, जो व्यर्थ होने के कारण मल, मूत्र आदि रूप से निकाल दिया जाय।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जब जठराग्नि मन्द होती है तब मनुष्य के द्वारा गृहीत वस्तु से सार तत्व शरीर को नहीं प्राप्त होता है और प्राय: खाई गई सामग्री बाहर निकाल दी जाती है। इससे खूब खाते हुए भी व्यक्ति क्षीण होता जाता है। इसके ठीक विपरीत स्थिति उक्त महान पुरुषों की होती है। शरीर में प्राप्त समस्त सामग्री का रुधिरादि रूप में परिणमन हो जाता है।

श्वेत रक्त का रहस्य

भगवान के शरीर में श्वेत रूप धारण करने वाला रुधिर

होता है। इस विषय में यह बात गंभीरता पूर्वक विचारणीय है कि अपने पुत्र के लिये स्नेह से क्षण भर में माता के स्तन में दुग्ध आ जाता है। माता रुक्मणी ने प्रद्युम्न को देखा ही था कि उसके हृदय में नैसर्गिक स्नेह भाव उत्पन्न होने से स्तनों में दुग्ध आ गया था। इस शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक व्यवस्था को ध्यान में रखने से यह बात अनुमान करना सम्यक् प्रतीत होता है कि जिनेन्द्र भगवान् के रोम-रोम में समस्त जीवों के प्रति सच्ची करुणा, दया तथा प्रेम के बीज परिपूर्ण हैं। तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते समय दर्शन-विशुद्धि भावना भाई गई थी। दूसरे शब्दों में उसका यह रहस्य है कि भगवान् ने विश्वप्रेम के वृक्ष का बीज बोया था, जो वृद्धि को प्राप्त हुआ है और केवलज्ञान काल में अपने फल द्वारा समस्त जगत् को सुख तथा शांति प्रदान करेगा। एकेन्द्रिय वनस्पति तक प्रभु के विश्वप्रेम की भावना रूप जल से लाभ प्राप्त करेगी। इसी से केवलज्ञान की उल्लेखनीय महत्वपूर्ण बातों में कहा है, कि सौ योजन की पृथ्वी धान्यादि से हरी-भरी हो जाती है।

भगवान् का हृदय संपूर्ण जीवों को सुख देने के लिए जननी के तुल्य है। समंतभद्र स्वामी ने भगवान् सुपार्श्वनाथ के स्तवन में उन्हें 'मातेव बालस्य हितानुशास्ता' बालक के लिए कल्याणकारी अनुशासनदात्री माता के समान होने कारण मातृ-तुल्य कहा है। प्राणी मात्र के दुःख दूर करने की भावना तथा उसके योग्य सामर्थ्य और साधन सामग्री समन्वित मातृचेतस्क जिनेन्द्र के शरीर में रुधिर का श्वेतवर्ण युक्त होना तीर्थंकर की उत्कृष्ट कारुणिक वृत्ति तथा महत्ता का परिचायक प्रतीत होता है।

शरीर सम्बन्धी विद्या में प्रवीण लोगों का कहना है, कि महान बुद्धिमान, सदाचारी, कुलीनतादि संपन्न व्यक्तियों के रक्त में रक्तवर्णीय परमाणु पुंज के स्थान में धवलवर्णीय परमाणु पुंज (White Blood Corpuscles) विशेष पाए जाते हैं। आज

के असदाचार प्रचुर युग का शरीर-शास्त्रज्ञ वर्तमान युग के हीनाचरण मानवों के रक्त को शोधकर उपरोक्त विचारपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। यदि यह कथन सत्य है, तो तीर्थंकर भगवान के शरीर के रुधिर की धवलता को स्थूल रूप से समझने में सहायता प्राप्त होती है।

रक्त में विरक्तता

एक बात और है; भगवान आरम्भ से ही सभी लोगों के प्रति आसक्ति रहित हैं; अतएव विरक्त आत्मा का रक्त यदि वि रक्त अर्थात् विगत रक्तपना, लालिमा शून्यता संयुक्त हुआ, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विरक्तों के आराध्य देव का देह सचमुच में वि रक्त परमाणुओं से ही निर्मित मानना पूर्ण संगत है। सरागी जगत् के लोगों का शरीर विषयों में अनुरक्त रहने से क्यों न रक्त वर्ण का होगा?

भगवान का रोम रोम विषयों से विरक्त था। इतना ही नहीं उनकी वाणी विरक्तता अर्थात् वीतरागता का सदा सिंहनाद करती थी। मौन स्थिति में उनके शरीर से ऐसे परमाणु बाहर जाते थे, जिससे उज्ज्वल ज्योति जागती थी, इसी अलौकिकता के कारण सौधर्मेन्द्र सदा प्रभु के चरणों का शरण ग्रहण करता था।

भगवान के हृदय में, विचार में, जीवन में जैसी विरक्तता थी, वैसी ही उनके रुधिर में विरक्तता थी। इन्द्र भी चाहता था कि प्रभु की अंतः बाह्य विद्यमान विरक्तता मुझे भी प्राप्त हो जाय। वैसे देवों के शरीर में भी विरक्त पना है, किन्तु आंतरिक विरक्तपना के बिना बाह्य विरक्तपना शव का शृंगार मात्र है। औदारिक शरीरधारी होकर अंतः बाह्य विरक्तपना के धारक तीर्थंकर ही होते हैं। सरागी शासन में इस विरक्तता की कल्पना नहीं हो सकती; यह बात तो वीतरागी शासन में ही बताई जा सकती है। वैभव-शून्य व्यक्ति वैभव के शिखर पर स्थित श्रेष्ठात्माओं की कल्पना भी नहीं कर सकता है।

भगवान में प्रारम्भ से ही विरक्तता है, इसका आधार यह है, कि वे जब माता के गर्भ में आने के समय से लेकर आठ वर्ष की अवस्था के होते हैं, तब वे सत्पुरुषों के योग्य देशसंयम को ग्रहण करते हैं। उत्तरपुराण में लिखा है—

स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत् ।
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेषां देशसंयमः ।।६—३५

सब तीर्थंकरों के अपनी आयु के आरंभ से आठ वर्ष के आगे से देशसंयम होता है, कारण उनके प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन कषायें उदयावस्था को प्राप्त हैं। यदि प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होता, तो वे महाव्रती बन जाते।

ततोस्य भोगवस्तूनां साकल्येपि जितात्मनः ।
वृत्तिर्नियमितैकाभूदसंख्येयगुणनिर्जरा ।।६—३६।।

यद्यपि इन जिनेन्द्र देव के भोग्य वस्तुओं की परिपूर्णता थी, फिर भी वे जितेन्द्रिय थे। उनकी प्रवृत्ति नियमित रूप से ही होती थी, इससे उनके असंख्यातगुणी निर्जरा होती थी।

शुभ लक्षण

लोकोत्तर त्याग, तपस्या तथा पवित्र मनोवृत्ति के फल स्वरूप भगवान का शरीर सर्व सुलक्षण संपन्न था। सामुद्रिक शास्त्र में एक हजार आठ लक्षणों का सद्भाव श्रेष्ठ आत्मा को सूचित करता है। भगवान् के शरीर में वे सभी चिन्ह थे। महापुराणकार कहते हैं—

अभिरामं वपुर्भर्तुः लक्षणैरभिराजितः ।
ज्योतिर्भिरिव संछन्नं गगनप्रांगणं बभौ ।।१५—४५।।

मनोहर तथा श्रेष्ठ लक्षणों से अलंकृत भगवान का शरीर ज्योतिषी देवों से व्याप्त आकाश रूपी प्रांगण के समान प्रतीत होता था।

उनके शरीर में शंख, चक्र, गदादि १०८ चिन्ह (लक्षण) तथा तिल, मसूरिकादि नौसौ व्यंजन थे। आज के भोगप्रचुर युग में

लोकातिशायी पुण्यशाली नर रत्नों की उत्पत्ति न होने से श्रेष्ठ चिन्हों के दर्शन भी नहीं होते हैं। यदा कदा किन्हीं विशेष पुण्यशाली व्यक्तियों के कुछ थोड़े चिन्ह पाए जाते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विविध महापुरुषों का जीवन चरित्र पढ़ा जाय तो यह ज्ञात होगा, कि एक हजार आठ लक्षणों से शोभायमान शरीर वाले तीर्थंकर जिनेन्द्रदेव के सिवाय अन्य व्यक्ति नहीं हैं।

तत्वार्थराजवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है कि जिनवाणी के अंतर्भेद विद्यानुवाद नामक दशम पूर्व में शरीर के शुभ-अशुभ चिन्हों का वर्णन किया गया है। अष्टांगनिमित्त ज्ञान में अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, छिन्न, व्यंजन तथा लक्षण सम्बन्धी विद्या का समावेश है। धवला टीका से विदित है कि इस निमित्त-विद्या में आचार्य धरसेन स्वामी प्रवीण थे। उनको "अट्ठंग-महाणि-मित्त-पारएणं" अष्टांग-निमित्त विद्या का पारगामी कहा है।

आजकल कुछ लोग प्रमाद एवं अहंकारवश व्यवस्थित रीति से जिनागम का अभ्यास न कर स्वयं एकाध अध्यात्मशास्त्र को कुछ देखकर अपने में लघु सर्वज्ञ की कल्पना करते हुए अन्य शास्त्रों के अभ्यास को निस्सार समझते हैं। अविवेक तथा अविचार पर स्थित ऐसी धारणा उस समय स्वयं धराशायी हो जाती है, जब मुमुक्षु यह देखता है कि महान आध्यात्मिक योगीजन भी लौकिक जीवन तथा बाह्य संसार से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रों में भी धरसेनाचार्य सदृश श्रेष्ठ आत्मा अवबोध प्राप्त करते रहे हैं। ज्ञान की विविध शाखाओं के सम्यक् अवबोध द्वारा मन में असत् विकल्प नहीं उठते हैं। एक ही वस्तु में मन थककर अन्यत्र उछलकूद मचाया करता है तथा राग, द्वेष, मोह रूप विकारी भावों को अपनाता है। आगमोक्त विविध ज्ञानराशि के परिचय द्वारा आत्मा के विकार नष्ट होते हैं, अहंकार दूर होता है, तथा शांति का रस प्राप्त होता है।

भ्रान्त कल्पना

कोई व्यक्ति यह सोचते हैं कि अध्यात्मशास्त्र पढ़ने से ही कर्मों का क्षय होता है; अन्य ग्रंथों के अभ्यास से बंध होता है।

यह कल्पना असम्यक् है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि जिनागम के स्वाध्याय से "असंखेज्ज-गुणसेडिकम्मणिज्जरणं" असंख्यात गुणश्रेणी रूप कर्मों की निर्जरा होती है। आत्म तत्व का निरूपण करने वाला आत्मप्रवाद द्वादशांग वाणी के पुण्य भवन का अत्यन्त मनोज्ञ, पावन तथा प्रमुख स्तंभ है किन्तु उसके सिवाय अन्य सामग्री भी महत्वपूर्ण तथा हितकारी है। उस समस्त आगम-सिंधु का नाम द्वादशांगवाणी है। मानव शरीर में नेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु नेत्र ही समस्त शरीर नहीं है। अन्य अंगों के सद्भाव द्वारा जैसे नेत्र को गौरव प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिनागम के विविध अंगों का सद्भाव भी गौरव संवर्धक है।

कर्म तो अनात्म पदार्थ है। वह मोक्ष मार्ग में कंटक रूप है। अतएव कर्म सम्बन्धी साहित्य मुमुक्षु के जीवन में कोई महत्व नहीं रखता। यह धारणा भ्रममूलक है। भेदविज्ञान ज्योति को प्राप्त करने के लिए जैसे स्व का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार स्व से भिन्न पर का भी बोध उपयोगी है। कर्म सम्बन्धी द्वादशांगवाणी का अंश जब षट्खण्डागम सूत्र रूप में निबद्ध हुआ, तब विशाल जैन संघ ने महोत्सव मनाकर श्रुतपंचमी पर्व की नींव डाली थी।

इस चर्चा द्वारा यह बात स्थिर होती है कि समस्त द्वादशांग वाणी को महत्वपूर्ण स्वीकार करना कल्याणकारी है, चाहे वह समयसार हो, चाहे वह गोम्मटसार हो, अथवा शरीर के लक्षणों और व्यंजनों का प्रतिपादक शास्त्र हो। वीतराग वाणी सर्वदा हितकारी है। है। सराग तथा अनाप्त व्यक्तियों का कथन प्रमाण कोटि को नहीं प्राप्त होता है। उससे संसार परिभ्रमण नहीं छूट सकता। अंध व्यक्ति दूसरे को किस प्रकार पथ प्रदर्शन करने में समर्थ हो सकता है?

महत्व की बात

भगवान् तीर्थंकर परमदेव के शरीर में एक हजार आठ लक्षण पाए जाते हैं। ये उनमें ही पाए जाते हैं, दूसरों में नहीं पाये जाते, अतएव ये लक्षण भगवान् की विशेषता रूप हैं। इसी कारण प्रतीत होता है कि भगवान् के नामों के पूर्व मे १००८ लिखने की प्रणाली प्रचलित है, जैसे संरंभ, समारंभ, आरंभ, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषाय का त्याग करने से (३×३×३×४=१०८) निर्ग्रंथ दिगम्बर जैन मुनियों के नाम के पूर्व १०८ लिखने की पद्धति प्रचार में है।

अपूर्व आध्यात्मिक प्रभाव

तीर्थंकर भगवान् का बाल्य अवस्था में भी अद्भुत आध्यात्मिक प्रभाव देखा जाता है। वर्धमान चरित्र में लिखा है, कि चारण ऋद्धिधारी विजय तथा संजय नामक मुनीन्द्रों को किसी सूक्ष्म तत्व के विषय में शंका उत्पन्न हो गई थी। उनको महावीर भगवान् का दर्शन हो गया। तत्काल ही दर्शन मात्र से उनका संदेह दूर हो गया। उन मुनीन्द्रों को भगवान् की छबि का दर्शन महान् शास्त्र के स्वाध्याय का प्रतीक बन गया। यह घटना तीर्थंकरत्व की विशेषता को लक्ष्य में रखने पर आश्चर्यप्रद तो नहीं है, किन्तु इससे यह तत्व स्पष्ट होता है कि भगवान् के शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पुद्गल स्कन्धों में असाधारण विशेषता पाई जाती है। जिस शरीर के भीतर ऐसी आत्मा विद्यमान है, जिसके चरणों पर देव-देवेन्द्र मस्तक रखकर बारंबार प्रणाम करते हैं, जो शीघ्र ही दिव्यध्वनि द्वारा धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करेंगे, उनके आत्मतेज से प्रभावित पुद्गल भी ऐसी विशेषता दिखाता है, जैसी अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। चारण मुनियों का संदेह-निवारण एक महान् ऐतिहासिक वस्तु बन गई, क्योंकि उक्त घटना के कारण उन्होंने भगवान् का नाम 'सन्मति' रखा था। अशग-कवि के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं :—

तस्यापरेद्युरथचारणलब्धियुक्तौ ।
भर्तुर्यती विजय-संजयनामधेयौ ।।
तद्वीक्षणात्सपदि निःसृतसंशयार्थौ ।
प्रातेनतुर्जगति सन्मतिरित्यभिख्यां ।।१६—६२।।वर्धमान चरित्र

तदनंतर चारण, ऋद्धिधारी विजय तथा संजय नामक मुनीन्द्रों ने भगवान् का दर्शन होते ही शीघ्र संशय विमुक्त होने पर जगत् में प्रसिद्ध 'सन्मति' नामकरण किया ।

तीर्थंकर के चिन्ह का हेतु

चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियों में समान रूप से दिगम्बरपना तथा वीतराग वृत्ति पाई जाती है । श्रेष्ठ सौन्दर्य पूर्ण होने से उनकी समानता दृष्टिगोचर होती है, ऐसी स्थिति में उनकी परस्पर में भिन्नता का नियामक उनकी मूर्ति में विशेष चिन्ह अंकित किया जाता है; जैसे आदिनाथ भगवान् की मूर्ति में वृषभ का चिन्ह पाया जाता है । इस सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ति का यह कथन ज्ञातव्य है कि भगवान् के शरीर सम्वन्धी सुलक्षणों में से प्रभु के दाहिने पैर के अँगुष्ठ में जो चिन्ह पाया जाता है, वही लक्षण उन तीर्थंकर का चिन्ह बना दिया जाता है । कहा भी है :—

जम्मणकाले जस्स दु दाहिण-पायम्मि होई जो चिह्नं ।
तं लक्खणपाउत्तं आगमसुत्तेसु जिणदेहं ।।

प्रभु की कुमारावस्था

महापुराणकार का कथन है कि बाल्यकाल में भगवान् बाल चँद्रमा के समान प्रजा को आनंद प्रदान करते थे । इसके पश्चात् किशोरावस्था ने उनके शरीर को समंलकृत किया ।

बालावस्थामतीतस्य तस्याभूद् रुचिरं वपुः ।
कौमारं देवनाथानां अर्चितस्य महौजसः ।।१४–१७४।।

बाल्यकाल व्यतीत होने पर सुरेन्द्र-पूज्य तथा महा प्रतापी भगवान् का कुमार-कालीन शरीर बड़ा सुन्दर लगता था ।

उस समय उनका मनोहर शरीर, प्यारी बोली, मधुर निरीक्षण तथा मुस्कुराते हुए बोलना सभी संसार के प्रेम को प्राप्त कर रहे थे।

वपुः कान्तं प्रिया वाणी मधुरं तस्य वीक्षितम्।
जगतः प्रीतिमातेनुः सस्मितं च प्रजल्पितम् ॥१४—१७६॥

पूर्व जन्म की तपः साधना और पुण्य के तीव्र उदयवश प्रभु में अगणित गुणों का मानो परस्पर स्पर्धावश अद्भुत विकास हो रहा था। जिस प्रकार उनका शरीर अप्रतिम सौन्दर्य का केन्द्र था और जिसके समक्ष देव देवेन्द्र आदि की दीप्ति फीकी लगती थी, उन भगवान का हृदय भी उसी प्रकार सुन्दरता तथा पवित्रता-परिपूर्ण था। अंतःबाह्य सौन्दर्य से शोभायमान भगवान की समस्त बातें विश्व को अवर्णनीय आनन्द तथा आश्चर्य को उत्पन्न करती थीं।

विश्व-विद्या का ईश्वरत्व

उनके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के साथ 'भव-प्रत्यय' नामका अवधिज्ञान भी जन्म से था। इस कारण उन्होंने समस्त विद्याओं को अपने आप प्राप्त कर लिया था। आचार्य जिनसेनस्वामी कहते हैं—

विश्वविद्येश्वरस्यास्य विद्याः परिणताः स्वयम्।
ननु जन्मान्तराभ्यासः स्मृतिं पुष्णाति पुष्कलाम् ॥१४—१७९॥

भगवान समस्त विद्याओं के ईश्वर थे। इस कारण उनको सम्पूर्ण विद्याएँ स्वयमेव प्राप्त हो गई थीं। पूर्व जन्म का अभ्यास स्मरणशक्ति को अत्यन्त पोषण प्रदान करता है।

तीर्थंकर विश्व के गुरु हैं

जिन बाल जिनेन्द्र के दर्शन मात्र से महाज्ञानी चारणऋद्धि-धारी मुनीन्द्रों को गम्भीर ज्ञानलाभ हो, जो जन्म से मति, श्रुत, अवधिज्ञान समलंकृत हों, उन अलौकिक सामर्थ्य-सम्पन्न प्रभु को किसी गुरु के पास जाकर विद्याभ्यास करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

मयूर को सुन्दर नृत्य करने की शिक्षा कौन देता है ? हंस को सुन्दरता पूर्वक गमन करने में कौन शिक्षक बनता है ? पक्षियों को गगन गमन करने में तथा मत्स्यादि को विपुल जलराशि में विचरण करने की कला कौन सिखाता है ? निसर्ग सेही उनमें वे विशेषताएँ उद्भूत होती हैं । [1]इसलिए धर्मशर्माभ्युदय में महाकवि हरिचंद्र पूछते हैं कि नैसर्गिक ज्ञान के भण्डार उन जगत्गुरु को शिक्षित करने में कौन गुरु हुआ ? कोई-कोई तीर्थंकर को साधारण श्रेणी का व्यक्ति समझ उनके पाठशाला में अभ्यास की बात लिखते हैं । यह धारणा अयोग्य है । ऐसी विचारधारा वीतराग ऋषि-परम्परा के प्रतिकूल है । महापुराण के ये शब्द मनन योग्य हैं :—

> वाङमयं सकलं तस्य प्रत्यक्षं वाक्प्रभोरभूत् ।
> येन विश्वस्य लोकस्य वाचस्पत्यादभूद् गुरुः ।।१४—१८१।।

वे भगवान सरस्वती के एकमात्र स्वामी थे इसलिए उन्हें समस्त वाङमय (शास्त्र) प्रत्यक्ष हो गए थे । इस कारण वे सम्पूर्ण विश्व के गुरु हो गए थे ।

> श्रुतं निसर्गतोस्यासीत् प्रसूतः प्रशमः श्रुतात् ।
> ततो जगद्धितास्यासीत् चेष्टा सापालयत् प्रजाः ।।१८४।।

उन प्रभु के शास्त्र का ज्ञान स्वयमेव उत्पन्न हो गया था । शास्त्र ज्ञान के फलस्वरूप प्रशम भाव उत्पन्न हुआ था । इससे उनकी चेष्टाएँ जगत् का हित करने वाली होती थीं । उन चेष्टाओं द्वारा वे प्रजाजन का पालन करते थे ।

प्रभु की विशेषता

उन ऋषभनाथ तीर्थंकर के विषय में महाकवि की यह सूक्ति हृदयहारिणी है :—

---

१ कः पण्डितो नाम शिखण्डमण्डने मराललीलागतिदीक्षिकोऽथवा ।
नैसर्गिकज्ञाननिधेर्जगद्गुरोर्गुरुश्च शिक्षासु बभूव तस्य कः ।।९—१३।।

दीर्घदर्शी सुदीर्घायुः दीर्घबाहुश्च दीर्घदृक् ।
स दीर्घसूत्रो लोकानां प्रभजत् सूत्रधारताम् ॥१८८॥

वे दीर्घदर्शी थे अर्थात् दूर तक की बातें सोचते थे । उनकी आयु दीर्घ थी । उनकी भुजाएँ दीर्घ थीं । उनके नेत्र दीर्घ थे । वे स्थिरतापूर्वक विचार के उपरान्त कार्य करते थे, इससे दीर्घसूत्र थे । अतः वे तीनों लोकों की सूत्रधारता अर्थात् गुरुता को प्राप्त हुए थे । इस कथन से यह बात विदित होती है कि सुरेन्द्र समुदाय भी भगवान से मार्गदर्शन प्राप्त करता था । सौरभ समन्वित सुन्दर सुमन के समीप सभी सत्पुरुष रूप मधुकर स्वयमेव आया करते थे । प्रभु में गम्भीरता थी, साथ में अवस्था के अनुरूप परिहासप्रियता तथा विनोदशीलता भी उनमें थी । समस्त कलाओं और विद्याओं के आचार्य प्रभु के समीप आया करते थे । वे वैयाकरणों के साथ व्याकरण सम्बन्धी चर्चा करते थे, कभी कवियों के साथ काव्य विषय की वार्ता करते थे और कभी वादियों के साथ वादगोष्ठी करते थे ।

प्रभु का विनोद

विनोदवश कभी मयूरों का रूप धारण करने वाले नृत्य करते हुए देव-किंकरों को वे भगवान लय के अनुसार ताल देकर नृत्य कराते थे । यह वर्णन कितना मधुर है :—

कांश्चिच्च शुकरूपेण समासादितविक्रियान् ।
संपाठं पाठयंश्छ्लोकान् अम्लिष्टमधुराक्षरम् ॥१९४॥

कभी विक्रिया शक्ति से तोते का रूप धारण करने वाले देवकुमारों को वे प्रभु स्पष्ट तथा मधुर अक्षरों से श्लोक पढ़ाते थे ।

हंसविक्रियया कांश्चित् कूजतो मन्द्रगद्गदम् ।
विसभंगैः स्वहस्तेन दत्तैः संभावयन्मुहुः ॥१९५॥

वे कभी-कभी हंस रूप विक्रिया कर धीरे-धीरे गद्गद् शब्द करने वाले देवों को अपने हाथ से मृणालखण्ड देकर सन्तुष्ट करते थे ।

इन्द्र महाराज सदा भगवान को आनन्दप्रद सामग्री पहुँचाने में हर्ष का अनुभव करते थे। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते'—बिना प्रयोजन के मन्दमति की भी प्रवृत्ति नहीं होती है, तब इन्द्र की जिनेन्द्रसेवा का भी कुछ रहस्य होना चाहिये ? समृद्धि के ईश्वर सुरेन्द्र के समीप अमर्यादित सुख की सामग्री रहती है। वह स्वाधीन है। किसी का सेवक नहीं है, फिर भी वह जिनेन्द्रदेव का किंकर बना हुआ प्रभु की सेवा में स्वयं स्वेच्छा से प्रवृत्त होता है तथा दूसरों को प्रवृत्त कराता है। इस सेवा का क्या लक्ष्य है ?

इन्द्र का मनोगत

महान् ज्ञानी इन्द्र इस तत्व को समझता है, कि पुण्यकर्म के क्षय होने पर वह एक क्षण भी स्वर्ग में न रह सकेगा। सारा ऐश्वर्य तथा वैभव स्वप्न-साम्राज्य सदृश शून्यता को प्राप्त होगा। इन्द्र के पास सब कुछ है, किन्तु अविनाशी आनन्द नहीं है। उस आत्मानन्द की उपलब्धि के लिये ही वह जिननाथ की निरन्तर आराधना करता है, ताकि जिनभक्ति रूपी नौका के द्वारा वह संसार समुद्र के पार पहुँच जाय। भगवान् के समीप इन्द्र यह अनुभव ही नहीं करता है, कि वह असंख्य देवों का स्वामी है, अपरिमित वैभव तथा समृद्धि का अधीश्वर है। वह तो सोचता है कि "मैं जिनेन्द्र भगवान का सेवक नहीं, उनके दास का भी सेवक हूँ। मैं जिनेन्द्र का दासानुदास हूँ।" भगवान के लिए भोगोपभोग की सामग्री सदा स्वर्ग से आती रहती थी। इन्द्र को तो ऐसा लगता था, मानो स्वर्ग में कुछ नहीं है, सबसे बड़ा स्वर्ग भगवान के चरणों के नीचे है। उन चरणों के समक्ष विनीत-वृत्ति द्वारा यह जीव इतना उच्च होता है कि उसके समान दूसरा नहीं होता।

महापुराणकार कहते हैं—

प्रतिदिनममरेन्द्रोपाहृतान् भोगसारान् ।
सुरभि-कुसुममाला-चित्रभूषाम्बरादीन् ॥

ललितसुरकुमारैरिंगितज्ञैर्वयस्यैः ।
सममुपहितरागः सोन्वभूत् पुण्यपाकात् ॥२११॥

वे भगवान पुण्यकर्म के उदय से प्रतिदिन इन्द्र के द्वारा भेजे हुए सुगन्धित पुष्पों की माला, अनेक प्रकार के वस्त्र तथा आभूषण आदि श्रेष्ठ भोगों का अपना अभिप्राय जानने वाले सुन्दर देवकुमारों के साथ प्रसन्न होकर अनुभव करते थे।

प्रभु का तारुण्य

धीरे धीरे भगवान ने यौवन अवस्था को प्राप्त किया। आचार्य कहते हैं :—

अथास्य यौवने पूर्णे वपुरासीन्मनोहरम् ।
प्रकृत्यैव शशी कान्तः किं पुनश्शरदागमे ॥१५-३१॥

यौवन अवस्था पूर्ण होने पर भगवान का शरीर बहुत ही मनोहर हो गया था। सो ठीक ही है, क्योंकि चन्द्रमा स्वभाव से ही सुन्दर होता है; यदि शरद्ऋतु का आगमन हो जावे तो फिर कहना ही क्या है ?

तदस्य रुरुचे गात्रं परमौदारिकाह्वयम् ।
महाभ्युदय-निःश्रेयसार्थानां मूलकारणम् ॥१५--३२॥

अतएव भगवान का परम औदारिक नाम का शरीर शोभायमान होता था। उनका वह शरीर महान् अभ्युदययुक्त मोक्ष पुरुषार्थ का मूल कारण था।

भगवान की अनुपम सौन्दर्यपूर्ण छवि को अपनी पुण्य-कल्पना द्वारा निहारते हुए भूधरदास जी लिखते हैं :—

रहो दूर अंतर की महिमा बाहिज गुन वर्णत बल कांपै।
एक हजार आठ लच्छन तन तेज कोटि रवि किरण न तापै।
सुरपति सहस आंख अंजलि सों रूपामृत पीवत नहिं धापै।
तुम बिन कौन समर्थ बीर जिन जगसों काढ़ मोक्ष में थापै।

पंच बालयति तीर्थंकर

चौबीस तीर्थंकरों में वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पारसनाथ तथा महावीर भगवान ये पंच बालयति रूप से विख्यात हैं, क्योंकि ये बालब्रह्मचारी रहे हैं; शेष उन्नीस तीर्थंकरों ने पहले गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था, पश्चात् काललब्धि प्राप्त होने पर उन्होंने साधु पदवी अंगीकार की थी।

महाराज नाभिराज का निवेदन

महाराज नाभिराज ने भगवान ऋषभदेव को विवाह योग्य देखकर कहा :—

हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूरसि।
निभमात्रं त्वदुत्पत्तौ पितृम्मन्या यतो वयम् ॥१५--५७॥

हे देव ! आप कर्मभूमिरूपी जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा हैं। आप स्वभू हैं। आप स्वयमेव उत्पन्न हुए हैं। आपकी उत्पत्ति में हम लोग माता, पिता हैं, यह कथन निमित्त मात्र है।

यथार्कस्य समुद्भूतौ निमित्तमुदयाचलः।
स्वतस्तु भास्वानुद्याति तथैवास्मद्भवानपि ॥५८॥

जैसे सूर्य के उदय में उदयाचल निमित्तमात्र है। सूर्य तो स्वयं ही उदित होता है, इसी प्रकार आपकी उत्पत्ति में हम निमित्तमात्र हैं। आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं।

पाणिग्रहण

इसके पश्चात् पिता ने प्रभु के पाणिग्रहण संस्कार का विचार उपस्थित किया। उन्होंने पिता की बात स्वीकार की। पिता ने यशस्वती तथा सुनन्दा नामकी राजकन्याओं के साथ उनका विवाहोत्सव किया।

भरत जन्म

योग्यकाल व्यतीत होने पर यशस्वती महादेवी ने चैत्रकृष्णा

नवमी के दिन जब मीन लग्न, ब्रह्मयोग, धन राशि का चन्द्रमा तथा उत्तराषाढ़ नक्षत्र था, उस समय ज्येष्ठ पुत्र भरत को उत्पन्न किया ।

> तन्नाम्ना भारतं वर्षमितिहासीज्जनास्पदम् ।
> हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥१५-१५९॥

इतिहास वेत्ताओं का कथन है कि हिमवान पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त चक्रवर्तियों का क्षेत्र भरत के कारण भारतवर्ष नाम से विख्यात हुआ ।

भगवान द्वारा संस्कार कार्य

भगवान ने अपनी संतति को योग्य बनाने में पूर्ण सावधानी रखी थी । भरत के यज्ञोपवीत आदि संस्कार स्वयं भगवान ने किए थे । जिनसेन स्वामी लिखते हैं :—

> अन्नप्राशन–चौलोपनयनादीननुक्रमात् ।
> क्रियाविधीन् विधानज्ञः स्रष्टैवास्य निसृष्टवान् ॥१६४॥

क्रियाकांड के ज्ञाता (विधानज्ञ) भगवान ने भरत के अन्न-प्राशन अर्थात् पहली बार अन्नाहार कराना, चौल (मुंडन), उपनयन (यज्ञोपवीत) आदि संस्कार-क्रिया रूप विधि स्वयं की थी ।

भ्रम-शोधन

इस परमागम के कथन को ध्यान में रखकर उन लोगों को अपनी भ्रांत धारणा सुधारना चाहिए, जो यह एकान्त मत बना चुके हैं, कि यज्ञोपवीत आदि का जैन संस्कृति में कोई स्थान नहीं है । महापुराण कल्पित उपन्यास नहीं है, जिसमें लेखक ने अपने स्वतन्त्र विचारों के पोषणार्थ यथेच्छ मिश्रण कर दिया हो ।

प्रथमानुयोग क्या है ?

आज के स्वतन्त्र लेखक अपने विचारों को निर्भय हो आर्ष ग्रन्थों में मिला दिया करते हैं क्योंकि उन्हें जिनेन्द्र वाणी में

परिवर्तन करने के महापाप का पता नहीं है; ऐसी भूल सत्य महाव्रती महामुनि जिनसेन स्वामी सदृश वीतराग साधुराज कभी भी नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें कुगति में जाने का डर था। उनका महापुराण प्रथमानुयोग नामसे प्रख्यात परमागम में अन्तर्भूत होता है। प्रथमानुयोग में स्वकल्पित गप्पें नहीं रहतीं। वह सत्य प्रतिपादन से समलंकृत रहता है। स्वामी समंतभद्र ने प्रथमानुयोग के विषय में लिखा है—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि-समाधि-निधानं, बोधति बोधः समीचीनः।।४३।।

उत्तम ज्ञान-बोधि, समाधि के भण्डार रूप अर्थों का अर्थात् पुरुषार्थ चतुष्टय का प्रतिपादन करने वाले एक पुरुष की जीवनकथा रूप चरित्र तथा त्रेसठ शलाका पुरुषों की कथा रूप पुराण को, पुण्यदायी प्रथमानुयोग कहता है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'अर्थाख्यान' विशेषण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि परमार्थ विषय का प्रतिपादन अर्थाख्यान है। उसका उल्लेख करने से कल्पित प्रतिपादन का निषेध हो जाता है। आचार्य की टीका के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। "तस्य (प्रथमानुयोगस्य) प्रकल्पितत्व-व्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यानं प्रतिपादनं यत्र, येन वा तं।"

जिनेन्द्र भगवान कथित आगम के अर्थ में स्वेच्छानुसार परिवर्तन करने वाले व्यक्ति को तथा उसके कार्य में अर्थादि के द्वारा सहायक बनने वालों को अपने अंधकारमय भविष्य को नहीं भुलाना चाहिए। कम से कम मुमुक्षु वर्ग को विषय लोलुपी बुद्धिमानों के जाल से अपने को बचाना चाहिए। स्वतन्त्र चिंतन के क्षेत्र में प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति को विचार व्यक्त करने के विषय में अधिकार है, किन्तु जब वह अन्य रचनाकार के मन्तव्य को विकृत कर स्वार्थ पोषण करता है तब वह अक्षम्य अपराध करता है।

इसलिये सत्पुरुष का कर्तव्य है कि आगम के साथ खिलवाड़ न करे। जब भगवान ऋषभदेव ने स्वयं अपने पुत्रों के यज्ञोपवीत आदि संस्कार किए थे तब उनको जैन संस्कृति की वस्तु न मानना क्या अनुचित नहीं है ?

भरत बन्धु

भरत के पश्चात् उनके निन्यानवे भाई और हुए। वे सभी चरम-शरीरी और बड़े प्रतापी थे। भरत की बहिन का नाम ब्राह्मी था। सुनंदा महादेवी से प्रतापी पुत्र बाहुबली तथा सुन्दरी नामकी पुत्री का जन्म हुआ था।

बाहुबली

बाहुबली के नाम की अन्वर्थता पर महापुराणकार इस प्रकार लिखते हैं—

बाहू तस्य महाबाहोः प्रधातां बलमूर्जितम्।
यतो बाहूबलीत्यासीत् नामास्य महसां निधेः ॥१६—१७॥

उन तेजपुंज विशाल बाहु की दोनों भुजाएं उत्कृष्ट बल से परिपूर्ण थीं; इसलिये उनका बाहुबली नाम सार्थक था।

भगवान के सभी पुत्र पुण्यशाली थे। उनकी भुजायें घुटनों तक लम्बी थीं और वे व्यायाम के कारण कठोर थीं। "व्यायाम कर्कशौ बाहू पीनावाजानुलंबिनौ" (४९) सब राजकुमारों में भरत सूर्य तुल्य, बाहुबली चन्द्र समान तथा अन्य राजकुमार नक्षत्र मंडल सदृश शोभायमान होते थे। ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुन्दरी चांदनी के समान प्रतीत होती थी। उनके मध्य भगवान किस प्रकार शोभायमान होते थे, इसे महाकवि इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

स तैः परिवृतः पुत्रैः भगवान् वृषभो-बभौ।
ज्योतिर्गणैः परिक्षिप्तो यथा मेरु मंहोदयः ॥१६—७१॥

जिस प्रकार महान उन्नत मेरु पर्वत ज्योतिषी देवों से घिरा हुआ शोभायमान होता है, उसी प्रकार वृषभदेव भगवान् अपने पुत्रादि से घिरे हुए सुशोभित होते थे।

आदिनाथ प्रभु का शिक्षा प्रेम

भगवान् ने ब्राह्मी और सुन्दरी को विद्या प्राप्ति के योग्य देखकर कहा :—

इदं वपुर्वयश्चेदं इदं शील-मनीदृशम्।
विद्यया चेद्विभूष्येत सफलं जन्मवामिदम् ।।९७।।

पुत्रियों ! तुम दोनों का यह शरीर, यह अवस्था तथा तुम्हारा अपूर्व शील यदि विद्या द्वारा अलंकृत किया जाय, तो तुम दोनों का जन्म सफल हो जायगा।

विद्यावान्पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ।।९८।।

इस लोक में विद्यावान् पुरुष विद्वानों द्वारा सन्मान को प्राप्त करता है तथा विद्यावती नारी महिला समाज में प्रमुखता को प्राप्त करती है।

तद् विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवाम्।
तत्संग्रहण-कालोयं युवयोर्वर्ततेधुना ।।१०२।।

अतएव हे पुत्रियों, तुम दोनों विद्या प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो। तुम दोनों के विद्या ग्रहण करने के योग्य यह काल है।

इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ।।१०३।।
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकां।
उपादिशल्लिपिं संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात् ।।१०४।।

यह कहकर भगवान् ने उन दोनों को अनेक बार आशीर्वाद दिया। उन्होंने अपने अंतःकरण में विद्यमान श्रुतदेवता की पूजा की। भगवान् ने अपने एक हाथ से अक्षर मालिका और दूसरे से संख्या रूप अंकों को लिखकर ज्ञान कराया।

भगवान् ने पुत्रियों के समान भरतादि पुत्रों को भी शिक्षा दी। उन्होंने अपने पुत्रों की रुचि तथा योग्यता आदि को लक्ष्य में रख कर भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा दी थी। उन्होंने भरत को अर्थशास्त्र में निपुण बनाया था (भरतायार्थशास्त्रं च), वृषभसेन को (जो आगे जाकर भगवान् के समवशरण में मुख्य गणधर पदवी के धारक हुए) गीत-वाद्यादि की शिक्षा दी थी। बाहुबली कुमार को आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्व, गजादि के तंत्र, रत्नपरीक्षा, सामुद्रिक शास्त्र आदि में निपुण बनाया था।

सार की बात

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत्।
तत्सर्वमादिकर्तासौ स्वाः समन्वशिषत प्रजाः ॥१२५॥

इस सम्बन्ध में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है; भगवान् आदिनाथ ने जो-जो लोक-कल्याणकारी शास्त्र थे, वे सब अपने पुत्रों को सिखाए थे।

भगवान् ने जिस शैली का आश्रय ले अपनी संतति को स्वयं शिक्षा दी उसके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था कल्याणप्रद होगी। शिक्षार्थी के नैसर्गिक झुकाव एवं सामर्थ्य का विचार किए बिना सबको एक ही ढंग पर शिक्षित करने का प्रयास इष्ट फलप्रद नहीं हो सकता। भगवान् ने लोकोपकारी शास्त्रों की शिक्षा दी थी। जो शास्त्र पाप प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दे पतन के पथ में पुरुषों को पहुँचाते हैं, वे लोकोपकारी न होकर लोकापकारी हो जाते हैं। वर्तमान युग में जीव वध तथा पापाचार के पोषण हेतु जो शिक्षा की व्यवस्था है, वह जिनेन्द्र की विचार पद्धति के प्रतिकूल है।

भगवान् ने ब्राम्ही और सुन्दरी नामकी कन्याओं की शिक्षा को प्राथमिकता देकर यह भाव दर्शाया कि पुरुष वर्ग का कर्तव्य है कि वह कन्याओं को ज्ञानवती बनाने में विशेष उत्साह धारण करे। उनके शिक्षित बनने पर समाज का अधिक हित होता है।

प्रजा की प्रार्थना

भगवान् ऋषभदेव के समय में भोग-भूमि की समाप्ति एवं कर्म-भूमि की नवीन व्यवस्था प्रचलित हुई थी। एक दिन प्रजाजन भगवान् के शरण में आकर इस प्रकार निवेदन करने लगे "भगवान्! अब कल्पवृक्ष तो नष्ट हो गए इसलिए हम किस प्रकार क्षुधादि की वेदना को दूर करें?" उन्होंने कहा था :—

वांछन्त्यो जीविकां देव त्वां वयं शरणं श्रिताः।
तन्नस्त्रायस्व लोकेश तदुपायप्रदर्शनात् ॥१३६॥

हे देव! हम लोग आजीविका प्राप्ति की इच्छा से आपके शरण में आए हैं; अतः हे लोकेश! जीविका का उपाय बताकर हम लोगों की रक्षा कीजिए।

प्रजापति ने क्या किया ?

उस समय भगवान् के हृदय में दया का भाव उत्पन्न हुआ। वे अपने मन में इस प्रकार विचार करने लगे :—

पूर्वापर-विदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः ॥१४३॥

षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
यथा ग्राम-गृहादीनां संस्त्यायश्च पृथग्विधाः ॥१४४॥

तथाऽत्राप्युचिता वृत्तिः उपायैरेभिरंगिनाम्।
नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥१४५॥

कर्मभूरद्य जातेयं व्यतीतौ कल्पभूरुहाम्।
ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता ॥१४६—पर्व १६

महापुराण

पूर्व तथा पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति इस समय विद्यमान है, वही पद्धति यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है। उससे यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जिस प्रकार असि, कृषि आदि छह कर्म हैं, क्षत्रिय आदि वर्ण की तथा आश्रम की व्यवस्था है, ग्राम,

घर आदि की पृथक्-पृथक् रचना हैं, उसी प्रकार की व्यवस्था यहाँ भी होना चाहिए। इन्हीं उपायों से प्राणियों की आजीविका चल सकती है और अन्य उपाय नहीं है। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से अब कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ है; इसलिये कृषि आदि षट्-कर्मों के द्वारा अपनी जीविका करना उचित है।

जिनमन्दिर का निर्माण

इस प्रकार विचार करने के उपरांत भगवान् ने प्रजा को आश्वासन दिया, कि तुम भयभीत मत होओ। इसके पश्चात् भगवान् के द्वारा स्मरण किए जाने पर देवों के साथ इन्द्र ने वहाँ आकर प्रजा की जीविका के लिए उचित कार्य किया। *सर्व प्रथम इन्द्र ने योग्य समय, नक्षत्र, लग्न आदि के संयोग होने पर अयोध्या पुरी के मध्य में जिन मन्दिर की रचना की; पश्चात् चारों दिशाओं में भी जिनमंदिरों की रचना की। तदनन्तर ग्राम, नगरादि की रचना संपन्न की। उन ग्रामादि में प्रजा को बसाकर भगवान् की आज्ञा लेकर इन्द्र स्वर्ग चला गया। भगवान् ने प्रजा को छह कर्मों द्वारा आजीविका करने का उपदेश दिया था।

षट् कर्म

असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढ़ा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥१७९॥
तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात्।
उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः ॥१८०॥

असि (शस्त्रकर्म), मषि (लेखन कर्म), कृषि, विद्या अर्थात् शास्त्र के द्वारा उपजीविका करना (विद्या शास्त्रोपजीवने),

---

*शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्त—शुभोदये।
स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषुच्चै आनुकूल्ये जगद्गुरोः ॥१४९॥
कृतप्रथम—मांगल्ये सुरेन्द्रो जिनमंदिरम्।
न्यवेशयत्पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात ॥१५०, पर्व १६॥

वाणिज्य (व्यापार) तथा शिल्प (शिल्पं स्यात्करकौशलम्) हस्त की कुशलता से जीविका करना ये छह कार्य प्रजा के जीवन के हेतु हैं ।

भगवान् ने अपनी बुद्धि की कुशलता से प्रजा को उनके द्वारा वृत्ति अर्थात् आजीविका करने का उपदेश दिया, क्योंकि उस समय भगवान् सरागी थे ।

वर्ण-व्यवस्था

उत्पादिता स्त्रयो वर्णाः तदा तेनादिवेधसा ।
क्षत्रियाः वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ।।१८३।।

उस समय उन आदि ब्रह्मा भगवान् ने तीन वर्ण उत्पन्न किए, जो क्षत-त्राण अर्थात् विपत्ति से रक्षण करना, कृषि, पशुपालन, तथा सेवादि गुणों के कारण क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाए ।*

यावती जगती वृत्तिः अपापोपहता च या ।
सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः ।।१८८।।

उस समय जगत् में जितने पाप रहित आजीविका के उपाय थे, वे सब वृषभदेव भगवान् की सम्मति से प्रवृत्त हुए थे, क्योंकि वे ही सनातन ब्रह्मा हैं । भगवान् ने कृतयुग-कर्मभूमि का प्रारम्भ किया था ।

कर्मभूमि का आरम्भ

आषाढ़मासबहुल-प्रतिपद्दिवसे कृती ।
कृत्वा कृतयुगारंभं प्राजापत्यमुपेयिवान् ।।१९२।।

*उत्तरपुराण में आचार्य गुणभद्र ने जातिमूढ़ता का दोषोद्भावन करते हुए लिखा है कि शुक्लध्यान के लिये उच्चगोत्र, जाति-वर्ण आदि की भी आवश्यकता है । यह विशेषता त्रिवर्ण में है । शूद्र वर्ण में यह नहीं पाई जाती । आगम के श्रद्धालुओं का ध्यान स्वामी गुणभद्र के इस पद्य की ओर जाना चाहिए :—

जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः ।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ।।७४–४९३।।

उन भगवान् ने आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा के दिन कृतयुग का आरम्भ करके 'प्रजापति' संज्ञा को प्राप्त किया था।

वर्ण-व्यवस्था आगमोक्त है

इस वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है, कि जिस विदेह क्षेत्र में सदा तीर्थंकरों का सानिध्य प्राप्त होता है, तथा उनके द्वारा जीवों को मार्ग दर्शन प्राप्त होता है, वहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था है। इस भरत क्षेत्र में भगवान् आदि ब्रम्हा ऋषभदेव ने जो वर्ण व्यवस्था का उपदेश दिया था, वह उन्होंने अपनी कल्पना द्वारा नहीं रचा था, बल्कि उन्होंने विदेह *क्षेत्र की व्यवस्था (जहाँ नित्य कर्मभूमि है) के अनुसार भरतक्षत्र की भी व्यवस्था का उपदेश दिया, क्योंकि यहाँ भी कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हो गया था।

कोई कोई यह सोचते हैं, कि जैनधर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था का अभाव है। वह तो ब्राह्मण धर्म की नकल या प्रभाव मात्र है। यह कथन महापुराण रूप आगम ग्रंथ के वर्णन के प्रकाश में अयथार्थ प्रमाणित होता है। आगम के आधार को प्रमाणिक मानने वाला मुमुक्षु तो यह सोचेगा, कि अन्य परम्परा में पाई जाने वाली व्यवस्था जैन परम्परा से ली गई है और उस पर उन्होंने अपनी पौराणिक, अवैज्ञानिक पद्धति की छाप लगा ली है। यह वर्ण-व्यवस्था भगवज्जिन-सेन स्वामी की निजी मान्यता है, और उन्होंने उसे आगम का रूप दे दिया है।

ऐसा कथन अत्यन्त अनुचित तथा अशोभन है। जिनसेन स्वामी सदृश सत्य महाव्रती श्रेष्ठ आत्मा के विषय में ऐसा आरोप जघन्यतम कार्य है। उन पर ऐसा प्रतारणा का दोष लगाना महा पाप है। आजकल वर्णाश्रम-व्यवस्था की पुण्य पद्धति के मूल पर कुठाराघात

---

*पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः॥१६-१४३, महापुराण॥

होने से प्रजा की जीविका की समस्या उलझकर जटिलतम बनती जा रही है। इसके कारण ही सबका ध्यान आत्मा के स्थान में पेट की रोटी की ओर मुख्यता से जाया करता है। तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित पद्धति के विरुद्ध जितनी प्रवृत्ति बढ़ेगी, उतनी ही अशांति तथा दुःख की भी वृद्धि हुए बिना न रहेगी।

राज्याभिषेक

जब भगवान् के द्वारा व्यवस्था प्राप्त कर प्रजा सुख से रहने लगी, तब बड़े वैभव के साथ भगवान् का अयोध्यापुरी में राज्याभिषेक हुआ था। उस राज्याभिषेक के लिये गंगा और सिंधु महानदियों का वह जल लाया गया था, जो हिमवत् पर्वत की शिखर पर से धारा रूप में नीचे गिर रहा था तथा जिसका भूतल से स्पर्श नहीं हुआ था। पद्म, महापद्मआदि सरोवरों का जल, नंदीश्वर द्वीप संबंधी नंदोत्तरा आदि वापिकाओं, क्षीर समुद्र, नंदीश्वर समुद्र, स्वयंभुरमण समुद्र आदि का भी जल उस राज्याभिषेक के लिए लाया गया था।

पहले सुवर्ण निर्मित कलशों द्वारा इन्द्र ने राज्याभिषेक किया। इसके अनन्तर नाभिराज आदि अनेक राजाओं ने 'अयं राजसिंहः राजवत्'—राजाओं में श्रेष्ठ ये वृषभदेव राज्य पद के योग्य हैं ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक किया था।

जनता द्वारा चरणों का अभिषेक

नागरिकों ने भी उनके चरणों का अभिषेक किया था। किन्हीं ने कमल पत्र के बने हुए दोने से और किसी ने मृत्तिका पात्र में सरयू का जल लेकर चरणाभिषेक किया था। पहले तीर्थ जल से अभिषेक हुआ था, पश्चात् कषाय जल से और अन्त में सुगंधित जल द्वारा अभिषेक सम्पन्न हुआ था। इसके अनंतर कुछ कुछ गरम जल से भरे हुए सुवर्ण के कुण्ड में प्रवेश कर उन प्रजापति प्रभुने सुखकारी स्नानका अनुभव किया था।

नीराजना

अभिषेक के पश्चात् भगवान की नीराजना (आरती) की गई। भगवान आभूषण, वस्त्र आदि से अलंकृत किए गए थे।

नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत्प्रभोः।
महामुकुटबद्धानामधिराड् भगवानिति ॥२३२॥

भगवान् 'महामुकुटबद्धानां अधिराट्'—महामुकुटबद्ध राजाओं के शिरोमणि हैं, इससे महाराज नाभिराज ने अपने हाथ से प्रभु के मस्तक पर अपना मुकुट लगाया।

शासन-पद्धति

भगवान् ने राज्य पदवी स्वीकार करने के बाद प्रजा के कल्याण निमित्त उनकी आजीविका के हेतु नियम बनाए। उन्होंने प्रत्येक वर्ण को अपने योग्य कर्त्तव्य पालन का आदेश दिया था।

स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्।
स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा ॥१६–२४८॥

उस समय भगवान ने यह नियम प्रचलित किया था, कि जो वर्ण अपनी निश्चित आजीविका का परित्याग कर अन्य वर्ण की आजीविका को स्वीकार करेगा, वह दण्ड का पात्र होगा क्योंकि इससे वर्ण संकरता उत्पन्न होगी। महापुराणकार कहते हैं कि भगवान ने कर्मभूमि के अनुरूप दण्ड की व्यवस्था की थी, जिससे दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का परिपालन होता था।

दण्ड नीति

दण्ड के विषय में उनका सिद्धांत था :—

दण्डभीत्या हि लोकोऽयमपथं नानुधावति।
युक्तदंडधरस्तस्मात् पार्थिवः पृथिवीं जयेत् ॥१६–२५३॥

दण्ड के भय से लोग कुमार्ग में नहीं जाते इसलिए उचित दण्ड धारक नरेन्द्र पृथ्वी को जीतता है। यह तीर्थंकर आदि जिनेन्द्र की नीति थी।

अर्थ नीति

शासन का संचालन अर्थ संग्रह की अपेक्षा करता है, इसलिए राजा प्रजा से कर अर्थात् टैक्स लिया करता है। इस विषय में प्रभु की नीति बड़ी मधुर थी।

पयस्विन्या यथा क्षीरम् अद्रोहेणोपजीव्यते।
प्रजाप्येवं धनं दोह्या नातिपीड़ाकरैःकरैः ॥१६--२५४॥

जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से उसे बिना किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए दूध दुहा जाता है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से धन लेना चाहिए। अति पीड़ाकारी करों के द्वारा धन संग्रह नहीं करना चाहिये।

भगवान के नामान्तर

भगवान के द्वारा कर्मभूमि की प्रजा को अवर्णनीय सुख और शांति मिली थी। जगत् में भगवान को ब्रह्मा, विधाता आदि नामों से पुकारते हैं। महापुराणकार कहते हैं कि ये नाम भगवान के ही पर्यायवाची थे। उन्होंने कर्मभूमि रूपी जगत् का निर्माण किया था।

विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा चेत्यादिनामभिः।
प्रजास्तं व्याहरंतिस्म जगतांपतिमच्युतम् ॥२६७॥

इसके सिवाय तीनों जगत् के स्वामी और विनाश रहित भगवान को प्रजा विधाता, विश्वकर्मा और स्रष्टा आदि अनेक नामों से पुकारती थी।

प्रभु की लोक कल्याण में निमग्नता

जिसे लोक-कल्याण, परोपकार, दीनोद्धार आदि शब्दों द्वारा संकीर्तित करते हैं, उस कार्य में भगवान का बहुमूल्य जीवन व्यतीत हो गया। कुरल काव्य में लिखा है "प्रत्येक दिन, यद्यपि वह अत्यधिक मधुर प्रतीत होता है, वास्तव में हमारी आयु की अवधि

को काटने वाला छूरा है" । चौरासी लाख पूर्व की आयु में से तेरासी लाख पूर्व बीत गए । सुमधुर अनुकूल सामग्री के मध्य पता नहीं चला, कि कितना काल चला गया । लौकिक दृष्टिकोण से देखने पर भगवान का कार्य अत्यन्त मधुर और प्रिय लगता था । अपने महान् कुटुम्ब तथा विश्व के विशाल परिवार इन दोनों की चिन्ता, मार्गदर्शन तथा रक्षण कार्य में प्रभु की तन्मयता आज के जगत् को बड़ी अच्छी लगेगी ।

परमार्थ दृष्टि में

परमार्थ तत्व की उपलब्धि को जिन्होंने लक्ष्य बनाया है, उनकी अपेक्षा एक तीर्थंकर का मोह के मृदुबन्धन में इतने लम्बे काल तक रहा आना यथार्थ में आश्चर्य की वस्तु थी । कमल के मृणाल तन्तु के द्वारा सिंह के बन्धन की कल्पना जैसी विचित्र है, उसी प्रकार क्षायिक सम्यक्त्वी, अवधिज्ञानी तथा त्रिभुवन में अपूर्व सामर्थ्य संपन्न अन्तर्दृष्टि समलंकृत उज्ज्वल आत्मा का अनात्म पदार्थों में इतना अधिक काल व्यतीत करना कम आश्चर्य की बात नहीं थी । कर्मभूमि का प्रारम्भ काल था । जनता को सच्चे धर्मामृत का रस पानकराकर धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति अविलम्ब आवश्यक थी, किन्तु भगवान का लक्ष्य उस ओर नहीं जा रहा है । प्रहरी स्वयं जागकर सोनेवालों को चोर तथा चोरी से सावधान करता है । मोह रूपी डाकू जीवन के रत्नत्रय को चुराकर उसकी दुर्गति करता है । तीर्थंकर भगवान के तेज, पराक्रम तथा व्यक्तित्व के कारण मोह दुर्बल हो जाता है, यह बात पूर्ण सत्य है, किन्तु यहाँ दूसरी ही बात दिख रही है । प्रहरी पर ही मोह का जादू चल गया प्रतीत होता है । सचमुच में मोह का उदय क्या क्या नहीं करता है ? भगवान प्रजापति हैं, परिवार के स्वामी हैं, प्राण हैं; इससे वे सबकी रक्षा में संलग्न है । परमार्थ दृष्टि से तत्व दूसरा है । कल्याणालोचना में आत्मा के उद्बोधन हेतु कितनी सुन्दर और सत्य बात लिखी है :—

तव को न भवति स्वजनः ।
त्वं कस्य न बन्धुः स्वजनो वा ।।
आत्मा भवेत् आत्मा ।
एकाकी ज्ञायकः शुद्धः ।।४७।।

आत्मन् ! तेरा कोई कुटुम्बी नहीं है, तू किसीका बन्धु या कुटुम्बी नहीं है । तू आत्मा ही है. तू अकेला है, ज्ञायक स्वभाव है, निर्मल है ।

इन्द्र की चिन्ता

भगवान का हृदय करुणापूर्ण था । इससे पीड़ित प्रजा का करुणाक्रंदन सुनकर वे उनके निवारण तथा सांत्वना प्रदानमें लग गए थे । इस मार्ग से अविनाशी मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं होती । संसार में विविध देव, देवताओं को देखने पर पता चलता है, कि उनमें से कुछ जीवों के प्रति ममता, राग तथा मोह में फंस गए और कुछ क्रोधादि के वशीभूत हो गए । राग-द्वेष की ओर न झुककर वीतराग भाव पूर्ण मनोवृत्ति जिनदेव की विशेषता है । इस वृत्ति के द्वारा ही मोह का नाश होता है ।

गृहस्थाश्रम में वीतराग वृत्ति की उपलब्धि असम्भव है, यह बात भगवान के समक्ष उपस्थित करने की योग्यता किसमें है ? इन्द्र ने अनेक बार इस विषय में सोचा कि भगवान अनुपम सामर्थ्यधारी तीर्थंकर होते हुए भी प्रत्याख्यानावरण कषाय के तीव्रोदयवश परम शान्ति तथा कल्याण प्रदाता सकल संग-परित्याग की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं । भगवान से ऐसा निवेदन करना कि आप राज्य का त्यागकर तपोवन को जाइये, विवेकी इन्द्र को योग्य नहीं जंचता था । जगत् के गुरु तथा परमपिता उन प्रभुसे कुछ कहना उनके गुरु बनने की अज्ञ चेष्टा सदृश बात होगी ।

संकेत द्वारा सुझाव

गम्भीर विचार के उपरान्त सौधर्मेन्द्र ने संकेत (Symbol)

द्वारा भगवान के समीप अपना सुझाव उपस्थित करना उपयुक्त सोचकर प्रभु के समक्ष नीलांजना अप्सरा के सुन्दर नृत्य की योजना की। नीलांजना का जीवन कुछ क्षण शेष रहा था।

प्रभु की प्रबुद्धता

नृत्य करते करते उस अप्सरा नीलांजना को प्रत्यक्ष में मृत्यु के मुख में जाते हुए देखकर भगवान की आत्मा प्रबुद्ध हो गई। अवधिज्ञान के प्रयोग द्वारा उन्हें समस्त रहस्य ज्ञात हो गया। वे गंभीर हो वैराग्य के विचारों में निमग्न हो गए। रागवर्धक सामग्री राज-सभा का मन मुग्ध कर रही थी, किन्तु भगवान तपोवन की ओर जाने की सोचने लगे। अब उनके जीवन प्रभात में वैराग्य रूप प्रभाकर के उदय की वेला समीप आ गई। उनकी दृष्टि विशेष रूप से ज्योतिर्मय आत्मदेव की ओर केन्द्रित हो गई।

तप-कल्याणक

नीलांजना के जीवन के माध्यम द्वारा भगवान के मन में अलौकिक वैराग्य ज्योति जग गई। वैराग्य-सूर्य के उदय होने से मोह की अंधियारी दूर हो गई। महापुराणकार के शब्दों में आदिनाथ भगवान विचार करते हैं :—

नारीरूपमयं यंत्रमिदमत्यन्तपेलवम्।
पश्यतामेव नः साक्षात् कथमेतत् अगाल्लयम् ।।३६।।

देखो! यह नारीरूप अत्यन्त मनोहर यन्त्र सदृश नीलांजना का शरीर हमारे साक्षात् देखते-देखते किस प्रकार क्षय को प्राप्त हो गया?

रमणीयमिदं मत्वा स्त्रीरूपं बहिरुज्ज्वलम्।
पतन्तस्तत्र नश्यंति पतंग इव कामुकाः ।।३७।।

बाहर से उज्ज्वल दिखने वाले स्त्री के रूप को अत्यन्त मनोहर मानकर कामीजन उस पर आसक्त होकर प्रकाश पर पड़ने वाले पतंगे सदृश नष्ट होते हैं।

कूटनाटकमेतत्तु प्रयुक्तममरेशिना।
नूनमस्मत्प्रबोधाय स्मृतिमाधाय धीमता ।।१७ पर्व, ३८।।

इन्द्र ने जो यह नीलांजना का नृत्य रूप कृत्रिम नाटक कराया था, यथार्थ में बुद्धिमान अमरेन्द्र ने गम्भीर विचार पूर्वक हमारे प्रबोध हेतु ही ऐसा किया है।

काल लब्धि का महत्व

काल लब्धि समीप आने पर साधारण वस्तु भी महान् प्रबोध तो प्रदान करती है। किन्हीं की यह धारणा है कि काल द्रव्य तो पर तत्व है। उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता कोई महत्व नहीं धारण करती है। यह धारणा आगम तथा अनुभव के विरुद्ध है। कालद्रव्य

के द्वारा ही कार्य होता है, ऐसा एकान्त पक्ष अनेकान्त शासन को अमान्य है किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावरूप सामग्री चतुष्टय का भी महत्व है।

यदि कृषक खेत में बीज वपन करते समय द्रव्य, क्षेत्र, कालादि का उचित ध्यान रखता है, तो उसे इष्ट धान्य प्रचुर प्रमाण में परिपाक के पश्चात् प्राप्त होता है; किन्तु यदि उसने द्रव्यादि चटुष्टय की उपेक्षा की, तो अन्त में उसकी मनोकामना पूर्ण नहीं होगी। स्वाति नक्षत्र के उदयकाल में यदि मेघ की बिन्दु सीप के भीतर प्रवेश करती है, तो उस जल का मुक्तारूप में परिणमन होता है। इस कालिक अनुकूलता के अभाव में सीप में गया हुआ जल मोती के रूप को नहीं धारण करता है।

भूत नैगमनय की अपेक्षा दीपावली के दिन यह कहा जाता है—"अद्य दीपोत्सवदिने श्रीवर्धमानस्वामी मोक्षं गतः" (आलापपद्धति पृष्ठ १६६) आज दीपोत्सव के दिन ही वर्धमान स्वामी मोक्ष गए हैं। उस दीपावली के दिन जो वीरनिर्वाण के विषय में कालिक समानता के कारण चित्त में निर्मलता तथा प्रसन्नता की उपलब्धि होती है, वह प्रत्येक श्रावक के अनुभवगोचर है। दीपावली के दिन यदि पावापुरी क्षेत्र में वर्धमान भगवान की निर्वाण पूजा का सुयोग लाभ मिलता है, तो गृहस्थ अपने को विशेष भाग्यशाली अनुभव करता है।

मरीचि का उदाहरण

महावीर भगवान के जीव भरतेश्वर के पुत्र मरीचिकुमार ने अपने पितामह ऋषभनाथ भगवान के साथ मुनिमुद्रा धारण की थी, किन्तु काललब्धि न मिलने से वह जीव किंचित् न्यून कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण नाना योनियों में भ्रमण करता रहा। काललब्धि आने पर वही जीव तीर्थंकर महावीर स्वामी के पद को प्राप्त कर

चतुर्थकाल को समाप्त होने के तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रहने पर मुक्ति-रमा का स्वामी बन गया। काललब्धि भी अद्भुत है।

सिंह का भाग्य

सिंह पर्यायधारी जीव हरिण-भक्षण में उद्यत था। उसे अजितंजय तथा अमितगुण नाम के चारणमुनियुगल का उपदेश सुनने का सुयोग मिला। काललब्धि की निकटता आ जाने से उस सिंह को धर्मोपदेश प्रिय लगा। उत्तरपुराण में गुणभद्र स्वामी उस मृगेन्द्र के विषय में लिखते हैं—

तत्वश्रद्धानमासाद्य सद्यः कालादिलब्धितः।
प्रणिधाय मनः श्रावकव्रतानि समाददे ॥७४—२०८॥

कालादि की लब्धि मिल जाने से उस सिंह ने तत्वश्रद्धान अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त कर श्रावक के व्रतों को चित्तपूर्वक स्वीकार किया। आचार्य की उस मृगपति के विषय में यह उक्ति अत्यन्त मार्मिक है :—

स्थिररौद्ररसः सद्यः स शमं समधारयत्।
सच्छैलूषसमो मोह-क्षयोपशमभावतः ॥७४—२१०॥

मोहनीय का क्षयोपशम होने से स्थिरता को प्राप्त रौद्ररस-धारी उस सिंह ने कुशल अभिनेता के समान तत्काल शान्त रस को धारण किया; अर्थात् सदा रौद्र परिणाम वाला सिंह अब प्रशान्त परणति वाला बन गया।

काललब्धि आदि के सुयोग समन्वित उस सिंह ने जन्मतः माँसाहारी होते हुए भी मांस का परित्याग कर परम कारुणिकता अङ्गीकार की। गुणभद्राचार्य भविष्य में सिंह के चिन्ह वाले वर्धमान-भगवान बनने वाले उस मृगपति के विषय में लिखते हैं :—

व्रतं नैतस्य सामान्यं निराहारं यतो विना।
क्रव्यादस्यास्य चाहारः साहसं किमतः परम् ॥७४—२११॥

उस सिंह ने समस्त आहार त्याग के सिवाय अन्य साधारण नियम नहीं लिया था, क्योंकि मांस के सिवाय उसका अन्य प्रकार का आहार नहीं था। इससे बड़ा साहस और क्या हो सकता है?

सिंह की शिक्षा

आज मांसाहार में प्रवृत्त होने वाला तथा अपने को सभ्य और सुसंस्कृत मानने वाला मनुष्य की मुद्राधारी प्राणी गम्भीरता पूर्वक इस मांसत्यागी मृगपति के जीवन को देखकर क्या कुछ प्रकाश प्राप्त करेगा?

इस सत्य दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट होती है कि जीवन में काललब्धि का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। जो योग्य कालादि सामग्री को प्राप्त कर प्रमादी बनते हैं, उनको जीवन-प्रदीप बुझने के बाद पाप के फल से नरक में जाकर पश्चात्ताप करने तथा वर्णनातीत दुःख भोगने के सिवाय और कुछ नहीं मिलता है। तीर्थंकर पदवी के स्वामी होते हुए भी परिग्रह का त्याग कर आत्मशांति के लिए तपोवन की ओर प्रस्थान करने वाली श्रेष्ठ आत्माओं को देखकर मोही जीव को अपने लिए शिक्षा लेनी चाहिये।

वैराग्य-ज्योति

धर्मशर्माभ्युदय में भोगों से विरक्त धर्मनाथ जिनेन्द्र के उज्ज्वल भावों का इस प्रकार चित्रण किया गया है :—

बालं वर्षीयांसमाढ्यं दरिद्रं धीरं भीरुं सज्जनं दुर्जनं च।
अश्नात्येकः कृष्णवर्त्मेव कक्षं सर्वग्रासी निर्विवेकः कृतान्तः ॥२०—२

विवेक शून्य यमराज बालक को, वृद्ध को, धनी को, निर्धन को, धीर को, भीरु को, सज्जन को, दुर्जन को भक्षण करता है। इसी से उसे सर्वग्रासी अर्थात् सब को ग्रास बनानेवाला कहते हैं। जैसे अग्नि समस्त जङ्गल को जला डालती है, इसी प्रकार यमराज भी सबको स्वाहा कर देता है।

वैराग्य की ज्योति प्रदीप्त होने पर तीर्थंकर शीतलनाथ भगवान के मनोभावों को गुणभद्रस्वामी इस प्रकार प्रकाशित करते हैं :—

विषयैरेव चेत्सौख्यं तेषां पर्यन्तगोम्म्यहम् ।
ततः कुतो न मे तृप्तिः मिथ्या वैषयिकं सुखम् ।।६—४१।।

इन्द्रियों के प्रिय भोग सामग्री से यदि आनन्द प्राप्त होता है, तो मुझे सीमातीत विषय-सामग्री उपलब्ध हुई है, तब भी मुझे तृप्ति क्यों नहीं प्राप्त होती है ? अतः तत्व की बात यही है कि भोग-सामग्री पर निर्भर सुख अयथार्थ है ।

औदासीन्यं सुखं तच्च सति मोहे कुतस्ततः ।
मोहारिमेव निर्मूलं विलयं प्रापये द्रुतम् ।।६—४२।।

सच्चा सुख राग-द्वेष रहित उदासीन परणति में है । वह सुख मोह के होते हुए कैसे प्राप्त होगा ? इससे मैं शीघ्र ही मोह रूपी शत्रु को जड़ मूल से नष्ट करूँगा । मोह ही असली शत्रु है, क्योंकि उसके कारण आत्मा सत्य तत्व को प्राप्त करने से वंचित हो जाता है ।

अपूर्व बात

आचार्य कहते हैं :—

अहमन्यदिति द्वाभ्यां शब्दाभ्यां सत्यमर्पितम् ।
तथापि कोऽप्ययं मोहादाग्रहो विग्रहादिषु ।।८—४२ उत्तरपुराण।।

'अहं' अर्थात् मैं 'अन्यत्' अर्थात् पृथक् हूँ—इन दो शब्दों में सत्य विद्यमान है, किन्तु मोहवश जीव की शरीरादि के विषय में ममता उत्पन्न होती है । अर्थात् मोह के कारण 'अहं अन्यत्' मैं पुद्गल से अलग हूं इस सत्य तत्व का विस्मरण हो जाता है ।

उज्ज्वल निश्चय

अतएव भगवान् अपने मन में यह निश्चय करते हैं ।

छेत्तुं मूलात्मकर्मपाशानशेषान्सद्यस्तीक्ष्णैस्तद्यतिष्ये तपोभिः ।
को वा कारागाररुद्धं प्रबुद्धः शुद्धात्मानं वीक्ष्य कुर्यादुपेक्षां ।।२०—२३।।

धर्मशर्माभ्युदय

अब मैं तीक्ष्ण तपस्या के द्वारा शीघ्र ही कर्म-बंधनों को मूल से काटने के लिए उद्योग करूँगा। ऐसा कौन व्यक्ति है जो मोह निद्रा दूर होने से जागकर अपनी निर्मल आत्मा को कर्मों के जेलखाने में पराधीन देखकर उपेक्षा या प्रमाद करेगा ? विष मिश्रित मधुर लगने वाले भोजन को कोई व्यक्ति अजानकारी वश तब तक खाता है, जब तक उसे यह सत्य अवगत नहीं होता कि इस भोजन में प्राण घातक पदार्थ मिले हुए हैं। रहस्य का ज्ञान होते ही वह तत्काल उस आहार को छोड़ देता है। इसके सिवाय वह उस उपाय का आश्रय लेता है, जिससे खाया गया विष निर्विषता को प्राप्त हो जाय। ऐसी ही स्थिति अब भगवान् की हो गई।

अपने जीवन के अनमोल क्षणों का अपव्यय उनको अब बहुत व्यथित कर रहा है। मन बारंबार पश्चात्ताप करता है। अब उनकी आत्मा सच्चे वैराग्य के प्रकाश से समलंकृत हो गई। जो अयोध्यावासी उनकी ममता के केन्द्र थे, जो परिवार उनके स्नेह तथा ममत्व का मुख्य स्थल था, मनोवृत्ति में परिवर्तन होने से सभी कुछ आत्म विकास में प्रबल विघ्न दिखने लगे।

अब उनको बाह्य कुटुम्ब के स्थान में आत्मा के सच्चे बंधुओं की इस प्रकार याद आ गई कि क्षमा, मार्दव, सत्य, शील, संयम आदि ही मेरे सच्चे बंधु हैं, कुटुम्बी हैं, अन्य बंधु तो बंध के मूल हैं, कुगति में पतन कराने वाले हैं। अव मैं पुनः मायाजाल में नहीं फसूँगा। अब मेरी मोह निद्रा दूर हो गई। नीलांजना के निमित्त ने उनके नेत्रों के लिए नील अंजन का काम किया। इस अंजन के द्वारा उन्हें सच्चे स्व और पर का पूर्ण विवेक हो गया। वैसे सम्यक्त्व के अधिपति होने से वे स्वानुभूति के स्वामी थे, किन्तु अंतर्मुख वनने में चारित्र मोह उपद्रव करता था। अब प्रबल और सजीव वैराग्य ने उनके अंतर्चक्षु खोल दिए।

दृष्टि परिवर्तन

मोह निद्रा दूर होने से वे भली प्रकार जाग चुके। अब उन्हें कर्मचोर नहीं लूट सकते हैं। जगने के पूर्व वे भगवान् पिता के रूप में भरत, बाहुबली, ब्राम्ही, सुंदरी को देखते रहे। पितामह के रूप मरीचि आदि पौत्रों पर दृष्टि रखते थे। अयोध्या की जनता को प्रजापति होने से आत्मीय भाव देखते थे। अब उनकी संपूर्ण दृष्टि बदल गई। एक चैतन्य आत्मा के सिवाय सर्व पदार्थ पर रूप प्रति-भासमान हो गए। मोतिया बिन्दु वाले के नेत्र में जाला आने से वह अंध सदृश हो जाता है। जाला दूर होते ही प्रकाश प्राप्त होता है। अपना पराया पदार्थ स्पष्ट दिखने लगता है। ऐसा ही यहाँ हुआ।

नीलांजना को अवलंम्बन बनाकर सुधी सुरराज ने भगवान् के नेत्रों को स्वच्छ करने में बड़ी चतुरतासे काम लिया। भगवान् के जन्म होने पर उस इंद्र ने आनन्दित हो सहस्रनेत्र बनाए थे। आज भी सुरराज मोहजाल दूर होने से आध्यात्मिक सौन्दर्य समन्वित विरक्त आदिनाथ प्रभु की अपने ज्ञान नेत्रों द्वारा नीराजना करते हुए-आरती उतारते हुए अपूर्व शान्ति तथा प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। इसका कारण यह है कि इन्द्र महाराज की जिनेन्द्र में जो भक्ति थी, वह मोहान्धकार से मलिन नहीं थी। वह सम्यक्त्व रूप चिंतामणि रत्न के प्रकाश से दैदीप्यमान थी।

लौकांतिकों द्वारा समर्थन

अब तक विरक्त तथा विषयों में अनासक्त रहने वाले देवर्षि रूप से माने जाने वाले लौकान्तिक देव अपने स्थान से ही जिनेन्द्र को प्रणाम करते थे। सुदर्शन मेरु के शिखर पर सारे विश्व को चकित करने वाले जिनेन्द्र भगवान का जन्माभिषेक हुआ। वहाँ चारों निकाय के देव विद्यमान थे, केवल इन विरक्त देवर्षियों का वहाँ अभाव था। ये वैराग्य के प्रेमी कोकिल सदृश थे, जिन्हें अपना मधुर

गीत प्रारम्भ करने के लिए वैराग्यपूर्ण वसन्त ऋतु ही चाहिये थी, जिससे सब कष्टों का सदा के लिए अन्त हो जाता है। योग्य वेला देखकर ये देवर्षि भगवान के समीप आए।

प्रभु को प्रणाम कर कहने लगे "भगवन्! आपने मोह के जाल से छूटने का जो पवित्र निश्चय किया है, वह आप जैसी उच्च आत्मा की प्रतिष्ठा के पूर्णतया अनुरूप है। अब तो धर्मतीर्थ-प्रवर्तन का योग्य समय आ गया है"—"वर्तते कालो धर्मतीर्थ-प्रवर्तने"। हरिवंशपुराण का यह पद्य बड़ा मार्मिक है :—

चतुर्गति-महादुर्गे दिङ्मूढस्य प्रभो दृढं।
मार्गं दर्शय लोकस्य मोक्षस्थानप्रवेशकं ॥९—६९॥

हे नाथ! चारोंगतिरूप महाटवी में दिशाओं का परिज्ञान न होने से भटकते हुए जीवों को मुक्ति पुरी में पहुँचने का सुनिश्चित मार्ग बताइये।

विश्रामन्त्वधुना गत्वा संतस्त्वद्दर्शिताध्वना।
ध्वस्तजन्मश्रमा नित्यं सौख्ये त्रैलोक्यमूर्धनि ॥९—७०॥

प्रभो! अब आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर सत्पुरुष जन्मश्रम शून्य होकर त्रिलोक के शिखर पर, जहाँ अविनाशी आनन्द है, पहुँचकर विश्राम करेंगे। वैराग्य की अनुमोदना के उपरान्त वे स्वर्ग चले गए।

अभिषेक की अपूर्वता

इसके अन्तर चारों निकायके देव आए। उन्होंने क्षीर सरोवर के जल से भगवान का अभिषेक किया। जन्मकल्याणक के समय निर्मल शरीर वाले बाल-जिनेन्द्र के शरीर का महाभिषेक हुआ। आज वैराग्य को प्राप्त मोक्षपुरी को जाकर अपने आत्म-साम्राज्य को प्राप्त करने को उद्यत प्रभु के अभिषेक में भिन्न प्रकार की मनोवृत्ति है। आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य शरीर के अभिषेक के बहाने ये सुरराज अन्तःकरण में जागृत ज्ञान ज्योति से समलंकृत आत्म

देव का अभिषेक कर रहे हैं। यह अभिषेक बालरूप धारी तीर्थंकर का नहीं है। यह तो सिद्धिवधू को वरण करने के लिए उद्यत प्रबुद्ध, पूर्ण विरक्त जिनेन्द्र के शरीर का अंतिम अभिषेक है। इसके पश्चात् इन वीतरागी जिनेन्द्र का अभिषेक नहीं होगा। आगे ये सदा चिन्मयी विज्ञान गंगा में डुबकी लगाकर आत्मा को निर्मल बनावेंगे। अब तो भेदविज्ञान-भास्कर उदित हो गया है। उसके प्रकाश में ये शरीर से भिन्न चैतन्य ज्योति देखकर उसे विशुद्ध बनाने के पवित्र विचारों में निमग्न हैं।

दीक्षा-पालकी

आत्मप्रकाश से सुशोभित जिनराज ने मार्मिक वाणी द्वारा सब परिवार को तथा प्रजा को सांत्वना देते हुए अंतः बाह्य नग्नमुद्रा धारण करने का निश्चय किया। वीतराग प्रभु अब सुदर्शना पालकी पर विराजमान हो गए। भूमिगोचरी राजाओं ने प्रभु की पालकी सात पैंड तक अपने कन्धों पर रखी। विद्याधरों ने भी सप्त पद प्रमाण प्रभु की पालकी को वहन किया। इसके पश्चात् देवताओं ने प्रभु की पालकी कन्धों पर रखकर आकाश मार्ग द्वारा शीघ्र ही दीक्षावन को प्राप्त किया। यह सिद्धार्थ नामक दीक्षावन अयोध्या के निकट ही था। भगवान का सारा परिवार प्रभु की विरक्ति से व्यथित हो साश्रु नयन था। उसे देख ऐसा लगता था, मानों मोह शत्रु के विजयार्थ उद्योग में तत्पर भगवान को देखकर मोह की सेना ही रो रही हो। चारों ओर वैराग्य का सिंधु उद्वेलित हो रहा था।

भ्रम-निवारण

कोई कोई सोचते हैं, भगवान के प्रस्थान के पावन प्रसंग पर प्रभु की पालकी उठाने के प्रकरण को लेकर मनुष्यों तथा देवताओं में झगड़ा हो गया था।

यह कल्पना अत्यन्त असंगत, अमनोज्ञ तथा अनुचित है। उस प्रसंग की गंभीरता को ध्यान में रखने पर एक प्रकार से सारशून्य ही नहीं; अपवादपूर्ण भी प्रतीत हुए बिना न रहेगी। जहाँ विवेकी सौधर्मेन्द्र के नेतृत्व में सर्व कार्य सम्यक् रीति से संचालित हो रहे हों, चक्रवर्ती भरत सदृश प्रतापी नरेन्द्र प्रजा के अनुशासन प्रदाता हों और जहाँ भगवान के वैराग्य के कारण प्रत्येक का ममता पूर्ण हृदय विशिष्ट विचारों में निमग्न हो, वहाँ झगड़ा उत्पन्न होने की कल्पना तक अमंगल रूप है। सभी लोग विवेकी थे, अतएव संपूर्ण कार्य व्यवस्थित पद्धति से चल रहा था। सौधर्मेन्द्र तो एक सौ सत्तर कर्म-भूमियों में एक सौ सत्तर तक तीर्थंकरों के कल्याणकों के कार्य संपादन करने में सिद्धहस्त तथा अनुभवप्राप्त है। अतः स्वप्न में भी क्षोभ की कल्पना नहीं की जा सकती।

तपोवन में पहुँचना

भगवान् सिद्धार्थ वन में पहुँचकर पालकी से नीचे उतरे। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

अवतीर्णः स सिद्धार्थो शिविकायाः स्वयं यथा।
देवलोकशिरस्थाया दिवः सर्वार्थसिद्धितः ॥९--९३॥

सिद्ध बनने की कामना वाले सिद्धार्थी भगवान ऋषभदेव देवलोक के शिर पर स्थित पालकी पर से स्वयं उतरे, जैसे वे सर्वार्थ-सिद्धि स्वर्ग से अवतीर्ण हुए थे। अब मुमुक्षु भगवान मोहज्वर से मुक्त होकर आत्म स्वास्थ्य प्राप्ति के हेतु स्वस्थता संपादक तपोवन के ही वातावरण में रहकर क्रमशः रोगमुक्त हो अविनाशी स्वास्थ्य को शीघ्र प्राप्त करेंगे। उन्होने देख लिया कि सच्चा स्व तथा पर का कल्याण अपने जीवन को आदर्श (दर्पण) के समान आदर्श बनाना है। मलिन दर्पण जब तक मलरहित नहीं बनता है, तब तक वह पदार्थों का प्रति-बिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ रहता है, इसी प्रकार मोहमलिन मानव का मन त्रिभुवन के पदार्थों को अपने में प्रतिबिंबित कराने में अक्षम रहता है।

भगवान के विचार

भगवान ने यह तत्व हृदयंगम किया, कि ग्रात्मा की कालिमा को धोकर उसे निर्मल बनाने के लिए समाधि ग्रर्थात् ग्रात्मध्यान की ग्रावश्यक्ता है। जनाकीर्ण जगत् के मध्य में रहने से व्यग्रता होती है, भावों में चंचलता ग्राती है तथा चंचल मन ग्रत्यन्त सामर्थ्यहीन होता है; ग्रतएव चित्त वृत्ति को स्थिर बनाकर मोह को ध्वंस करने के लिए ही ये प्रभु ग्रावश्यक कार्य संपादन में संलग्न हैं।

तीर्थंकर भगवान के कार्य श्रेष्ठ रहे हैं, ग्रतएव तपस्या के क्षेत्र में भी इनकी ग्रत्यन्त समुज्ज्वल स्थिति रहती है। वैराग्य से परिपूर्ण इनका मन ग्रात्मा की ग्रोर पूर्ण उन्मुख है। ग्रब वह ग्रधिक बहिर्मुखता को ग्रात्महित के लिए बाधक सोच रहा है।

प्रजा को उपदेश

ग्रपने समीप में स्थित प्रजा को प्रभु ने कहा 'शोकं त्यजत भोः प्रजाः'—ग्ररे प्रजाजन! तुम शोक भाव का परित्याग करो। हमने तुम्हारी रक्षा के हेतु भरत को राजा का पद दिया है, 'राजा वो रक्षणे दक्षः स्थापितो भरतो मया'। तुम भरतराज की सेवा करना। भगवान ने सर्वतोभद्र नरेन्द्र भवन परित्याग करते समय एकबार पहले बंधु वर्ग से पूछ लिया था, फिर भी उन जगत् पिता ने सर्व इष्ट जनों को धैर्य देते हुए पुनः ग्रनुज्ञा प्राप्त की। यह उनकी महानता थी।

दीक्षा विधि

उस वन में देवों ने चन्द्रकांतमणि की शिला पहिले ही रख दी थी। इन्द्राणी ने ग्रपने हाथों से रत्नों को चूर्णकर उस शिला पर चौका बनाया। उस पर चन्दन के मांगलिक छींटे दिए गए थे। उस शिलाके समीप ही ग्रनेक मंगल द्रव्य रखे थे। भगवान उस शिला पर विराजमान हो गए। ग्रासपास देव, मनुष्य, विद्याधरादि उपस्थित थे।

परिग्रह-त्याग तथा केशलोच

भगवान ने यवनिका (पर्दा) के भीतर वस्त्र, आभूषणादि का परित्याग किया। उस त्याग में आत्मा, देवता तथा सिद्ध भगवान ये तीन साक्षी थे। महापुराण में लिखा है :—

तत् सर्वं विभुरत्याक्षीत् निर्व्यपेक्षं त्रिसाक्षिकम् ।।१७—१९९।।

भगवान ने अपेक्षा रहित होकर त्रिसाक्षीपूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया। अनन्तर भगवान ने पूर्व की ओर मुख करके पद्मासन हो सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया और पंचमुष्टि केशलोच किया। पंचअंगुली निर्मित मुष्टि के द्वारा संपादित केशलोच करते हुए वे पंचमगति को प्रस्थान करने को उद्यत परम पुरुष द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पञ्चकाल-परावर्तनों का मूलोच्छेद करते हुए प्रतीत होते थे।

महामौन व्रत

अब ये प्रभु सचमुच में महामुनि, महामौनी, महाध्यानी, महादम, महाक्षम, महाशील, महायज्ञवाले तथा महामखयुक्त बन गए :—

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः।
महाक्षमः महाशीलो महायज्ञो महामखः।।

इन महामुनि प्रभु का मौन अलौकिक है। इनका मौन अब केवलज्ञान की उपलब्धि पर्यन्त रहेगा। इनकी दृष्टि बहिर्जगत् से अंतर्जगत् की ओर पहुँच चुकी है इसलिए राग उत्पन्न करने की असाधारण परिस्थिति आने पर भी इन्होंने वीतराग वृत्ति को निष्कलंक रखा। इनके चरणानुरागी चार हजार राजाओं ने इनका अनुकरण कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी। परीषहों को सहने में असमर्थ हो वे भ्रष्ट होने लगे। और भी विशिष्ट परिस्थितियाँ समक्ष आईं। दुर्बल मनोवृत्ति वाला ऐसे प्रसंगों पर मोह के चक्कर

में फंसे बिना न रहता, और कुछ न कुछ अवश्य कहता, किन्तु ये वीतराग जिनेन्द्र महामौनी ही रहे आए।

यदि भगवान ने मौनव्रत न लिया होता और उनका उपदेश प्राप्त होता, तो उनके साथ में दीक्षित चार सहस्र राजाओं को प्रभु द्वारा उद्‌बोधन प्राप्त होता तथा उनका स्थितीकरण होता। उन प्रभु को छह माह से अधिक काल पर्यन्त आहार की प्राप्ति नहीं हुई, क्योंकि लोगों को मुनियों को आहार देने की पद्धति का परिज्ञान न था। यदि भगवान् का मौन न होता, तो चतुर व्यक्ति को प्रभु के द्वारा श्रावकों के कर्तव्य का स्वरूप सहज ही अवगत हो सकता था।

मौन का रहस्य

कोई व्यक्ति पूछ सकता है कि मौन लेने में क्या लाभ है? प्रकृति के द्वारा प्राप्त संभाषण की सामग्री का लाभ न लेना अनुचित है।

इस शंका का समाधान महान योगी पूज्यपाद महर्षि की इस उक्ति से हो जाता है :—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्च चित्त-विभ्रमाः।
भवति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥ समाधिशतक ७२॥

लोक संपर्क होने पर वचनों की प्रवृत्ति होती है। इस वचन प्रवृत्ति के कारण मानसिक विकल्प उत्पन्न होते हैं। उससे चित्त में विभ्रम पैदा होता है; अतएव योगी जन-संसर्ग का परित्याग करे।

मन को जीतना अत्यन्त कठिन कार्य है। तनिक भी चंचलता का कारण प्राप्त होते ही मन राग-द्वेष के हिंडोले में झूलना प्रारम्भ कर देता है; अतएव जिन महान् आत्माओं ने योग विद्या का अंतस्तत्व समझ लिया है, वे मौन को बहुत महत्व देते हैं। मौन के आश्रय से चित्त की चंचलता को न्यून करने में सहायता प्राप्त होती

है। आत्मा की प्रसुप्त लोकोत्तर शक्तियां जागृत होती हैं। मोक्षपुरी के पथिक की प्रवृत्ति संसार वन में भटकने वाले प्राणी की अपेक्षा पूर्णतया पृथक् होती है।

तीर्थंकर भगवान ने जीवन में सदा श्रेष्ठ कार्य ही संपन्न किए हैं। तप के क्षेत्र में भी पदार्पण करने पर उनकी संयम-साधना सर्वोपरि रही है, अतएव केवलज्ञान की उपलब्धि पर्यन्त उन्होंने श्रेष्ठ मौन व्रत स्वीकार किया।

विशेष कारण

उनके श्रेष्ठ मौन का एक विशेष रहस्य यह भी प्रतीत होता है, कि अब वे मुख्यता से अंतः निरीक्षण तथा आत्मानंद में निमग्न रहने लगे। अब वे विशुद्ध तत्व का दर्शन कर रहे हैं। जब तक भगवान् ने मुनि पदवी नहीं ली थी, तब तक उनको महान् ज्ञानी माना जाता था। थे भी वे महान् ज्ञानी। जन्म से अवधिज्ञान की विमल दृष्टि उनको प्राप्त हुई थी; दीक्षा लेने के उपरान्त वे प्रभु मनःपर्ययज्ञान के अधिपति हो जाते हैं। उनके क्षायोपशमिक ज्ञान चतुष्टय अपूर्व विकास को प्राप्त हो रहे हैं, किन्तु वे आत्म-निरीक्षण द्वारा स्वयं को ज्ञानावरण, दर्शनावरण के जाल में फंसा हुआ देखते हैं। इसीलिए दीक्षा लेने के बाद जब तक साधना का परिपाक कैवल्य ज्योति के रूप में नहीं होता है, तब तक भगवान् को 'छद्मस्थ' शब्द से (आगम में) कहा गया है। अपरिपूर्ण ज्ञान की स्थिति में परिपूर्ण तत्व का प्रकाशन कैसे संभव होगा? ऐसी स्थिति में मौन का शरण स्वीकार करना उचित तथा श्रेयस्कर है।

इस प्रसंग में तत्वदर्शी परम योगी पूज्यपाद मुनीन्द्र का यह कथन बहुत मार्मिक है :—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

मैं नेत्रों के द्वारा जिस रूप का (शरीर का) दर्शन करता हूँ, वह तो पूर्णतया ज्ञान रहित है। ज्ञानवान आत्मा में रूपादि का असद्भाव है। उसका दर्शन नहीं होता है; ऐसी स्थिति में किसके साथ बातचीत की जाय ?

आचार्य का भाव सूक्ष्म तथा गंभीर है। मैं तो ज्ञानमय चैतन्य ज्योति हूँ। दूसरे व्यक्ति के शरीर में विद्यमान ज्ञानमय आत्मा का दर्शन नहीं होता। दर्शन होता है रूपवान देह का, जो ज्ञान रहित है। अतः ज्ञानवान आत्मा ज्ञान रहित शरीर से किस प्रकार वार्तालाप करे ? इस विचार द्वारा साधु वाह्य जल्प को बंद करते हैं। मन में जो अंतर्जल्प होता है, उस विकल्प के विषय में स्वानुभूति का अमृत रसपान करने वाले आत्म-निमग्न साधु सोचते हैं :—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

मैं वचनादि विकल्पों से रहित निर्विकल्प अवस्था वाला हूँ; अतः मैं दूसरों के द्वारा प्रतिपाद्य हूँ (प्रतिपादन का विषय हूँ) अथवा मैं दूसरों को प्रतिपादन करता हूँ, ऐसी मेरी चेष्टा यथार्थ में उन्मत्त की चेष्टा सदृश है। इस चिंतन द्वारा मुनीन्द्र अंतर्जल्प का भी त्याग करते हैं।

निश्चयदृष्टि की प्रधानता

भगवान् का लक्ष्य है शुक्ल ध्यान की उपलब्धि। उन्होंने मुमुक्षु होने के कारण विशुद्ध तात्विक दृष्टि को प्रमुख बनाया है। अब वे आत्म-सापेक्ष निश्चय दृष्टि को प्रधानता देते हैं। इसलिये वे स्वोपकार में संलग्न हैं। परोपकार संपादनार्थ बोलने की रागात्मक परणति उन्हें मुक्ति की प्राप्ति में बाधक लगती है। उनकी दृष्टि है कि कोई किसी दूसरे जीव का न हित कर सकता है, न अहित ही कर सकता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है 'न कोवि जीवस्स कुणइ उवयारं' —जीव का कोई अन्य उपकार नहीं करता है; 'उवयारं

ग्रवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि' (३१९ गाथा) शुभ तथा ग्रशुभ कर्म ही जीव का उपकार तथा ग्रपकार करते हैं। ग्रध्यात्मशास्त्र स्वतत्व की मुख्यता से कहता है, कि एक द्रव्य दूसरे का कुछ भी भला बुरा नहीं करता है। समयसार में कितनी सुन्दर बात लिखी है :—

ग्रण्णदविएण ग्रण्णदविदस्स ण कीरए गुणुप्पाग्रो।
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

ग्रन्य द्रव्य के द्वारा ग्रन्य द्रव्य में गुण का उत्पाद नहीं किया जा सकता, ग्रतएव सर्व द्रव्य स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

मोक्षाभिलाषी श्रमण की दृष्टि यदि तनिक स्व से बहिर्भूत हो गई तो उस ग्रात्मा को लक्ष्य से च्युत हो जाना पड़ता है। सूक्ष्मतम भी रागांश जगकर इस ग्रात्मा को संसार जाल में फंसा देता है।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि दुर्योधन के कुटुम्बियों ने ग्रात्मध्यान में निमग्न पांचों पांडवों पर भयंकर उपसर्ग किए थे। ग्रग्नि में संतप्त लोहमयी ग्राभूषण उनके शरीर को पहिनाए थे। उस उष्ण परीषह को उन्होंने शांत भाव से सहन किया था। "रौद्रं दाहोपसर्गं ते मेनिरे हिमशीतलम्" (सर्ग ६५—२१) उन्होंने भीषण दाह की वेदना को हिम सदृश शीतल माना।

शुक्लध्यानसमाविष्टा भीमार्जुनयुधिष्ठिराः।
कृत्वाष्टविध-कर्मान्तं मोक्षं जग्मुस्त्रयोऽक्षयं ॥६५—२२॥

भीम, ग्रर्जुन तथा युधिष्ठिर ने शुक्ल ध्यान को धारण करके ग्राठ कर्मों के क्षय द्वारा ग्रविनाशी मोक्ष को प्राप्त किया।

बहिर्दृष्टि का परिणाम

उस समय नकुल तथा सहदेव का ध्यान ज्येष्ठ बन्धुग्रों के देहदाह की ग्रोर चला गया, इससे उनको मोक्ष के स्थान में सर्वार्थ-सिद्धि में जाकर तेतीस सागर प्रमाण स्वर्ग में रहना पड़ा। इस समय तीन पांडव मोक्ष में हैं, किन्तु नकुल ग्रौर सहदेव संसार में ही हैं। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

नकुलः सहदेवश्च ज्येष्ठदाहं निरीक्ष्य तौ ।
अनाकुलितचेतस्कौ जातौ सर्वार्थसिद्धिजौ ।।६५—२३।।

नकुल तथा सहदेव ने ज्येष्ठ बन्धुओं के शरीर-दाह की ओर दृष्टि दी थी; इससे आकुलता रहित मनोवृत्तियुक्त होते हुए भी वे शुद्धोपयोग विहीन होने से मोक्ष के बदले सर्वार्थिद्धि में पहुँचे ।

इस दृष्टांत से यह बात स्पष्ट होती है, कि अल्प भी रागांश अग्नि कण के समान तपश्चर्यारूप तृणराशि को भस्म कर देता है; अतएव जिस जन-कल्याण को पहले गृहस्थावस्था में भगवान ने मुख्यता दी थी, अब उस ओर से उन्होंने अपना मुख पूर्णतया मोड़ लिया । वे महाज्ञानी होने के कारण मोहनीय कर्म की कुत्सित प्रवृत्तियों का रहस्य भली भांति जानते हैं ।

जीवन द्वारा उपदेश

एक बात और है; सच्चे तपस्वी मुख से उपदेश नहीं देते, किन्तु उनका समस्त वीतरागता पूर्ण जीवन मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करता हुआ प्रतीत होता है । पूज्यपाद आचार्य के ये शब्द अत्यन्त मार्मिक हैं 'अवाग्विसर्गं वपुषा मोक्षमार्गं निरुपयंतं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यम्' अर्थात् वाणी का उच्चारण किए बिना अपने शरीर के द्वारा ही मोक्ष के मार्ग का निरूपण करते हुए निर्ग्रन्थाचार्य शिरोमणि थे; अतएव उज्ज्वल आत्मा का जीवन ही श्रेष्ठ तथा प्रभावप्रद उपदेश देता है । भगवान की समस्त प्रवृत्तियाँ अहिंसा की ओर केन्द्रित हैं ।

मौन वाणी का प्रभाव

मौनावस्था में भी संवेदनशील पशु तक भी उस अहिंसा पूर्ण मौनोपदेश को अवधारणकर सम्यक् आचरण करते हुए पाए जाते थे । महापुराणकार लिखते हैं :—

मृगारित्वं समुत्सृज्य सिंहाः संहतवृत्तयः ।
बभवुर्यू थेन माहात्म्यं तद्धि योगजम् ।।१८—८२।।

सिंह, हरिण आदि जन्तुओं के साथ वैरभाव छोड़कर हाथियों के समुदाय के साथ मिलकर रहने लगे थे । यह सब प्रभु के योग का प्रभाव ही था ।

प्रस्नुवाना महाव्याघ्री रुपेत्य मृगशावकाः ।
स्वजनन्यास्थया स्वैरं पीत्वा स्म सुखमासते ॥१८—८४॥

मृगों के बच्चे दूध देती हुई महा बाघनियों के पास जाते हैं । वे उनको स्व-जननी सोचकर इच्छानुसार दूध पीकर सुखी हो रहे हैं ।

शक्ति संचय

मौन द्वारा भगवान अलौकिक शक्ति संचय कर रहे हैं, उसके फल स्वरूप केवलज्ञान होने पर उनकी दिव्यध्वनि द्वारा असंख्य जीवों को सच्चे कल्याण की प्राप्ति होती है । इस विवेचन के प्रकाश में सभी तीर्थंकरों का दीक्षा के उपरान्त मौन धारण करने का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है । यह मौन महान तप है, इच्छाओं के नियंत्रण का महान् कारण है ।

त्यागे गये वस्त्रादि का आदर

भगवान ने दीक्षा लेकर तपोवन का मार्ग ग्रहण किया । पूर्व में उनसे संबंध रखने वाले वस्त्रादि के प्रति इन्द्रादि ने बड़ा आदर भाव व्यक्त किया । यथार्थ में यह आदर भगवान के प्रति समझना चाहिए । महापुराणकार कहते हैं :—

वस्त्राभरण-माल्यानि यान्युन्मुक्तान्यधीशिना ।
तान्यप्यनन्य-सामान्यां निन्युरत्युन्नति सुराः ॥१७—२११॥

भगवान ने जिन वस्त्र, आभूषण, माला आदि का त्याग किया था; देवों ने उन सब का असाधारण आदर किया ।

केशों की पूज्यता

केशलोंच के उपरान्त केशों का तक आदर हुआ । भक्त

इन्द्र की दृष्टि अपूर्व थी। केश वास्तव में अपवित्र हैं। आहार में केश आ जाने पर मुनिजन अंतराय मानते हैं। गृहस्थों तक को यह अंतराय मानना आवश्यक कहा गया है, फिर भी वे केश पवित्र थे, क्योंकि भगवान के मस्तक पर उन्होंने बहुत काल तक निवास किया था। आचार्य कहते हैं :—

केशान्भगवतो मूर्ध्नि चिरवासात्पवित्रितान्।
प्रत्यैच्छन्मघवा रत्नपटल्यां प्रीतमानसः ॥१७-२०४॥

भगवान के मस्तक पर चिरकाल से स्थित रहने के कारण पवित्र हुए केशों को इन्द्र ने प्रेम पूर्ण अंत:करण से रत्नके पिटारे में रख लिया।

धन्याः केशाः जगद् भर्तुः येऽर्धमूर्धमधिष्ठिताः ॥
धन्योसौ क्षीरसिन्धुश्च यस्तानाप्स्यत्युपायनम् ॥२०८॥

ये केश धन्य हैं जो त्रिलोकीनाथ के मस्तक पर स्थित रहे। यह क्षीर समुद्र भी धन्य है, जो इन केशों को भेट स्वरूप प्राप्त करेगा।

ऐसा विचार कर इन्द्रों ने उन केशों को सादर क्षीर समुद्र में विसर्जन कर दिया। आचार्य कहते हैं :—

महतां संश्रयान्नूनं यान्तीज्यां मलिना अपि ।
मलिनैरपि यत्केशैः पूजावाप्ता श्रितैर्गुरुम् ॥२१०॥

मलिन पदार्थ भी महान आत्माओं का आश्रय लेने से इज्या अर्थात् पूजा को प्राप्त होते हैं। भगवान के मलिन (श्यामवर्ण वाले) केशों ने भगवान का आश्रय ग्रहण करने के कारण पूज्यता प्राप्त की।

इस श्लोक के अर्थ पर यदि गहरा विचार किया जाय, तो कहना होगा कि यदि मलिन केश अचेतन होते हुए भगवान के संपर्कवश पूजा के पात्र होते हैं, तो अन्य सचेतन आराधक विशेष भक्ति के कारण यदि पूजा के पात्र कहे जावें, तो इसमें क्या आपत्ति की जा सकती है ?

जिस चैत्र कृष्णनवमी को भगवान ने दीक्षा ली थी, वह दिवस पवित्र माना जाने लगा। जिस वृक्ष के नीचे भगवान ने दीक्षा

ली थी, वह वट वृक्ष आदर का पात्र हो गया। समवशरण में वह वट वृक्ष अशोक वृक्ष के रूप में महान् प्रतिष्ठा का स्थान बन गया। वह अष्ट प्रातिहार्यों में सम्मिलित किया गया। इन पदार्थों में स्वयं पूज्यता नहीं है। जो इन वृक्षों को स्वयं के कारण पूज्य मानता है, वह तत्वज्ञ नहीं माना गया है।

सामायिक चारित्र धारण

भगवान ने दीक्षा लेते समय सिद्ध भगवान को प्रणाम करते हुए सर्व सावद्य-योग त्याग रूप सामायिक चारित्र धारण किया था। महापुराण में लिखा है :—

कृत्स्नाद् विरम्य सावद्याच्छ्रितः सामायिकं यमम्।
व्रत-गुप्ति-समित्यादीन् तद्भेदानाददे विभुः ॥१७—२०२॥

समस्त पापारंभ से विरक्त होकर भगवान ने सामायिक चारित्र धारण किया; उन्होंने व्रत, गुप्ति, समिति आदि चारित्र के भेद भी ग्रहण किए थे।

दीक्षा लेते ही वे साम्राज्य रक्षा आदि के भार से मुक्त हो गए। साम्राज्य का संरक्षण अनेक चिंताओं एवं आकुलताओं का हेतु रहता है। दीक्षा लेते ही आत्मयोगी ऋषभनाथ भगवान को विलक्षण शांति प्राप्त हुई। उनके मन में ऐसी विरागता तथा विशुद्धता उत्पन्न हुई कि उन्होंने तत्काल छह माह का लम्बा उपवास ग्रहण कर लिया। उनकी बहिर्जगत् से तो पूर्ण विमुख दृष्टि है, वे अंतर्ज्योति को जगाकर चुन चुनकर कर्म शत्रुओं का विनाश करने में तत्पर हैं।

भगवान देखने में परम शांत हैं। प्रशम भाव के प्रशान्त महासागर तुल्य लगते हैं, किन्तु कर्म शत्रुओं का नाश करने में वे अत्यन्त दयाहीन हो गए हैं। क्रूरता पूर्वक चिरसंचित कर्मरूपी ईन्धन को वे ध्यानाग्नि में भस्म कर रहे हैं।

आध्यात्मिक साधना में निमग्नता

चर्म चक्षुओं से देखने पर ऐसा लगता है कि जो पहले निरन्तर कार्यशील प्रजापति थे, वे अब विश्राम ले रहे हैं या अकर्मण्य बन गए हैं, क्योंकि उनका कोई भी कार्य नहीं दिखता । आज का भौतिक दृष्टियुक्त व्यक्ति कोल्हू के बैल की तरह जुते हुए मानव को ही कार्यशील सोचता है । जिस व्यक्ति को खाने की फुरसत न मिले, सोने को पूरा समय न मिले, ऐसे कार्य-संलग्न चितामय मानव को लोग कर्मठ पुरुष मानते हैं; इस दृष्टि से तो तपोवन के एकान्त स्थल में विराजमान ये साधुराज संसार के उत्तरदायित्व का त्याग करने वाले प्रतीत होंगे; किन्तु यह दृष्टि अज्ञान तथा अविवेक पूर्ण है ।

अब ये महामुनि अत्यन्त सावधानी पूर्वक आत्मा के कलंक प्रक्षालन में संलग्न हैं । आत्मा को सुसंस्कृत बनाने के महान आध्यात्मिक उद्योग में निरत हैं । अनादिकालीन विपरीत संस्कारों के कारण मन कुमार्ग की ओर जाना चाहता है, किन्तु ये आध्यात्मिक महायोद्धा बलपूर्वक प्रचंड मन का नियंत्रण करते हैं । जैसे भयंकर हत्या करने वाले आततायी डाकू पर पुलिस की कड़ी निगाह रहती है; एक क्षण भी उस डाकू को स्वच्छंद नहीं रखा जाता, उसी प्रकार ये मुनीन्द्र अपने मन को आर्तध्यान, रौद्रध्यान रूपी डाकुओं से बचाते हैं । उसे स्वकल्याण के कार्यों में सावधानी पूर्वक लगाते हैं ।

शासन व्यवस्था करते समय सुचतुर शासक को जितनी चिंता रहती है तथा श्रम उठाना पड़ता है, उससे अधिक उद्योग प्रभु का चल रहा है । 'वैराग्यभावना नित्यं, नित्यं तत्वानुचिंतनम्' का महान कार्यक्रम सदा चलता रहता है । क्षणभर भी ये प्रमाद नहीं करते हैं, जैसे यंत्र का चक्र एक जगह रहते हुए भी बड़े वेग से गतिशील रहता है । अत्यधिक गतिशीलता के कारण वह स्थिर रूप सरीखा दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार की तीव्र गति इन योगिराज की हो रही है । भोगी व्यक्ति वास्तव में योगी की आंतरिक स्थिति को

इसी प्रकार नहीं जान सकता, जैसे अन्ध व्यक्ति चक्षुष्मान मानव के ज्ञान की कल्पना नहीं कर सकता है ।

आत्मयज्ञ

भगवान ने जगत की तरफ पीठकर दी है। अब उनका मुख आत्मा की ओर है । वे महान आत्म-यज्ञ में लगे हैं। यह यज्ञ विलक्षण है । क्रोधाग्नि, कामाग्नि एवं उदराग्नि रूप तीन प्रकार की अग्नि प्रदीप्त हैं । वे क्रोधाग्नि में क्षमा की आहुति, कामाग्नि में वैराग्य की आहुति तथा उदराग्नि में अनशन की आहुति अर्पण करते रहते हैं । गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में लिखा है :—

> त्रयोग्नयः समुदिष्टाः क्रोध-कामोदराग्नयः ।
> तेषु क्षमाविरागत्वानशनाहुतिभिर्वने ।।६७ पर्व, २०२।

इस आत्मयज्ञ के फल स्वरूप प्रत्येक साधक साधु शीघ्र ही सिद्ध भगवान की पदवी को प्राप्त करता है ।

मनः पर्ययज्ञान के विषय में उत्प्रेक्षा

जब भगवान ने परिग्रहादि का परित्याग करके प्रत्येक बुद्ध श्रमण की वृत्ति अंगीकार की थी, तब उनको पंचम गुणस्थान से सातवें गुणस्थान की अवस्था प्राप्त हुई थी; अंतर्मुहूर्त के पश्चात् वे प्रमत्त संयत बन गए । प्रमत्त दशा से अप्रमत्तता की ओर चढ़ना उतरना जारी रहता था ।

शीघ्र ही भगवान् को मनःपर्ययज्ञान की प्राप्ति हो गई । यह ज्ञान परिग्रह त्यागी दिगम्बर भावलिंगी मुनिराज के ही होता है, गृहस्थ इस ज्ञान के लिए अपात्र है । इस सम्बन्ध में गुणभद्राचार्य ने बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है । वे कहते हैं; भगवान् ने परिग्रह त्याग करके सामायिक संयम को स्वीकार किया है । संयम ने भगवान को मनः पर्ययज्ञान प्रदान किया है, वह एक प्रकार से केवलज्ञान का ब्याना

समान है। जैसे व्यापारी वर्ग किसी वस्तु का सौदा पक्का करने के हेतु विश्वास संपादन निमित्त कुछ द्रव्य पहले ही दे देते हैं, इसी प्रकार अन्त में केवलज्ञान रूप निधि प्रदान करने के पूर्व मनः पर्ययज्ञान की उत्पत्ति संयम के द्वारा प्रदत्त ब्याना की रकम सदृश है। आचार्य के मार्मिक शब्द इस प्रकार हैं :—

चतुर्थोप्यवबोधोस्य संयमेन समर्पितः।
तदैवांत्यावबोधस्य सत्यंकार इवेशितुः ॥७४—३१२॥

दीक्षा लेने के अनंतर ही संयम ने केवलज्ञानके ब्याना (सत्यंकार) के समान भगवान को मनःपर्ययज्ञान नामका चौथा ज्ञान समर्पण किया था।

प्रभु की पूजा

महाराज भरत ने महामुनि ऋषभनाथ भगवान की अष्ट-द्रव्यों से भक्तिपूर्वक पूजा की। जिनसेन स्वामी महापुराण में लिखते हैं, कि भरत महाराज ने विविध फलों द्वारा पूजा सम्पन्न की थी :—

परिणतफलभेदैराम्र-जम्बू-कपित्थैः।
पनस-लकुच-मोचैः दाडिमैर्मातुलिंगैः॥
क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नालिकेरैश्चरम्यैः।
गुरुचरणसपर्यामातनोदाततश्रीः ॥१७—२५२॥

समृद्ध लक्ष्मीयुक्त महाराज भरत ने पके मनोहर आम, जामुन, कैथा, कटहल (पनस) बड़हल, केला, अनार, बिजौरा नीबू सुपारियों के सुन्दर गुच्छे तथा रमणीय नारियलों से वीतराग गुरु के चरणों की पूजा की थी।

वीतराग-वृत्ति

कोई पूजा करे तो उस पर उनका रागभाव नहीं था। कोई पूजा, सत्कार न करे, तो उस पर उनके मन में द्वेषभाव नहीं था। वे तो यथार्थ में वीतराग थे। लोग सामान्यतया अध्यात्म की रचना को

पढ़कर अपने को वीतराग समझने लगते हैं। गृहवास करने वाला व्यक्ति राग, द्वेष, मोह तथा ममता की मूर्ति रहता है। सहस्र चिंताओं तथा आकुलताओं का भण्डार रहता है।

परिग्रह का संचय करनेवाला वाचनिक वीतरागता के क्षेत्र में विचरण कर सकता है। बिना अकिंचन वृत्ति को अङ्गीकार किए स्वयं में वीतरागता का अभिनिवेश श्वान को सिंह मानने सदृश अपरमार्थ बात है। किसी गीत को यदि गा लिया कि, हे चेतन! तू तो कर्ममल रहित है, रागद्वेष रहित है, तू सिद्ध परमात्मा है। उस गीत का गान करते हुए नेत्रों से आनन्द के अश्रु भी टपक पड़े, तो क्या वह गृहस्थ वीतराग विज्ञानता का रसपान करने लगा? वीतरागता की प्राप्ति तुतलाने वाले तथा खड़े होने में भी असमर्थ बच्चों का खेल नहीं है। अपना सर्वस्व त्याग करके जब आत्मा परमार्थतः स्वाधीन वृत्ति को स्वीकार करता है, तब उसे वीतरागता की आंशिक उपलब्धि होती है। निर्ग्रन्थ भावलिंगी प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती साधु के पास दूज के चन्द्रमा समान वीतरागता की अल्प ज्योति आती है। मोह कर्म का पूर्ण क्षय होने पर वीतरागता का पूर्णचन्द्र अपनी ज्योत्स्ना द्वारा मुमुक्षु को वर्णनातीत आनन्द तथा शान्ति प्रदान करता है। ऐसे महापुरुष के पास अंतर्मुहूर्त में ही अनन्तज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

स्वावलम्बी जीवन

भगवान अब उच्च चरित्र को अंगीकार कर वास्तविक वीतरागता के पथ पर चलने को उद्यत हैं, इससे वे यह नहीं सोचते कि मैं महान वैभव का स्वामी रहा हूँ तथा मैं रत्नजटित सिंहासन पर बैठा करता था। मैं सुरेन्द्र द्वारा लाई गई अपूर्व सामग्री का उपभोग करता था।

अब वे तीन लोक के नाथ भूतल पर सोते थे। उनको पृथ्वी तल पर बैठे या लेटे हुए देखकर ऐसा प्रतीत होता था,

मानो ये प्रकृति माता की गोद में ही बैठे हों। मुनि सामान्य के लिए परमागम में प्रतिपादित अट्ठाईस मूलगुणों का ये पालन करते थे। तीर्थंकर होने के कारण इनको संयम पालन में कोई विशेष सुविधा नहीं दी गई थी। दीक्षा लेने के पश्चात् ये सिंह सदृश एकाकी साधु परमेष्ठी के रूप में थे। ये न आचार्य पदवी वाले थे, न उपाध्याय पद वाले थे। ये तो साधुराज थे। इनको देखकर यह प्रतीत हो जाता है, कि परमार्थ दृष्टि से साधु का पद बहुत ऊँचा है। जब आत्मा श्रेणी पर आरोहण करता है, तब वह साधु ही तो रहता है। आचार्य, उपाध्याय तो विकल्प की अवस्थाएँ हैं। निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त करने के लिए इन उपाधियों से भी मुक्त होना आवश्यक है। ये भगवान कर्तृत्व, भोक्तृत्व की विकृत दृष्टि के स्थान में ज्ञातृत्व भाव को अङ्गीकार करते हुए ज्ञानचेतना जनित आत्मरस का पान करते हैं। ऋषभनाथ भगवान ने छह माह का उपवास किया था (छह माह अन्तराय हुए थे)। इसका वास्तविक भाव यह था, कि उन देवाधिदेव के शरीर को पोषक अन्नादि पदार्थ उतने काल तक नहीं मिलेंगे। अध्यात्मतत्व की दृष्टि से विचारने पर ज्ञात होगा, कि भगवान वैराग्य रस का विपुल मात्रा में सेवन कर अपनी आत्मा को अपूर्व आनन्द तथा पोषण प्रदान कर रहे हैं। ये मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हैं। इनकी आत्मा बाह्य द्रव्यों में विचरण नहीं करती है। मोक्ष प्राप्ति का मूलमंत्र समयसार में बताया गया है, उसकी ये सच्चे हृदय से आराधना करते हैं। प्रत्येक मुमुक्षु के लिए यह उपदेश अत्यन्त आवश्यक है। कुंदकुंद स्वामी कहते हैं :—

मोक्ष पथ

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥ समयसार

हे भद्र ! तू मुक्तिपथ में अपनी आत्मा को स्थापित कर। उसी

आत्मा का ध्यान कर। उसी निजतत्व को अनुभवगोचर बना। उस स्वरूप में नित्य विहार कर। अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

अमृतचंद्रसूरि कहते हैं :—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्तात्मकः।
तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि।।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्।
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विदांत।।२४०।।

दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक ही मोक्ष का पथ है। जो पुरुष उसी में स्थित रहता है, उसी को निरन्तर ध्याता है, उसी का अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उस रत्नत्रय धर्म में निरन्तर विहार करता है, वह पुरुष शीघ्र ही सदा उदयशील समय के सार अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करता है।

भगवान के मूलगुण

भगवान पंचमहाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, पंचेन्द्रिय रोध, केशलोच, दिगम्बरत्व, अस्नान व्रत, षडावश्यक, स्थित भोजन, क्षिति शयन तथा अदंतधावन रूप अष्टाविंशति मूलगुणों में से २७ गुणों की पूर्ति कर रहे हैं। आहार का छह माह तक परित्याग कर देने से खड़े रहकर आहार लेना इस नियम की पूर्ति नहीं हुई है। ऐसी स्थिति में भी वे प्रभु अट्ठाईस मूल गुण वाले ही माने जाएंगे, कारण उन्होंने खड़े होकर ही आहार लेने की प्रतिज्ञा की है।

दीर्घ तपस्या का हेतु

कोई व्यक्ति यह सोचता है, भगवान ऋषभदेव ज्येष्ठ जिनवर हैं। उनसे पश्चात्वर्ती किसी भी तीर्थंकर ने इतना लम्बा उपवास नहीं किया। स्वयं उन प्रभु के आत्मज भरत ने अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त किया था, ऐसी स्थिति में आदिजिनेन्द्र को भी सरल तप का अवलंबन अंगीकार करना चाहिए था।

इस विचित्र प्रश्न के समाधान हेतु यह सोचना आवश्यक है कि सभी की मानसिक स्थिति एक प्रकार की नहीं रहती। तीव्र कर्म-संचय होने पर मन की चंचलता समुद्र की लहरों को भी पराजित कर देती है। ऊपर से सुन्दर सुरूप दिखने वाले शरीर के भीतर अनेक विकार पाए जाते हैं तथा बाहर से कुरूप होते हुए भी नीरोगता पूर्ण देह की उपलब्धि होती है। इसी नियम के प्रकाश में आत्मा के विषय में भी चिंतवन करना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से विश्ववंद्य होते हुए भी अंतरंग दोष राशि का संचय देखकर योगीजन आत्मशुद्धि के लिए तप रूपी अग्नि में प्रवेश करते हैं। आत्म सामर्थ्य तथा आवश्यकता का विचार कर महाज्ञानी आदिनाथ भगवान ने उग्र तपश्चर्या प्रारम्भ की थी।

कोई सोचता है, इतना महान् तप न कर भगवान को सरलता-पूर्ण पद्धति को स्वीकार करना चाहिए था।

यह विचार दोष पूर्ण है। खदान से निकले हुए मलिन रूप-धारी सुवर्ण पाषाण को भयंकर अग्नि में डालते समय यह नहीं सोचा जाता, कि इस बेचारे सुवर्ण के प्रेमवश अग्नि दाहादि कार्य नहीं किए जांय। वहाँ तो यह कहा जाता है, जितनी भी अग्नि प्रज्ज्वलित की जा सके, उसे जलाकर सोने को शुद्ध करो। अग्नि सोने को तनिक भी क्षति नहीं पहुँचाती है। उसके द्वारा दोष का ही नाश होता है। यही स्थिति तपस्या की है। तपोग्नि के द्वारा आत्मा के चिरसंचित दोष नष्ट होकर आत्मा परम विशुद्ध बनती है।

बाह्य-तप साधन है, साध्य नहीं

बाह्य तप स्वयं साध्य नहीं है। अंतरंग तप की उपलब्धि का वह महान् साधन है। अतएव आत्मा को शुद्ध करने वाले अंतरंग तप का साधक होने से यथा शक्ति बाह्य तप का अवश्य आश्रय लेना चाहिये। तत्वज्ञानी निर्ग्रन्थ शरीर को आत्म ज्योति से पूर्ण भिन्न

मानते हैं। वे आत्म देव की समाराधना को मुख्य लक्ष्य बनाकर उस सामग्री तथा पद्धति का आश्रय लेते हैं, जिससे आत्मा में संक्लेश भाव न हो, आर्तध्यान न हो, रौद्रध्यान न हो तथा विशुद्धता की वृद्धि हो। विशुद्ध भावों के होने पर शरीर की बाधा आत्मा को पीड़ाप्रद नहीं होती। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि योगी इतना अधिक आत्मा में तल्लीन रहा करता है, कि उसे अपने शरीर की अवस्था का भान नहीं रहता है। "सः बहिर्दुःखेषु अचेतनः"-वह योगी बाह्य दुःखों के विषय में अचेतन सदृश रहता है। यदि उसका ध्यान बाहर की ओर ही रहा आवे, तो आर्तध्यान के द्वारा आत्मा का भयंकर अहित हो जायगा। इसी कारण जिनागम में त्याग तथा तप के विषय में 'यथाशक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। "शक्तितस्त्याग-तपसी" रूप तीर्थंकरत्व के हेतु भावना कही गई है।

तप आनन्दप्रद है

एक बात और है, जैसे-जैसे जीव को आत्मा का आनन्द आने लगता है, वैसे-वैसे उसकी विषयों के प्रति विमुखता स्वयमेव होती जाती है। जिस प्रकार मत्स्य को जल में क्रीड़ा करते समय आनंद आता है; जल के बिना वह तड़फ-तड़फकर प्राण दे देती है; जल में गमन करने में उसे कष्ट नहीं होता, इसी प्रकार आत्मोन्मुख बनने में मुमुक्षु को सच्ची विश्रान्ति तथा निराकुलता जनित आनन्द प्राप्त होता है। इष्टोपदेश का कथन बड़ा मार्मिक है :—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥
यथा यथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ॥३८॥

जैसी-जैसी संवेदना में श्रेष्ठ तत्व-आत्म स्वरूप की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सहज ही उपलब्ध विषय सुख की सामग्री रुचिकर नहीं लगती है। जैसे-जैसे सुलभ विषय प्रिय नहीं लगते हैं, वैसे-वैसे संवेदन में आत्म तत्व की उपलब्धि होती है।

क्षण-क्षण में भगवान के कर्मों की महान् निर्जरा हो रही है। कर्म-भार दूर होने से आत्मा की निर्मलता भी बढ़ रही है। इससे स्वाभाविक शांति तथा आनन्द की वृद्धि भी हो रही है। यह आनन्द उस सुख की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट एवं अलौकिक है, जो प्रभु को गृहस्थावस्था में तीव्र पुण्यकर्म के विपाकवश उपलब्ध हो रहा था। भगवान का जीवन अद्भुत था। उनकी तपश्चर्या भी असाधारण थी।

अपूर्व स्थिरता

महानशनमस्यासीत् तपः षण्मासगोचरम्।
शरीरोपचयस्त्वद्धः तथैवास्थादहोधृतिः ॥१८--७३॥

यद्यपि भगवान का छह मास का महोपवास था, फिर भी उनके शरीर का पिंड पूर्ववत् ही दैदीप्यमान बना हुआ था। उनकी स्थिरता आश्चर्यकारी थी।

केशों की जटारूपता

संस्कारविरहात् केशाः जटीभूतास्तदा विभोः।
नूनं तेपि तपःक्लेशं अनुसोढुं तथा स्थिताः ॥७५॥

भगवान के केशों का अब संस्कार नहीं हुआ। अतः संस्कार रहित होने के कारण वे केश जटा स्वरूप हो गए। ऐसा प्रतीत होता था, कि वे केश भी तप का कष्ट सहन करने के लिए कठोर हो गए हैं।

भगवान के लम्बे-लम्बे केश उनकी तपस्या के सूचक थे। इससे यह प्रतीत होता है कि विषय लोलुपी होते हुए भी अनेक साधु महान तपस्या के चिन्ह स्वरूप लम्बे-लम्बे केश धारण करने लगे हैं।

ऋद्धियों की प्राप्ति

भगवान के अनेक प्रकार की ऋद्धियां उत्पन्न हो गई थीं। मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति ऋद्धिधारी मुनियों के होती है। उनमें भी

विरले ऋद्धिप्राप्त मुनियों को मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न होता है। सर्वार्थसिद्धि में मन:पर्ययज्ञान के विषय में लिखा है, "प्रवर्धमानचारित्रेषु चोत्पद्यमान: सप्तविधान्यतमर्द्धिप्राप्तेषूपजायते नेतरेषु। ऋद्धिप्राप्तेषु केषुचिन्न सर्वेषु-" (सूत्र २५ अध्याय १) यह मन:पर्ययज्ञान प्रवर्धमान चारित्र वालों में से सप्तविध ऋद्धियों में से अन्यतम ऋद्धिधारी मुनियों के पाया जाता है। ऋद्धिप्राप्त साधुओं में भी सबमें नहीं पाया जाता, किन्तु किन्हीं विरले संयमियों में वह पाया जाता है। अपनी आत्मशुद्धि के कार्य में संलग्न रहने के कारण भगवान अपनी ऋद्धियों का कोई भी उपयोग नहीं करते। उनका मन:पर्ययज्ञान भी एक प्रकार से अलंकार रूप रहता है। उसके प्रयोग करने का कोई विशेष प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। मौन व्रत रहने से जन संपर्क तथा प्रश्नोत्तरादि की भी कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार शायद ही कभी अवधिज्ञान के भी उपयोग की जरूरत पड़ती हो। यह उज्ज्वल सामग्री उनके श्रेष्ठ व्यक्तित्व को सूचित करती थी। वे आत्मतेज संपन्न जगद्गुरु जहाँ भी जाते थे, वहाँ उनके लोकोत्तर महत्व का ज्ञान हो जाता था।

अपूर्व प्रभाव

उनका प्रभाव अत्यधिक चमत्कार पूर्ण था। जन्मत: हिंसक जीवों के हृदय में उनके कारण दया तथा मैत्री का अवतरण हो जाता था। तपोवन में विद्यमान उन विश्वपिता के प्रभाव को महापुराणकार इस प्रकार चित्रित करते हैं :—

कंटकालग्न-वालाग्राश्चमरीश्च मरीमृजाः।
नखरैः स्वैरहो व्याघ्राः सानुकंपं व्यमोचयन् ॥१८--८३॥

अहो ! जिन चमरी गायों के बालों के अग्रभाग कांटों में उलझ गए थे और जिनको सुलझाने का वे बारबार प्रयत्न करती थीं, ऐसी चमरी गायों को व्याघ्र बड़ी दया पूर्वक अपने नखों से छुड़ा रहे थे। यहां व्याघ्रों के साथ करुणा का पर्यायवाची शब्द 'सानुकम्पं'

बड़ा मार्मिक है ! क्रूरता के परमाणुओं से जिन शेरों की शरीर रचना हुई हो, उनमें अनुकम्पा की उत्पत्ति भगवान के दिव्य प्रभाव को द्योतित करती है ।

भगवान ने चैत्र में दीक्षा ली थी । उनके समक्ष भीषण ग्रीष्म आया और चला गया । वर्षाकाल भी आया । भगवान की स्थिरता में अन्तर नहीं था । वे बाईस परीषहों को सहन करने की अपूर्व क्षमता संयुक्त थे; अतएव भीषण परिस्थितियों में भी वे साम्यभाव सम्पन्न रहते थे । साधारण मनोबल वाले पुरुष भी विपत्ति की वेला में मनस्विता का परिचय देते हैं, तब तो ये असाधारण क्षमतायुक्त तीर्थंकर परम देव हैं । आचार्य कहते हैं, 'इस प्रकार छह माह में पूर्ण होने वाले प्रतिमायोग को प्राप्त हुए और धैर्य से शोभायमान रहने वाले भगवान का वह लम्बा काल भी क्षणभर के समान व्यतीत हो गया ।'

उपवास के विषय में प्रभु की दृष्टि

भगवान में अपरिमित शक्ति थी, फिर भी लोगों को मोक्ष-मार्ग बताने की दृष्टि से भगवान ने आहारग्रहण करने का विचार किया । उपवास के विषय में उन प्रभु का यह अभिमत था :—

न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः ।
नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः ।।२०—५।।

मध्यम मार्ग

वशे यथा स्युरक्षाणि नोत-धावन्त्यनूत्पथम् ।
तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्यमध्यमाम् ।।२०—६।।

मोक्षाभिलाषी मुनियों को यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिये और न अधिक रसयुक्त, मधुर तथा मनोवांछित पदार्थों के द्वारा इसे पुष्ट ही करना चाहिए । जिस प्रकार इन्द्रियां वश में रहें तथा कुमार्ग की ओर न जावें, उस प्रकार मध्यम मार्ग का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करना चाहिए ।

इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनधर्म की तपस्या में अतिरेकपूर्ण प्रवृत्ति का उपदेश नहीं है। इससे जो आज कल के लोग बुद्ध की तपस्या का उल्लेख करते हुए जैनधर्म की तपस्या की कठोरता का कथन कर उस पर आक्षेप करते हैं, वह उचित नहीं है। जैनधर्म स्वयं मध्यम पथ का प्रतिपादक है।

कायक्लेश की सीमा

यह कथन भी मनन करने योग्य है :—

कायक्लेशो मतस्तावन्न क्लेशोस्ति यावता।
संक्लेशो ह्यसमाधानं मार्गात् प्रच्युतिरेव च ॥२०—८॥

कायक्लेश तप उतना ही करना चाहिए, जहाँ तक संक्लेश नहीं उत्पन्न होता है। संक्लेश होने पर मन में स्थिरता नहीं रहती है तथा जीव मार्ग से भी च्युत हो जाता है।

सिध्यै संयमयात्रायाः तत्तनुस्थितिमिच्छुभिः।
ग्राह्यो निर्दोष आहारो रसासंगाद्विनर्षिभिः ॥९॥

अतएव संयम रूप यात्रा की सिद्धि के लिये शरीर स्थिति को चाहने वालों को रसों में आसक्त न हो निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिये।

आहारार्थ विहार

अब आहार ग्रहण करने के उद्देश्य से भगवान ने विहार प्रारम्भ कर दिया। उस कर्मभूमि के प्रारम्भ में मुनिदान कैसे दिया जाता है, इस विषय को कोई नहीं जानता था। भगवान मौनव्रती थे। उनका भाव कोई नहीं जानता था। ऐसी अद्भुत परिस्थितिवश भगवान को आहार का लाभ नहीं हो रहा है।

त्रिलोकीनाथ आहार के हेतु भ्रमण कर रहे हैं, किन्तु अन्तराय कर्म का तीव्र उदय होने से आहार का लाभ नहीं होता था। भक्त प्रजाजन प्रभु के समीप बड़े आदर, ममता और भक्तिपूर्वक विविध पदार्थ भेंट में लाते थे, किन्तु उनसे उन प्रभु का कोई प्रयोजन न था।

कर्मों की कितनी विचित्र अवस्था होती है। छह माह पर्यन्त महोपवास के पश्चात् भी कर्म के विपाक की इतनी तीव्रता है कि तीर्थंकर भगवान को भी शरीर यात्रा के हेतु आहार प्राप्ति का सुयोग नहीं मिल रहा है। आहार के लिए प्रभु का प्रतिदिन विहार हो रहा रहा है। अब एक वर्ष हो चुका। चैत्र सुदी नवमी फिर आ गई, किन्तु स्थिति पूर्ववत् है। भगवान् अत्यन्त प्रसन्न तथा प्रशान्त हैं। वे क्षुधा, तृषा रूप परीषहों को बड़ी समता पूर्वक सहन करते हुए कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं। ऐसी तपस्या के द्वारा ही चिरसंचित कर्मों के पहाड़ नष्ट हुआ करते हैं।

अंतराय का उदय

वे भगवान धनवान् अथवा निर्धन, सभी के घर पर आहार हेतु जाते थे। उनकी यह चर्या चांद्री-चर्या कही गई है, क्योंकि वे चन्द्रमा के समान प्रत्येक के घर पर जाते थे। अपने दर्शन द्वारा सबको आनन्द प्रदान करते थे। सारा जगत् चिन्ता निमग्न था। कर्म का विपाक भी विलक्षण होता है। तीर्थंकर हों या सामान्य जन हों, कर्मोदय समान रूप से सब को शुभ, अशुभ फल प्रदान करता है।

गुणभद्रस्वामी ने आत्मानुशासन में लिखा है "कि दैव की गति बड़ी विचित्र है। यह अलंघनीय है। देखो! भगवान वृषभदेव के गर्भ में आने के छह माह पहले से ही इन्द्र सेवक के समान हाथ जोड़े रहता था, जो इस कर्म भूमि रूपी जगत् के विधाता हैं; नवनिधियों के स्वामी चक्रवर्ती भरत जिनके पुत्र हैं; वे भी छहमाह पर्यन्त इस पृथ्वी पर बिना आहार प्राप्त किए विहार करते थे।"[1]

---

१ पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव।
स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथनिधीनां निजसुतः॥
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंध्यं हतविधेः॥११९॥

अंतराय कर्मोदयवश उस समय इन्द्र को भी प्रभु की गूढ़-चर्या का ध्यान नहीं रहा। अमितगति आचार्य ने यथार्थ कहा है, कि जीव को उसके शुभ-अशुभकर्मों के सिवाय अन्य सुख दुःख नहीं देता है।

भवितव्यता

एक बात विचारणीय है कि वैशाख सुदी दशमी को जृंभकग्राम की ऋजुकूला नदी के तट पर महावीर भगवान को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय गणधर का योग नहीं मिला। इस कारण भगवान की दिव्य ध्वनि छियासठ दिन तक नहीं खिरी थी। उस समय सुचतुर इन्द्र ने इन्द्रभूति ब्राह्मण को भगवान के सानिध्य में उपस्थित किया। मानस्तम्भ दर्शन से इन्द्रभूति गौतम का अहंकार दूर हुआ और शीघ्र ही वह महामिथ्यात्वी व्यक्ति श्रमण संघ का नायक गौतम गणधर बना। कदाचित् इन्द्र ऐसी कुशलता भगवान के छह मास के प्रतिमा योग के पश्चात् दिखाता और लोगों को आहार दान की विधि से अवगत कराता, तो त्रिलोकीनाथ को एक वर्षाधिक काल के पश्चात् क्यों आहार प्राप्ति का योग मिलता? आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है, 'अलंघ्यशक्ति र्भवितव्यतेति'—भवितव्यता की सामर्थ्य अलंघनीय है। उसमें बाह्य तथा अन्तरंग सामग्री का योग आवश्यक है।

हस्तिनापुर में आगमन

भगवान विविध देशों में विहार करते हुए कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। वहाँ के राजा सोमप्रभ महाराज हैं। उनके छोटे भाई श्रेयांस महाराज हैं।

> तस्यानुजः कुमारोऽभूच्छ्रेयान् श्रेयान्गुणोदयैः।
> रूपेण मन्मथः कान्त्या शशी दीप्त्या स भानुमान् ॥२०—३१॥

उनके अनुज श्रेयांसकुमार हैं। गुणों की वृद्धि से वह श्रेय

स्वरूप हैं। सौन्दर्य में कामदेव है। कांति में चन्द्रमा तथा दीप्ति में सूर्य के समान हैं।

श्रेयांस राजा का स्वप्न

वैशाख शुक्ला की तृतीया के प्रभात में महापुण्यवान श्रेयांस महाराज ने सुन्दर स्वप्न देखे। प्रथम स्वप्न में राजकुमार ने सुवर्णमय विशालकाय तथा उन्नत सुमेरु पर्वत देखा। इस स्वप्न का फल निरूपण करते हुए राजपुरोहित ने कहा :—

मेरुसन्दर्शनाद्देवो यो मेरुरिव सून्नतः।
मेरौ प्राप्ताभिषेकः स गृहमेष्यति नः स्फुटम् ॥२०—४०॥

सुमेरु के दर्शन से यह सूचित होता है कि जो प्रभु सुमेरु सदृश समुन्नत हैं तथा जिनका सुमेरुगिरि पर अभिषेक हुआ, वे अपने राजभवन में पधारेंगे। अन्य स्वप्न भी उन्हीं भगवान के गुणों की उन्नति को सूचित करते हैं। आज उन भगवान के योग्य विनय के फलस्वरूप हमारे बड़े भारी पुण्य का उदय होगा। पुरोहित ने यह भी कहा :—

प्रशंसां जगति ख्यातिम् अनल्पां लाभसम्पदम्।
प्राप्स्यामो नात्र सन्देहः कुमारश्चात्र तत्त्ववित् ॥२०—४२॥

आज हमें जगत् में महान् कीर्ति तथा विपुल सम्पत्ति प्राप्त होगी, इस विषय में सन्देह का स्थान नहीं है। राजकुमार स्वयं इस रहस्य के ज्ञाता हैं।

सिद्धार्थ द्वारपाल द्वारा सूचना

अल्पकाल के पश्चात् भगवान राजमन्दिर की ओर आते हुए दृष्टिगोचर हुए। तत्काल सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ तथा राजकुमार श्रेयांस को मंगल समाचार सुनाए। दोनों भाई राजभवन के प्रांगण के बाहर आए और वहाँ उन्होंने भगवान् के चरणों को जल से धोकर उनकी प्रदक्षिणा की। उनका शरीर भगवान्

के दर्शन से रोमांच युक्त हो गया था। वे दोनों प्रभु के समीप सौधर्म और ईशान स्वर्ग के इन्द्रों सदृश दिखते थे।

अपूर्व दृश्य

पर्यन्तवर्तिनोर्मध्ये तयोर्भर्ता स्म राजते।
महामेरुरिवोद्भूतो मध्ये निषधनीलयोः ॥२०—७७॥

दोनों ओर खड़े हुए महाराज सोमप्रभ और श्रेयांस के मध्य में भगवान इस प्रकार शोभायमान होते थे मानो निषध और नील पर्वतों के मध्य में सुमेरुगिरि ही खड़ा हो।

जन्मान्तर की स्मृति

उस समय राजकुमार श्रेयांस को भगवान का दर्शन कर पूर्व जन्म का स्मरण हो गया, जबकि भगवान राजा वज्रजंघ थे और श्रेयांसकुमार का जीव उनकी महारानी श्रीमती था तथा जिस भव में उन दोनों ने दमधर और सागरसेन नाम के गगनगामी महामुनियों को भक्ति पूर्वक आहार दान दिया था तथा उसके फल स्वरूप देवताओं ने पंचाश्चर्य किए थे। उस जातिस्मरण के फलस्वरूप राजकुमार श्रेयांस के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि उक्त समय मुनि को आहार दान के उपयुक्त है। पूर्व जन्म के संस्कारों से राजकुमार को आहार-दान की सब विधि ज्ञात हो गई।

इक्षुरास का दान

श्रेयांसकुमार ने राजा सोमप्रभ और उनकी रानी लक्ष्मीमती के साथ भगवान के हाथ में इक्षुरस का आहार दिया था।

श्रेयान् सोमप्रभेणामा लक्ष्मीमत्या च सादरम्।
रसमिक्षोरदात् प्रासुमुत्तानीकृतपाणये ॥२०—१००॥

उस समय के आनन्द का कौन वर्णन कर सकता है? भगवान के आहार ग्रहण के समाचार सुनकर समस्त संसार को अपार आनन्द हुआ था।

महान फल

हरिवंशपुराण में लिखा है कि देवताओं ने इक्षु धारा से स्पर्धा करते हुए आकाश से पृथ्वी तल पर रत्नों की वर्षा की थी। ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार हैं।

श्रेयसा पात्रनिक्षिप्तपड्क्षुरसधारया।
स्पर्धयेव सुरैः स्पृष्टा वसुधाराऽपतद्दिवः ॥९--१९५॥

इस दान का आर्थिक दृष्टि से क्या मूल्य हो सकता है? इक्षु रस यथार्थ में अमूल्य अर्थात बिना मूल्य का आज भी देखा जाता है। वही अमूल्य रस सचमुच में अमूल्य अर्थात् जिसके मूल्य की तुलना न की जा सके ऐसे लोकोत्तर पुण्य और गौरव का कारण बन गया। इस प्रसंग में पात्र, विधि, द्रव्य तथा दातारूप सामग्री चतुष्टय अपूर्व थे। त्रिलोकीनाथ को एक वर्ष एक महा तथा नौ दिन (३९९ दिन के उपवास पश्चात् कर्मभूमि के प्रारंभ में प्रथमबार तप के अनुकूल सामग्री अर्पण करने का सौभाग्य श्रेयांस महाराज को दान-तीर्थंकर पदवी का प्रदाता हो गया। वह अक्षयफल प्रदाता दिन अक्षय तृतीया के नाम से मंगल पर्व बन गया।

दान-तीर्थंकर का गौरव

चक्रवर्ती भरत महाराज ने उस दान के कारण कुमार श्रेयांस को महादानपति कहकर सन्मानित किया था। भरतेश्वर कहते हैं :—

त्वं दानतीर्थकृच्छ्रेयान त्वं महापुण्यभागसि ॥२०--१२८॥

हे श्रेयांस! तुम दान तीर्थके प्रवर्तक दानतीर्थंकर हो। तुम महान पुण्यशाली हो।

हरिवंशपुराण में कहा है :—

अभ्यर्चिते तपोवृध्यै धर्मतीर्थंकरे गते।
दानतीर्थंकरं देवाः साभिषेकमपूजयन् ॥९--१९६॥

धर्मतीर्थंकर वृषभदेव भगवान की पूजा के पश्चात् ततोवृद्धि

के हेतु प्रस्थान करने के अनंतर देवताओं ने दान-तीर्थंकर महाराज श्रेयांस की अभिषेक पूर्वक पूजा की।

तीर्थंकरों की पारणा का काल

आगम में लिखा है :—

वर्षेणपारणाद्यस्य जिनेन्द्रस्य प्रकीर्तिता।
तृतीयदिवसेऽन्येषां पारणा प्रथमां मता ॥६०—२३७ हरिवंशपुराण॥

आदि तीर्थंकर की प्रथम पारणा एक वर्ष के उपरान्त हुई थी। शेष तीर्थंकरों ने तीसरे दिन पारणा की थी।

अक्षय तृतीया के पूर्व राजकुमार श्रेयांस की जो लौकिक स्थिति थी, उसमें आहार दान के उपरान्त लोकोत्तर परिवर्तन हो गया। अब वे दानशिरोमणि, पुण्यवान नररत्न कहलाने लगे। वे विश्वपूज्य बन गए। महान् आत्माओं का संपर्क अवर्णनीय कल्याणदायी बन जाता है। इस दान की अनुमोदना द्वारा बहुत लोगों ने पुण्य का भण्डार पूर्ण किया।

निमित्त कारण का महत्व

बाह्य समर्थ उज्ज्वल निमित्त कारण का भी बड़ा महत्व है। महापुराणकार का कथन है :—

दानानुमोदनात्पुण्यं परोपि बहवोऽभजन्।
यथासाद्य परं रत्नं स्फटिकस्तद्रुचिं भजेत् ॥२०—१०७॥

उस तीर्थंकर के दान की अनुमोदना द्वारा बहुत से लोगों ने परम पुण्य को प्राप्त किया था जैसे स्फटिकमणि अन्य उत्कृष्ट रत्न के संपर्क को प्राप्तकर उस रत्न की दीप्ति को धारण करता है।

जिनकी यह समझ है कि निमित्तकारण कुछ नहीं करता है, उनके संदेह निवारणार्थ आगम में कहा है :—

कारणं परिणामः स्याद् बंधने पुण्यपापयोः।
बाह्यं तु कारणं प्राहुः आप्ताः कारण-कारणम् ॥२०—१०८॥

पुण्यकर्म तथा पाप कर्म के बन्ध में जीव के भाव कारण हैं। भगवान ने कहा है कि बाह्य कारण उस परिणाम अर्थात् भाव रूप कारण के कारण हैं। इससे भावों की पवित्रता के लिए योग्य बाह्य साधनों का भी आश्रय ग्रहण करने में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तीर्थंकरों की पारणा

ऋषभनाथ भगवान ने इक्षुरस लिया था, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। शेष तीर्थंकरों ने गोक्षीर से बनाए गए श्रेष्ठ अन्न का आहार किया था। हरिवंशपुराण में कहा है :—

आद्येनेक्षुरसो दिव्यः पारणायां पवित्रितः।
अन्यैर्गोक्षीरनिष्पन्न-परमान्नमलालसैः ॥६०—२३८॥

क्या दूध सदोष है ?

आजकल कोई-कोई लोग नवयुग के वातावरण से प्रभावित हो दूध को मांस सदृश सोचते हैं। यह दृष्टि असम्यक् है। दूध यदि सदोष होता, तो परम दयालु, सर्व परिग्रह त्यागी तथा समस्त भोगों का भी परित्याग करने वाले तीर्थंकर भगवान उसको आहार में क्यों ग्रहण करते ? मधुर होते हुए भी मधु को, जीवों का विघातक होने से जैसे जिनागम में त्याज्य कहा है, उसी प्रकार वे त्रिकालदर्शी जिनेन्द्र दूध को भी त्याज्य कह देते। दूध दुहने के बाद अन्तर्मूहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट के भीतर उष्ण करने से निर्दोष है, ऐसा जैनाचार-ग्रन्थों में वर्णन है। दूध में सदोषता होती तो परमागम तीर्थंकर भगवान की मूर्ति के अभिषेक के लिए दूध का क्यों विधान करता ? पद्मपुराण में भगवान के जल, घृतादि के द्वारा अभिषेक का महत्व बताते हुए लिखा है :—

अभिषेकं जिनेन्द्राणां विधाय क्षीरधारया।
विमाने क्षीरधवले जायते परमद्युतिः ॥३२—१६६॥

जो जिनेन्द्र भगवान का दुग्ध की धारा द्वारा अभिषेक करते हैं, वे क्षीर सदृश धवल विमान में जन्म लेकर निर्मल दीप्ति को प्राप्त करते हैं।

हरिवंशपुराण में भी उक्त कथन का इस प्रकार समर्थन किया गया है :—

> **क्षीरेक्षुरस-धारौघं-घृत—दध्युदकादिभिः।**
> **अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चामर्चितां नृसुरासुरैः ॥२२—२१॥**

क्षीर तथा इक्षुकी धारा के प्रवाह द्वारा तथा घृत, दधि, जल आदि से जिनेन्द्र देव की अभिषेक पूर्वक जो पूजा करता है, वह मनुष्यों तथा सुरासुरों द्वारा पूजित होता है।

आयुर्वेद का अभिमत

दूध के विषय में आयुर्वेद शास्त्र कहता है, कि भोजन पहले खलभाग रूप परिणत होता है। इसके पश्चात् वह रस रूपता धारण करता है। रस बनने के अनन्तर दूध का रक्त बनता है। धारोष्ण दूध को इसीलिए आयुर्वेद में महत्वपूर्ण कहा है कि वह तत्काल ही शरीर में जाकर रुधिर रुप पर्याय को प्राप्त करता है। दूध को गोरस कहने से भी स्पष्ट होता है कि वह रस रूप पर्याय है। दूध के दुहने से गाय क्षीण नहीं होती, किन्तु रक्त निकालने से उस जीव में क्षीणता आती है, वेदना की वृद्धि होती है। दूध के सेवन से सात्विक भावों का उदय होता है। रुधिर, मांसादि सेवी नर क्रूर परिणामी बन जाते हैं।

दूध में माँस का दोष माना जाय, तो सभी मनुष्य मांसभक्षी व्याघ्र आदि की श्रेणी में आ जावेंगे, क्योंकि बिना दूध पिये बालक का प्रारम्भिक जीवन ही असम्भव है। शरीर रचना की दृष्टि से मनुष्य की समानता शाक तथा फल भोजी प्राणियों के साथ है। मांसभक्षी निरन्तर अशान्त, क्रूर, चंचल तथा दुष्ट स्वभाव वाले होते हैं जबकि दूध के सेवन से ऐसी बात नहीं होती है।

जो दूध को सदोष सोचते हैं, वे पानी भी नहीं पी सकते ? पानी में जलचर जीवों का सदा निवास रहता है। उनका जन्म-मरण उसी के भीतर होता है। उनका मल, मूत्रादि भी उसके भीतर हुआ करता है, फिर भी सभी लोग जल को पवित्र मानते हैं। इसी प्रकार गतानुगतिकता या अंध-परंपरा का त्याग कर यदि मनुष्य मस्तिष्क, अनुभव तथा सद्विचार से काम लेगा, तो उसे शुद्ध साधनों द्वारा प्राप्त मर्यादा के भीतर उष्ण किया गया तथा सावधानी पूर्वक शुचिता के साथ सुरक्षित किया गया दूध अभक्ष्य कोटि के योग्य नहीं दिखेगा।

आश्चर्य की बात

यह देखकर आश्चर्य होता है कि सरासर अशुचि भोजन पान को करते हुए मांसाहार के दोषी लोग अहिंसात्मक प्रवृत्ति वालों के उज्ज्वल कार्यों को भी सकलंक सोचते हैं। उन्हें रात्रि भोजन में दोष नहीं दिखता, अनछने जल के पीने में संकोच नहीं होता, अशुद्ध अचार आदि के भक्षण करने में तथा मधु सेवन करने में निर्दोषता दिखती है। मधु की एक बिन्दु भक्षण करने में जीव घात का महान पाप लगता है, किन्तु वे उसे निर्दोष, बल-दायक मानकर बिना संकोच के सेवन करते हैं, और अपने को अहिंसा व्रती सोचते हैं।

अहिंसा के क्षेत्र में अंतिम प्रामाणिक निर्णयदाता के रूप में जिनेन्द्र की वाणी की प्रतिष्ठा है। उस जिनागम के प्रकाश में दूध के विषय में अभक्ष्यता का भ्रम दूर करना चाहिए। वैसे रस का परित्याग करने वाला व्रती व्यक्ति घी, दूध आदि का त्याग इंद्रियजय की दृष्टि से किया करता है।

प्रथम आहार दाता की महिमा

जिनेन्द्र भगवान को प्रथम पारणा के दिन क्षीरादि निर्मित

पदार्थों के दाता नर रत्नों की सर्वत्र स्तुति की गई है। उत्तम पात्र को आहारदाता या तो उसी भव में मोक्ष को प्राप्त करता है या स्वर्ग का सुख भोगकर वह तीसरे भव में मुक्ति को पाता है। भगवान को प्रथम बार आहार देने वाले व्यक्ति के भाव अवर्णनीय उज्ज्वलता प्राप्त करते हैं। इससे वह उत्तम दाता शीघ्र ही तप का शरण ग्रहण कर अपना उद्धार करता है। हरिवंशपुराण में कहा है :—

तपस्थिताश्च ते केचित्सिद्धास्तेनैव जन्मना।
जिनांते सिद्धिरन्येषां तृतीये जन्मनि स्मृता ॥६०—२५२॥

यह तो आध्यात्मिक श्रेष्ठ लाभ है कि दातार मोक्ष को प्राप्त करता है। तत्काल लाभ यह है कि दातार के भवन में अधिक से अधिक साढ़े बारह करोड़ और कम से कम इसका हजारवाँ भाग अर्थात् एक लाख पच्चीस हजार रत्नों की वर्षा होती है।

सत्पात्र के दान की अपार महिमा है। पंचाश्चर्य सत्पात्र को आहार के दान में ही होते हैं। इससे इसकी महत्ता इतर दानों की अपेक्षा स्पष्ट ज्ञात होती है। इसका कारण यह है कि इस आहारदान से वीतराग मुनीन्द्रों की रत्नत्रय परिपालना में विशिष्ट सहायक उनके पवित्र शरीर का रक्षण होता है। गृहस्थ स्वयं श्रेष्ठ तप नहीं कर पाता है, किंतु न्याय पूर्वक अपने प्राप्त द्रव्य के द्वारा वह महाव्रती का सहायक बनता है। इस कारण पात्र दान द्वारा गृहस्थ के षट्कर्मों अर्थात् असि, मषी, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, पशुपालन तथा चक्की, चूल्हादि पँचसूना क्रियाओं द्वारा अर्जित महान दोषों का क्षय होता है।

आहारदान का महत्व

आहार दान को महत्व प्रदान करने का एक कारण यह भी है कि तीर्थंकर भगवान जैसे श्रेष्ठ पात्र की सेवा केवल आहार दान द्वारा ही संभव है। उनको औषधि, शास्त्र तथा अभयदान कौन देगा? शरीर नीरोग रहने से औषधि का प्रयोजन नहीं, स्वयं महान ज्ञानी

गतों को अभयप्रदाता परम प्रभु को कौन अभय देगा ? आहार दान तो प्रायः प्रत्येक दिन संभाव्य है ।

किसी असंयमी को भोजन कराने का वह महत्व नहीं है, जो संयमी महान पुरुष को पवित्र भावों सहित आहारदान का है । संयमी आत्मा में अपार आत्म सामर्थ्य रहती है । उसके प्रभाव से आहारदान द्वारा संयम में प्रकारान्तर से सहयोग देने वाले को स्वभावतः महान लाभ होगा । श्रावक के लिए सत्पात्रदान मुख्य कार्य बताया गया है । भगवान की पूजा करना तथा पात्रदान देना गृहस्थ के आवश्यक कर्तव्य कहे गए हैं । इनके बिना वास्तव में श्रावक नहीं कहा गया है । यदि श्रावक पात्रदान के कर्तव्य को भूल जाय, तो मुनिपद का निर्वाह किस प्रकार होगा ? द्यानतराय जी ने ठीक ही लिखा है, 'बिन दान श्रावक साधु दोनों लहें नाँहि बोध कों' ।

मुक्तिपुरी का प्रवेश द्वार

कुछ लोग सत्पात्रदान के आंतरिक रहस्य तथा सौन्दर्य को न समझ यह सोचते हैं कि इस दान के द्वारा पुण्यकर्म का बंध होता है । इससे मोक्ष नहीं मिलता, अतः यह उपादेय नहीं है । इस विकृत विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला महाराज श्रेयाँसकुमार के जीवन पर दृष्टि डाले और समझे कि इस सत्पात्र दान में कितना रस है ? लौकिक श्रेष्ठ अभ्युदय, प्रतिष्ठादि प्राप्ति के पश्चात् सकल संयम का शरण लेकर दानशिरोमणि श्रेयाँस राजा कर्मक्षय कर सिद्ध भगवान बने । दान के माध्यम से गृहस्थ सत्पुरुषों के निकट संपर्क में आता है और जिस प्रकार पारस के संपर्क से लोहा सुवर्ण बनता है, उसी प्रकार लोह सदृश पतित प्राणी पारस रूप सत्पुरुष के संपर्क द्वारा क्रमशः उन्नति करता हुआ परंज्योति परमात्मा बनता है । आरंभ और परिग्रह के मध्य निमग्न गृहस्थ के लिए पुण्य-पाप बंध को त्याग कर वीतरागता प्राप्त करना शक्य नहीं है । यदि माया जाल के मध्य रहते हुए भी गृहस्थ कर्मजाल काट सकता, तो तीर्थंकर भगवान

साम्राज्यादि का परित्याग कर क्यों दिगम्बर साधु बनते ? अतएव गृहस्थ का कर्तव्य है कि मुक्ति की उपलब्धि को जीवन का केन्द्र बिन्दु मानकर उस ओर आगम के अनुसार प्रवृत्ति करे। अनुभवी तथा सिद्धहस्त व्यक्तियों का मार्ग दर्शन छोड़कर अज्ञानी, अविवेकी तथा अतत्वज्ञ का अवलंबन स्वीकार करने वाला संसार-सिंधु के मध्य डूबे बिना नहीं रहता।

दान द्वारा जनहित

इस कारण चतुर गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह सत्पात्र दान के विषय में अत्यधिक उत्साह धारण करे। श्रावक के सप्तशीलों में अतिथि-संविभाग नामक व्रत बताया गया है। यदि गृहस्थ इस बात के महत्व को समझकर विवेक पूर्वक द्रव्यादि का उपयोग करे तो जगत् में संपन्न वर्ग तथा निर्धनवर्ग के बीच जो क्रूर संघर्ष प्रारम्भ हुआ है, उसका मधुर रूप में परिणमन हो सकता है।

स्वामी समंतभद्र की यह वाणी कितनी मार्मिक तथा अर्थवती है :—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥११५॥ रत्नकरंड श्रावकाचार

तपोनिधि साधुओं को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दान देने से भोग्य सामग्री की विपुलता, उनकी उपासना से पूजा, भक्ति करने से सुन्दर रूप तथा उनकी स्तुति करने से कीर्ति की प्राप्ति होती है।

बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य है कि साधुओं को प्रणाम करे, उनकी उपासना करे, भक्ति करे तथा स्तवन करे। इन कार्यों के फल स्वरूप उसे उपरोक्त समस्त सदगुणों तथा विशेषताओं की उपलब्धि होगी।

अनुमोदना का सुफल

जो व्यक्ति सत्पात्रों के दान की हृदय से अनुमोदना करते

हैं, वे भी सुफल को प्राप्त करते हैं। भगवान वृषभनाथ के जीव ने राजा वज्रजंघ की पर्याय में जो चारण मुनियुगल को आहारदान दिया था, उनकी अनुमोदना नकुल, सिंह, वानर तथा शूकर के जीवों ने की थी, उस अनुमोदना के कारण वे चारों जीव उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुए थे। महापुराण में बताया है कि इन पशुओं को जातिस्मरण हो गया था। इससे उनके भाव संसार से बहुत ही विरक्त हो गए थे। चारणमुनि दमधर स्वामी ने भगवान ऋषभदेव के जीव वज्रजंघ से कहा था :—

भवद्दानानुमोदेन बद्धायुष्काः कुरुष्वमी।
ततोऽमीभीतिमुत्सृज्य स्थिता धर्मश्रवार्थिनः ॥८—२४३॥

राजन्! आपके दान की अनुमोदना करने से इन नकुल, वानर, सिंह तथा शूकर ने उत्तम भोगभूमि की आयु बंध किया है, इस कारण ये धर्म श्रवण करने की इच्छा से यहाँ निर्भय होकर बैठे हैं :—

इतोऽष्टमे भवे भाविन्यपुनर्भवतां भवान्।
भविताऽमी च तत्रैव भवे सेत्स्यन्त्यसंशयम् ॥२४४॥

इस भव से आगामी आठवें भव में तुम तीर्थंकर वृषभनाथ होकर मोक्ष प्राप्त करोगे और उसी भव में ये सब भी निश्चय से सिद्ध होंगे।

श्रीमती च भवत्तीर्थे दानतीर्थप्रवर्तकः।
श्रेयान् भूत्वा परंश्रेयः श्रयिष्यति न संशयः ॥२४६॥

श्रीमती का जीव भी आपके तीर्थ में दानतीर्थ का प्रवर्तक राजा श्रेयांस होकर उत्कृष्ट कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त करेगा इसमें संशय नहीं है।

इस वर्णन से धर्मात्मा व्यक्ति की समझ में यह बात आ जायेगी कि पात्रदान तथा उसकी अनुमोदना के द्वारा वज्रजंघ, श्रीमती तथा सिंह आदि ने महान् पुण्य का बँध करके भोगभूमि आदि में अपूर्व सुख भोग और क्रमशः उन्नति कर उन सबने मोक्ष-पदवी प्राप्त की,

इसलिए उनके समान उज्ज्वल पुण्य के संग्रह में विवेकी गृहस्थों की प्रवृत्ति कल्याणकारी है; क्योंकि इससे उक्त जीवों के समान यह आत्मा विकास को प्राप्त कर निर्वाण अवस्था को प्राप्त कर सकेगा। मिथ्यादृष्टि भी सत्पात्रदान की हार्दिक अनुमोदना करके उत्तम भोगभूमि में अपार सुख प्राप्त करता है। मुनिभक्ति की बड़ी महिमा है।

आत्म-निरीक्षण

आश्चर्य की बात है कि मनुष्य आत्म निरीक्षण कर सत्यता पूर्वक यह सोचने का प्रयत्न नहीं करता, कि मैं हिंसा, माया, असत्य, प्रमादादि की मलिनता में डूब रहा हूँ तथा जीवन दीप बुझने के बाद अपनी असत् प्रवृत्ति तथा आर्तध्यान–रौद्रध्यान के फलस्वरूप तिर्यंच-गति की निपट अज्ञानी की स्थिति में पहुंचूंगा, अथवा अनन्त दु:खों से पूर्ण नरक में निवास करूंगा। यह विचारकर बड़ी व्यथा होती है, कि आजकल पढ़कर आदमी आदर्श जीवन बनाने से विमुख होकर दूसरों को ठगने के साथ साथ अपने आपको ही टगते संकोच नहीं करता। असत् तर्क का आश्रय ले यह अपनी स्वच्छन्द पापमयी प्रवृत्तियों पर परम पवित्र अध्यात्मवाद का मनोहर आवरण डालता हुआ ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई मूढ़ अपने शरीर के भयँकर फोड़े की पीप आदि जहरीली सामग्री को बिना साफ किए ऊपर से सुन्दर दिखनेवाला वस्त्र पहिनकर उसे ढांक ले। इस प्रक्रिया से वह घाव और भयंकररूप होता है। इसी प्रकार पुण्य के साधनों में दोषदर्शन करता हुआ तथा उनको छोड़कर पाप कार्यों में निमग्न रहने वाला गृहस्थ ऐसा ही विचार विहीन है, जैसे पानी को छोड़कर पेट्रोल राशि द्वारा शरीर को स्वच्छ करने के साथ अग्नि के समीप बैठने वाला व्यक्ति, जो क्षण भर में अपनी विचार शून्यता के कारण जलकर भस्म हो जाता है।

अमंगल प्रवृत्ति

आज के युग में भोग-विलास की सामग्री प्रचुर रूप में मनुष्य का धन ले लेती है। परोपकार, दान, पुण्य के लिए उसके पास देने योग्य द्रव्य कठिनता से बच पाता है; ऐसी स्थिति में भी जो भक्तिपूर्वक पात्रदानादि कार्य करते हैं, वे यथार्थ में स्तुति के पात्र हैं। किन्तु ऐसे सात्विक दान देनेवालों को देखकर कोई-कोई उनकी अनुमोदना के बदले मन में कुढ़ते हैं, दु:खी होते हैं और उस दान की निन्दा करते हैं। पाप कार्यों में पानी की तरह पैसे का बहाया जाना इन लोगों को कष्ट नहीं देता, क्योंकि ऐसा करना उनको अपनी प्रतिष्ठा के अनुरुप लगता है।

असात्विक कार्यों में अपनी धनसम्पत्ति का व्यय करने वाला रत्नत्रयधारी मुनीन्द्रों की योग्य सेवा, परिचर्या में द्रव्य-व्यय का आनन्द नहीं जानता। कुगति में जाने वाले जीव के भाव तथा आचरण धर्म तथा धर्मात्माओं के प्रतिकूल हुआ करते हैं। नीचगति में जाने वाले प्राणी बहुत हैं, सुगति में जाने वालों की संख्या न्यून है, इसलिए हिंसा, माया, लोभादि के पथ में प्रवृत्त होने वाले अधिक मिलते हैं और आज के कलिकाल में ऐसों की वृद्धि दु:ख अवश्य पैदा करती है, किन्तु उसे देखकर आश्चर्य नहीं होता।

यदि इस काल में लोग अधर्म की ओर प्रवृत्ति न करें, तो फिर यह दुषमा काल ही क्यों कहा जाता? जीव की अधर्म की ओर प्रवृत्ति के लिये प्रेरणाप्रद प्रचुर सामग्री यत्र-तत्र मिलती है। पूर्व में कुदान, कुतप करने के फलसे आज पापमयी जीवन बिताते हुए भी धन वैभव सम्पन्न लोगों को देखकर भ्रमवश लोग यह मान बैठते हैं, कि सदाचार का कोई मूल्य नहीं है। बेचारी शीलवती सती कष्टपूर्वक जीवन निर्वाह कर पाती है और हीनाचरण वाली ललनाएँ विलासी पुरुषों के कारण वैभव के साथ सुखी और समृद्ध दिखाई पड़ती हैं। ऐसी ही अन्यत्र भी विचित्र दशा दिखाई पड़ती है।

ऐसी स्थिति में सद्धर्म में श्रद्धा रखकर सत्पात्रदानादि में अपनी सम्पत्ति आदि का उपयोग करने वाले व्यक्ति बिरले हैं। उनका भविष्य उज्ज्वल है और पाप प्रवृत्तियों में लगे लोगों का जीवन भावी पतन का निश्चायक है। प्रायः देखा जाता है कि असदाचार के मार्ग में लगने वाले जीव की इसी जन्म में दुर्गति हुआ करती है। अतः सज्जन पुरुषों को सत्कार्य में सदा तत्पर रहना चाहिये।

अधर्म से पतन

आगामी जीवन के विषय में सर्वज्ञ प्रणीत आगम कहता है; धर्म के द्वारा आत्मा उर्ध्वगमन करता है तथा अधर्म द्वारा उसका नरकादि गतियों में पतन होता है :—

धर्मेणात्मा व्रजत्यूर्ध्वम्, अधर्मेण पतत्यधः ॥१०—११॥

नरक गति में जाकर दुःख भोगने वाले कौन जीव हैं इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महापुराणकार ने लिखा है कि साधु वर्ग के प्रति दोष लगाने वाले, उनसे द्वेष करने वाले आदि जीवों का नरक में पतन होता है।

सत्पुरुषों की निंदा से घोर पाप

आजकल त्यागी तथा मुनि निन्दा के कार्य में अल्पज्ञ ही नहीं, पतित जीवनवाले बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी गर्व के साथ प्रवृत्त होकर जन-साधारण के मन को मलिन बनाते हैं। हमें समाज में गौरव प्राप्त ज्ञानमद, तथा प्रभुता के मदवाले ऐसे अनेक व्यक्ति मिले, जो किसी साधु का परिचय बिना प्राप्त किए ही अपनी मुखरूपी बाँबी से दुष्ट वचन रूपी विषधर को निकाला करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि इसका आगे क्या फल होगा ?

उग्रतपस्वी १०८ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शाँतिसागर महाराज ने एक बार कहा था, कि लोग साधु निंदा का क्या दुष्परिणाम होता

है, इसे भूल जाते हैं। साधु का जीवन तो गाय के समान है। उस निरपराधी साधु की यदि कोई निन्दा करता है तो वह उसका प्रत्युत्तर न देकर उसको शाँत भाव से सहन करता है।

चेतावनी

महापुराणकार की यह चेतावनी ध्यान देन योग्य है :—'ते नराः पापभारेण प्रविशंति रसातलम्'—वे पुरुष कौन हैं जो पाप के भार से रसातल में (नरक में) पहुँचते हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं :—

ये च मिथ्यादृशः क्रूरा रौद्रध्यानपरायणाः।
सत्वेषु निरनुक्रोशाः बह्वारम्भपरिग्रहाः ॥१०—२३॥
धर्मद्रुहश्च ये नित्यम् अधर्मपरिपोषकाः।
दूषकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योपहताश्च ये ॥२४॥
रुष्यन्त्यकारणं ये च निर्ग्रन्थेभ्योऽतिपातकाः।
मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमांसाशने रताः ॥२५॥
वधकान् पोषयित्वान्यजीवानां येऽतिनिर्घृणाः।
खादका मधुमांसस्य तेषां ये चानुमोदकाः ॥२६॥

जो मिथ्यादृष्टि हैं, रौद्रध्यान में तत्पर हैं, प्राणियों में सदा निर्दय रहते हैं, बहुत आरम्भ और परिग्रह रखते हैं, सदा धर्म से द्रोह करते हैं, अधर्म में संतोष रखते हैं, साधुओं की निन्दा करते हैं, मात्सर्य संयुक्त हैं, धर्म सेवन करने वाले परिग्रहरहित मुनियों से बिना कारण ही क्रोध करते हैं, अतिशय पापी हैं, मधु और माँस खाने में तत्पर हैं, अन्य जीवों की हिंसा करने वाले कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओं को पालते हैं, अतिशय निर्दय हैं; स्वयं मधु, माँस खाते हैं और उनके खाने वालों की अनुमोदना करते हैं; वे जीव पाप के भार से नरक में प्रवेश करते हैं।

निंदनीय प्रवृत्ति

कुछ लोग प्रसन्नतापूर्वक साधुओं का अवर्णवाद करते हैं,

उनपर मिथ्या दोष लगाते हैं। कभी अल्प दोष होता है तो उसे बढ़ाकर प्रचार करते हैं। एक बार देखे दोष का प्रायश्चित्त लेने पर भी ये साधु को जीवन भर उस दोष से लिप्त मानते हैं। ऐसे लोग कहते हैं हम समालोचना मात्र करते हैं। हमारा भाव निन्दा का नहीं है। यथार्थ में यह आत्मवंचना है।

ऐसे सज्जन यह सोचें, कि क्या स्थितिकरण और उपगूहन अंगों का अर्थ यही मानना उचित है, कि पत्रों में साधुओं के विरुद्ध मन माने दूषण छापते जावें और यह कहते जावें कि उससे धर्म को कोई क्षति नहीं पहुँचती। जननी और जनक में अपनी संतति के प्रति जिस ममतामयी दृष्टि का सद्भाव रहता है, क्या ऐसी दृष्टि इन लोगों की रहती है, जो गुण पर पर्दा डालकर बुराई को ही बढ़ाकर साधुओं को लांछित करते हैं ? कभी कषायोदयवश किसी साधु में कोई दोष आ गया, तो बाल-चिकित्सक के समान ऐसे साधुओं की कुशल धर्मात्मा द्वारा अंतरङ्ग चिकित्सा करानी चाहिए। ऐसा न कर पत्रोंमें निंदा छापनेसे वीतराग संस्कृतिके विपक्षी लोग अहिंसा धर्मका उपहास करते हैं। यह बात ये महानुभाव नहीं सोचते; यह दुःख की बात है।

श्रेणिक का उदाहरण

साधु परमेष्ठी के महत्व को भूलने वाले ये पढ़े लिखे निंदक महानुभाव कृपा कर महामंडलेश्वर राजा श्रेणिक के उदाहरण को दृष्टि पथ में रखें तो उचित हो। मिथ्यात्व की अवस्था में श्रेणिक राजा ने[1] यशोधर मुनिराज के गले में मरा सर्प डाला था, इस दुष्ट कार्य के कारण श्रेणिक ने नरकायु का बन्ध किया था। वह बन्ध तीर्थंकर महावीर प्रभु के समवशरण में बहुत समय तक रहने पर भी छूट नहीं

१ कृतो मुनिबधानंदस्तीव्रो मिथ्यादृशा मया।
येनायुष्कर्म दुर्मोचं बद्धं श्वाभ्रीं गतिं प्रति ॥महापुराण २-२४॥

सका । वीतराग, शांत, निस्पृह, निर्ग्रन्थ साधुओं में विलक्षण शक्ति का सद्भाव पाया जाता है । इनकी भक्ति वाला जीव स्वयमेव उन्नति को प्राप्त करता है, तथा निंदक समृद्ध होते हुए भी शनैःशनैः पतन को प्राप्त करता है ।

मुनियों द्वारा अपार हित

उत्तरपुराण में बताया है कि महावीर तीर्थंकर का जीव बहुत भव पहले पुरुरवा भील था । वह सागरसेन मुनि को देखकर उनका वध करने को तत्पर था, कि उसकी स्त्री कालिका ने कहा 'वनदेवाश्चरंतीमे मावधीः' (७४ पर्व, १८)–ये वन देवता हैं । इनका वध नहीं करना चाहिए । इस प्रकार उस पाप कार्य को त्यागकर वह पुरुरवा उन मुनिराज के पास गया और उसने उनसे मद्य, माँस तथा मधु त्याग रूप व्रत लिए थे । इस प्रकार उस पतित आत्मा का उद्धार दिगम्बर जैन साधु के निमित्त से हुआ था । इस तरह इन मुनियों के द्वारा गणनातीत जीवों का कल्याण होता है । उन पावन-मूर्ति दया के देवताओं के प्रति वात्सल्य तथा भक्ति कल्याणदायी है ।

स्वामी समन्तभद्र ने स्थितीकरण का लक्षण करते हुए लिखा है, कि यह कार्य धर्म-वत्सल प्राज्ञ पुरुष करते हैं । विकृत मनवाले मानव की अंतर्चिकित्सा बालबुद्धि व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं है । उस हृदय शुद्धि के कार्य को करने वाला धर्म प्रेमी तथा बुद्धिमान (धर्मवत्सलैः प्राज्ञैः) होना चाहिए । अयोग्य व्यक्ति यदि चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होता है, तो उससे अहित अधिक होता है । आज जो भी निन्दापूर्ण लेख लिखने में कुछ प्रवीणता धारण करता है, वह साधु की त्रुटि को देखकर घाव पर बैठने वाली मक्खी की तरह पीड़ा देने के साथ घाव को बढ़ाने का कार्य करता है ।

सज्जनों का कर्तव्य

सत्पुरुषों को विषधरों से डरना नहीं चाहिए। नागदमनी रूप जिनभक्ति का आश्रय ले आत्म शुद्धि के मार्ग में उन्नति करते जाना चाहिये। जिसके हृदय में वीतराग की भक्ति है, आगम की श्रद्धा है, यथार्थ में उसका कोई भी बिगाड़ नहीं कर सकता है।

आचार्य मानतुंग का यह पद्य बहुत प्रेरणादायी है :—

सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलाप-।
शुभ्रगुणास्त्रिभुवनं तव लन्घयन्ति ॥
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकम्।
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥१४॥

हे ऋषभनाथ भगवान ! पूर्णचन्द्रमा की कलाओं के समान आपके निर्मल गुण त्रिलोक को लाँघते हैं—तीन लोक में व्याप्त हो जाते हैं। जिन्होंने त्रिभुवन के स्वामी एक आपका शरण ग्रहण किया है, उनको इच्छानुसार संचरण करते हुए कौन रोक सकता है ?

इस विषय में इतना ही लिखना उचित प्रतीत होता है कि विवेक के प्रकाश में वात्सल्य दृष्टि को सजग रखते हुए सत्पुरुषों को साधु-भक्ति और सेवा द्वारा अपने जीवन को सफल बनाते हुए जिनदेव से प्रार्थना करना चाहिए कि उनकी भक्ति के प्रसाद से संयमी की सेवा के प्रसाद रूप में स्वयं का जीवन भी उस साम्य भाव से अनुप्राणित हो वीतरागवृत्ति की ओर अग्रसर हो।

शरीर निग्रह द्वारा ध्यान-सिद्धि

भगवान ने कठोर से कठोर तपोग्नि में कर्मों को नष्ट करने का महान उद्योग अंगीकार किया था। इसमें संदेह नहीं है कि मनोजय के द्वारा कर्मों का क्षय होता है। उस मन को इन्द्रियों के द्वारा विकार-वर्धक सामग्री प्राप्त होती है। शरीर द्वारा कठोर तप करने से उन्मत्त इन्द्रियाँ शांत हो जाती हैं। आचार्य कहते हैं कि भगवान ने घोर

तपश्चरण किया था। इसका कारण यह है :—

निगृहीतशरीरेण निगृहीतान्यसंशयम्।
चक्षुरादीनि रुद्धेषु तेषु रुद्धं मनो भवेत् ॥२०—१७६॥
मनोरोधः परं ध्यानं तत्कर्मक्षयसाधनम्।
ततोऽनन्तसुखावाप्तिः ततः कायं प्रकर्शयेत् ॥२०—१८०॥

निश्चयसे शरीर का निग्रह होने से चक्षु आदि सभी इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है और इन्द्रियों का निग्रह होने से मन का निरोध होता है। मन का निरोध होना ही उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है तथा यह ध्यान ही समस्त कर्मों के क्षय का साधन है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है; इसलिए शरीर को कृश करना चाहिए।

शरीर को स्थूल बनाने योग्य सुमधुर सामग्री प्रदान करने से आत्मा की निधि को प्रमाद रूपी चोर लूटने लगते हैं। शरीर की रक्षा इसलिए आवश्यक है कि उसके द्वारा तप होता है। यथार्थ में साधु आत्मशक्ति की वृद्धि को मुख्य लक्ष्य बनाते हुए शरीर को योग्य सामग्री प्रदान करते हैं। पूज्यपाद स्वामी का यह कथन गम्भीर अनुभव पर प्रतिष्ठित है कि जीव का कल्याण तथा शरीर का हित इन दोनों में संघर्ष होता है, क्योंकि :—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१६॥

जिस तपश्चर्या के द्वारा जीव का कल्याण होता है, उसके द्वारा शरीर की भलाई नहीं होती। जिसके द्वारा शरीर को लाभ पहुंचता है, उसके द्वारा आत्मा का हित नहीं होता।

भगवान की वृत्ति

निर्ग्रन्थ भगवान वृषभदेव मुमुक्षु हैं। संसार के अनंत दुःखों से छूटकर अपने स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं। इस कारण वे कर्मों को जलाने में तत्पर हैं।

कर्मेन्धनानि निर्दग्धुं उद्यतः स तपोग्निना।
दिदीपे नितरां धीरः प्रज्वलन्निव पावकः ॥२०—१८५॥ महापुराण

वे वृषभदेव तीर्थंकर तप रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी ईंधन को जलाने को उद्यत हुए। अतः वे धीर प्रभु अत्यन्त दैदीप्यमान अग्नि के समान शोभायमान होते थे। उस समय भगवान असंख्यात गुण-श्रेणी रूप कर्मों की निर्जराकर रहे थे। वे भगवान भिन्नभिन्न निर्जन स्थलों पर जाकर आत्मध्यान किया करते थे।

कदाचित् गिरिकुंजेषु कदाचिद् गिरिकन्दरे।
कदाचिच्चाद्रिश्रृंगेषु दध्यावध्यात्म-तत्ववित् ॥२०—२११॥

अध्यात्मतत्व के ज्ञाता वे प्रभु कभी पर्वत के लतागृहों में, कभी गिरिगुहाओं में, कभी पर्वत की शिखरों पर ध्यान किया करते थे।

जिनसेन आचार्य कहते हैं :—

मौनी ध्यानी स निर्मानो देशान् विहरन् शनैः।
परं पुरिमतालाख्यं सुधीरन्येद्यु रासदत् ॥२०—२१८॥

अपूर्व ध्यान

मौनी, ध्यानी, निर्मानी वे बुद्धिमान भगवान धीरे-धीरे अनेक देशों का विहार करते हुए एक दिन पुरिमतालपुर नाम के नगर के समीप पहुँच गए।*

वहाँ वे नगर के समीपवर्ती शकट नामके उद्यान के वट वृक्ष के नीचे पूर्व दिशा की ओर मुख करके एक शिला पर ध्यान के हेतु विराजमान हो गए। उन्होंने सिद्ध परमेष्ठी के अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व इन गुणों का ध्यान किया। इतने लम्बे अभ्यास के द्वारा प्रभु का मनोबल अत्यन्त वर्धमान हो चुका है।

---

*हरिवंशपुराण में नगर का नाम पूर्वतालपुर तथा उद्यान का शकटास्य नाम आया है। (सर्ग ६, २०५)।

मोह से महायुद्ध

अब वे मोह शत्रु का पूर्णतया संहार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे प्रभु पहले भी मोहनीय कर्म से युद्ध कर चुके हैं। इस भव से दो भव पहले वे वज्रनाभि चक्रवर्ती थे। उस समय उन्होंने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के पादमूल में निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर षोड़श कारण भावनाओं का चिंतवन किया था। महापुराण में कहा है :—

ततोऽसौ भावयामास भावितात्मा सुधीरधीः।
स्वगुरोर्निकटे तीर्थकृत्वस्यांगानि षोडश: ॥११—६८॥

आत्मा का चिंतवन करने वाले धीरवीर वज्रनाभि मुनिराज ने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के निकट तीर्थंकरत्व में कारण सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन किया था।

विशुद्धभावनः सम्यग् विशुध्यन् स्वविशुद्धिभिः।
तदोपशमकश्रेणी-मारुरोह मुनीश्वरः ॥८६॥

विशुद्ध भावना वाले उन मुनीश्वर ने आत्म विशुद्धि को भली प्रकार बढ़ाते हुए उपशम श्रेणी पर आरोहण किया। अंतर्मुहूर्त पर्यन्त उन्होंने उपशाँत मोह अवस्था का अनुभव किया। पश्चात् वहाँ से च्युत होकर वे स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान में आ गए। ग्यारहवें गुणस्थान में उन्होंने आरोहण किया था, क्योंकि उन्होंने मोहनीय कर्म का उपशमन किया था, क्षय नहीं किया था। इसके बाद दूसरी बार भी वे ग्यारहवें गुणस्थान को पहुँचे थे। वहाँ पहुँचने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई थी। इससे उनका सर्वार्थसिद्धि में जन्म हुआ था। आचार्य जिनसेन का कथन है :—

द्वितीयवार मारुह्य श्रेणी-मुपशमादिकाम्।
पृथक्त्वध्यानमापूर्ण-समाधिं परमं श्रितः ॥११०॥
उपशान्तगुणस्थाने कृतप्राणविसर्जनः।
सर्वार्थसिद्धिमासाद्य संप्रापत् सोऽहमिन्द्रताम् ॥११-१११॥

वे पृथक्त्ववितर्क ध्यान को पूर्णकर द्वितीय बार उपशम श्रेणी पर आरोहण कर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुए। उपशांतकषाय

नाम के ग्यारहवें गुणस्थान में उन्होंने प्राण विसर्जन कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर अहमिन्द्रता प्राप्त की थी।

इस प्रकार शुक्लध्यानी, शुद्धोपयोगी उन प्रभु का दो बार मोहनीय कर्म से युद्ध हो चुका था। मोहनीय का पूर्ण क्षय न करने के कारण ये सर्वार्थसिद्धि में तेतीस सागर पर्यन्त अहमिन्द्र रहे। गोम्मटसार कर्मकाँड की गाथा ५५६ की संस्कृत टीका में लिखा है :—

उपशांतगुणश्रेण्यां येषां मृत्युः प्रजायते।
अहमिन्द्रा भवन्त्येते सर्वार्थसिद्धिसद्मनि ॥पृष्ठ ७६२॥

उपशांत—कषाय गुणस्थान में जिनकी मृत्यु होती है, वे सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र होते हैं।

मोह के मूलोच्छेद का उद्योग

अब मोहनीय कर्म को जड़-मूल से नष्ट करने के लिए भगवान ने विशेष प्रकार की सामग्री एकत्रित की थी। एक कुशल शासक के रूप में उन्होंने विशेष प्रकार के योद्धा का रूप धारण किया था :—

शिरस्त्राणं तनुत्रं च तस्यासीत् संयमद्वयम्।
जैत्रमस्त्रंच सद्ध्यानं मोहारातिं बिभित्सतः ॥२०—२३५॥

भगवान ने मोहशत्रु के क्षय करने के लिए इंद्रिय संयम को शिर की रक्षा करने वाला टोप और प्राणिसंयम को शरीर रक्षक कवच बनाया था। उत्तम ध्यान को जयशील अस्त्र बनाया था।

अंतर्युद्ध का चित्रण

ध्यान के द्वारा कर्म शत्रुओं का पर-प्रकृतिरूप संक्रमण हो रहा था। कर्मों की शक्ति क्षीण हो रही थी। अब भगवान ने क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने की पूर्ण तैयारी कर ली। क्षायिक सम्यक्त्वी होने से मोहनीय की अनंतानुबंधी चतुष्क तथा दर्शन-मोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का क्षय हो चुका था। उन्होंने सातिशय अप्रमत्त गुण

स्थान को प्राप्त किया। अधः प्रवृत्तकरण के अंतर्मुहूर्त पश्चात् अपूर्व करण नाम के आठवें गुणस्थान को प्राप्त किया। यहाँ एक भी कर्म का क्षय नहीं होता है, किन्तु प्रत्येक समय में असंख्यात गुणित रूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होती है।

धवला टीका में लिखा है, "तदो अधापवत्तकरणं कमेण काऊणंतोमुहुत्तेण अपुव्वकरणो होदि। सोण एक्कं पि कम्मं खवेदि, किंतु समयं पडि असंखेज्ज-गुणसरुवेण पदेस-णिज्जरं करेदि" (भाग १, पृ० २१६)।

*सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि अपूर्वकरण क्षपक गुणस्थान वाला पाप प्रकृतियों की स्थिति तथा अनुभाग को न्यून करता है तथा शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को वृद्धिगत करता है। "अपूर्वकरण-प्रयोगेणापूर्वकरण-क्षपकगुणस्थान-व्यपदेशमनुभूय तत्राभिनव-शुभाभिसंधि-तनूकृत-पापप्रकृति-स्थित्यनुभागो विवर्धित-शुभकर्मानुभवो" (अ० १०, सू० १, पृ० २३६)। इसके अनंतर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त करके सत्कर्म-प्राभृत के उपदेशानुसार स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अंतर्मुहूर्त के पश्चात् वे प्रत्याख्यानावरण तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषायाष्टक का नाश करते हैं। (धवला टीका भा० १, पु० १ पृ० २१७)।

---

*शुक्लध्यान तथा शुद्धोपयोग के सद्भाव में भी अपूर्वकरण गुणस्थान में पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग की वृद्धि होती है तथा पाप का क्षपण होता है; अतः पाप और पुण्य को समान मानने की एकान्तदृष्टि अयोग्य है।

कषायप्राभृत की देशना

इस विषय में कषायप्राभृत शास्त्र की भिन्न प्रतिपादना है। उसके उपदेशानुसार पहले कषायाष्टक का क्षय होता है; पश्चात् उक्त सोलह प्रकृतियाँ नष्ट होती हैं। इसके अनन्तर नपुंसक वेद का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त स्त्रीवेद का क्षय होता है। पश्चात् नोकषाय षट्क का पुरुषवेद रुप में, पुरुषवेद का क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन का मान संज्वलन में, मान संज्वलन का माया संज्वलन में माया संज्वलन का लोभ संज्वलन में क्रमशः बादर कृष्टि विभाग से क्षय करके बादर लोभ संज्वलन को कृष करके सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान को प्राप्त करते हैं।

क्षीणमोह गुणस्थान की प्राप्ति

लोभ संज्वलन का क्षय कर क्षीण मोह नाम के बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। वहाँ उपान्त्य अर्थात् द्विचरिम समय में निद्रा तथा प्रचला प्रकृति का क्षय करके अन्तिम समय में पंच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पंच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियों का क्षय करके सयोगकेवली जिन होते हैं। धवला टीका में लिखा है; "एदेसु सट्ठिकम्मेसु खीणेसु सजोगिजिणो होदि। सजोगिजिणो ण किंचि कम्मं खवेदि" (भाग १, पृ० २२३)—इस प्रकार साठ प्रकृतियों का क्षय करके सयोगी जिन होते हैं। सयोगी जिन कोई भी कर्म का क्षय नहीं करते हैं। सयोगी जिन भगवान के ८५ प्रकृतियों का सद्भाव कहा गया है; अतः १४८ में से ६३ प्रकृतियों का क्षय होने पर शेष ८५ प्रकृतियाँ रहती हैं। पूर्वोक्त कर्म प्रकृतियों के क्षपण-क्रम के अनुसार साठ प्रकृतियों का क्षय बताया है।

विचारणीय विषय

इस कारण यह बात विचारणीय है कि तीन प्रकृतियों के क्षय का क्यों नहीं उल्लेख किया गया?

आगम में कहा है, "कर्माभावो द्विविधः—यत्नसाध्योऽ यत्नसाध्यश्चेति । तत्र चरमदेहस्य नारकतिर्यंग्देवायुषामभावो न यत्नसाध्यः असत्वात्" (सर्वार्थसिद्धि अध्याय १०, सूत्र २) कर्मों का अभाव यत्नसाध्य तथा अयत्नसाध्य रूप से दो प्रकार कहा गया है । चरमदेह वाले जीव के नरक, तिर्यंच तथा देवायु का अभाव अयत्नसाध्य है, क्योंकि वे तीन आयु की सत्ता रहित हैं । शेष साठ प्रकृतियों का क्षय यत्नसाध्य कहा गया हैं ।

सामान्य दृष्टि से कहा जाता है कि त्रेसठ प्रकृतियों का क्षय करके केवली भगवान होते हैं । इनमें घातिया कर्म सम्बन्धी सेंतालिस प्रकृतियाँ रहती हैं । अघातिया की सोलह प्रकृति रहती है ।[1]

भगवान ने मोह का क्षय करने के उपरान्त जब बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान पर आरोहण किया था, उस समय वे परमार्थ रूप में निर्ग्रन्थ-पदवी के स्वामी बने थे । इसके पूर्व उसको निर्ग्रन्थ शब्द से कहते थे । उसमें नैगम नय की दृष्टि प्रधान थी । सर्वार्थसिद्धि में लिखा है, "चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षाप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिनयापेक्षया सर्वेपि ते निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते" (अ० ९ सूत्र ४७)—चारित्र के परिणमन की अधिकता, न्यूनता कृत भेद होते हुए भी नैगम, संग्रह आदि नयों की अपेक्षा पुलाकादि सभी मुनियों को निर्ग्रन्थ कहते हैं । 'निर्ग्रन्थ' शब्द का वाच्यार्थ है 'ग्रन्थ' रहित ।'ग्रन्थ' का अर्थ है मूर्च्छा अथवा ममत्व परिणाम । ये परिणाम मोहनीय कर्मजन्य हैं; अतएव मोह का अत्यन्त क्षय होने पर अन्वर्थ रूप में निर्ग्रन्थ अवस्था प्राप्त होती है ।

---

१ देव-शास्त्र-गुरु की पूजा में लोग पढ़ते हैं "चउ करम की त्रेसठ प्रकृति नास," यह ठीक नहीं है । चार घातिया कर्मों की सैंतालीस प्रकृतियाँ होती हैं । ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, अंतराय की पांच तथा मोहनीय की अट्ठाईस मिलकर ४७ होती हैं । इससे पूजा में यह पढ़ना चाहिए "करमन की त्रेसठ प्रकृति नास" वा 'चउकरम, तिरेसठ प्रकृति नास', क्योंकि चार कर्म मुख्य हैं ।

मोह क्षय के पश्चात् घातियात्रय का क्षय

मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय ये तीन घातिया कर्म अन्तर्मुहूर्त में नाश को प्राप्त होते हैं। यही बात पूज्यपाद स्वामी ने इस प्रकार स्पष्ट की है, "प्रागेव मोहं क्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्तं क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपज्ज्ञान-दर्शना-वरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति" (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १०, सूत्र १)—पहले मोहनीय कर्म को क्षय करके अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त क्षीणकषाय नाम को प्राप्त करके युगपत ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म का विनाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञता की उपलब्धि में ज्ञानावरण का क्षय साक्षात् कारण है, किन्तु किन्तु इसके पूर्व मोहनीय कर्म का विनाश अनिवार्य है।

वीतराग विज्ञानता

मोह क्षय के उपरान्त वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति होती है। गृहस्थों को कभी कभी वीतराग बनने को कहा जाता है। गृहस्थावस्था में मोह क्षय असंभव है। मुनि पदवी को प्राप्त करके ही वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति होती है। राग चारित्र मोह का भेद है। चारित्र धारण करने पर ही राग का अभाव होगा। अतः गृहस्थ के वीतरागता नहीं होगी। मोह का क्षय होने पर मुनिराज वीतराग विज्ञानतायुक्त होते हैं। गृहस्थ अपना लक्ष्य जैसे परमात्म पदवी को बनाता है, उसी प्रकार वह ध्येय रूप में वीतराग विज्ञानता को बना सकता है।

आज के इस दुषमा काल म उत्पन्न हुआ गृहस्थ हो, या मुनि हो, उनको वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति तो दूर, उस वीतराग विज्ञानज्योति युक्त आत्मा का दर्शन भी शक्य नहीं है। यदि कोई विदेह जाने योग्य तपस्या द्वार। चारण ऋद्धि प्राप्त कर ले, तो अवश्य वीतराग विज्ञानता से समलंकृत साधुराज के दर्शन कर सकता है।

वर्तमान युग में प्रवर्धमान मोह का साम्राज्य देख उक्त कथन कल्पना मात्र है ।

वीतरागता की दुर्लभता

कोई-कोई गृहस्थ ऐसी बातें करते हैं, मानो वे वीतराग बन गए हों। यह मिथ्या है। वीतरागावस्था बालविनोद की बात नहीं है। कुछ भी पुरुषार्थ न करना, धर्म तथा सदाचरण से दूर भागना, सदाचार वालों की निंदा करना ही अपना ध्येय बनाने वाले वीतराग विज्ञानी बनने का स्वप्न भी देखने में असमर्थ हैं। स्व० आचार्य वीरसागर महाराज ने कहा था, 'मनी बसे स्वप्नी दिसे'—जो बात मन में निवास करती है, वह स्वप्न में दृष्टिगोचर होती है। जिनके हृदय में वीतरागता की भावना हो, उनका चरित्र बकराज की भांति न होकर राजहंस सदृश होता है।

मार्मिक समीक्षा

इस प्रसंग में आचार्य समंतभद्र की एक मार्मिक चर्चा ध्यान देने योग्य हैं। सांख्य दर्शन कहता है, "ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बंधः" ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, अज्ञान के द्वारा बंध होता है। इस सिद्धान्त का समर्थन अन्य भारतीय दर्शन भी करते हैं। इस विचार की समीक्षा करते हुए समंतभद्र स्वामी देवागम स्तोत्र में कहते हैं :—

अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो बंधो ज्ञेयानंत्यान्न केवली।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥९६॥

अज्ञान के द्वारा नियम से बंध होता है, तो कोई भी केवलज्ञानी नहीं बनेगा, कारण ज्ञेय पदार्थ अनंत हैं। इससे बहुभाग रूप ज्ञेय पदार्थों का अज्ञान रहने से बंध होगा। कदाचित् यह कहा जाय, कि अल्प भी ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, तो विद्यमान महान अज्ञान के कारण बंध भी होगा, अतएव उक्त एकान्त मान्यता स्पष्टतया सदोष है।

जैन विचार

आचार्य जैन दृष्टि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाज्ञानाद्वीतमोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहतोऽन्यथा ।।६८।।

मोहयुक्त अज्ञान से बंध होता है, मोहरहित अज्ञान से बंध नहीं होता । मोह रहित अल्पज्ञान के द्वारा मोक्ष होता है । मोहयुक्त अल्पज्ञान के द्वारा बंध होता है ।

इस कथन के द्वारा यह बात स्पष्ट की गई है, कि बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक मोह के सद्भाव-असद्भाव के साथ है । अल्पज्ञान की विद्यमानता, अविद्यमानता पर वह आश्रित नहीं है । इससे मोह कर्म की प्रबलता ज्ञात होती है । आत्मा में कर्म के बन्ध करने वाले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग हैं । इनमें योग को छोड़कर शेष सभी कारण मोहनीय कर्म के रूप हैं । इसके कारण स्थितिबन्ध तथा अनुभाग बन्ध होता है । इसके अभाव में क्षीणमोह तथा सयोगी-जिन गुणस्थानों में योग के कारण ईर्यापथ आस्रव होकर केवल प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं । स्थिति तथा अनुभाग बन्ध के अभाव में वे दोनों बन्ध प्रायः अकार्यकारी हैं; शून्य सदृश हैं ।

मोह विजय की मुख्यता

जैन धर्म में मोह विजय को पूज्यता का कारण माना है । अल्पज्ञानी पुरुष भी मोह को जीतने के कारण पूज्यता को प्राप्त करता है । शिवभूति मुनि अज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हुए भी मोह विजय के कारण केवली बन गए थे । जो शास्त्रज्ञान के अहँकार में लिप्त होने से यह सोचते हैं कि अल्पज्ञानी तपस्वी साधु हमारे समक्ष कुछ नहीं हैं, वे विकृति पूर्ण परिणाम वाले हैं । मोह विजय का कार्य अत्यन्त कठिन है । उसे कोई भी वीर संपादित नहीं कर सकता । उस मोहको जीतने वाला महावीर ही होता है ।

केवलज्ञान का समय

हरिवंशपुराण में लिखा है :—

वृषभस्य श्रेयसो मल्लेः पूर्वाण्हे नेमिपार्श्वयोः ।
केवलोत्पत्तिरन्येषामपराह्णे जिनेशिनां ।।६०—२५६।।

वृषभनाथ, श्रेयांसनाथ, मल्लिनाथ, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ इन पांच तीर्थंकरों ने पूर्वाण्ह में केवलज्ञान प्राप्त किया था । शेष जिनेन्द्रों ने अपराण्हकाल में केवलज्ञान प्राप्त किया था ।

महापुराण में लिखा है :—

फाल्गुने मासि तामिस्रपक्षस्यैकादशी तिथौ ।
उत्तराषाढनक्षत्रे कैवल्यमुद्भूद्विभोः ।।२०—२६८।।

फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था । केवलज्ञान ज्योति के कारण वे भगवान् यथार्थ में महान देव, महादेव या देवाधिदेव बन गए ।

अकलंक स्वामी की यह वाणी अर्थपूर्ण है :—

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितम् ।
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि ।।
राग-द्वेष-भयामयान्तक-जरा-लोलत्व-लोभादयो ।
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वंद्यते ।।

जिन्होंने करतल की अंगुलियों सहित तीन रेखाओं के समान त्रिकालवर्ती लोक तथा अलोक का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है, जिनके पद का उल्लंघन करने में राग, द्वेष, भय, रोग, मृत्यु, बुढ़ापा, चंचलता, लोभादिक समर्थ नहीं हैं, मैं उन महादेव को प्रणाम करता हूं ।

पहिले संयम ने केवलज्ञान की प्राप्ति का सच्चा वचन देकर भगवान को मनः पर्ययज्ञान रूप ब्याना दिया था । अब केवलज्ञान की उपलब्धि द्वारा संयम की वह प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो गई ।

अर्हन्त पद

भगवान घातिया चतुष्टय का क्षय करने से अरिहंत हो गए। उनमें 'अरिहननादरिहन्ता'-कर्मारि के नाश करने से अरिहंत होते हैं, यह लक्षण पाया जाता है। 'अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्त':-अतिशय पूर्ण पूजा को प्राप्त होने से 'अर्हन्त' हैं। यह पद प्रभु में पूर्णतया तब चरितार्थ होगा, जब वे समवशरण में शत-इन्द्रों के द्वारा अलौकिक पूजा को प्राप्त करेंगे। इस दृष्टि से सूक्ष्म विचार करने पर यह कथन अनुचित नहीं है, कि भगवान पहले अरिहंत होते हैं, पश्चात् अरहंत या अर्हन्त होते हैं।

णमो अरिहंताणं

ज्ञान-कल्याणक

समवशरण शोभित जिनराजा ।
भवदधि, तारन-तरन जिहाजा ।।

समन्तभद्र ने पार्श्वप्रभु के स्तवन में लिखा है :—

स्वयोग-निस्त्रिंशनिशातधारया ।
निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिंत्यमद्भुतम् ।
त्रिलोक-पूजातिशयास्पदं पदम् ।।१३३।।स्वयंभूस्तोत्र ।

शुक्लध्यान रूपी तलवार की तीक्ष्ण धारा के द्वारा जिन्होंने बड़े कष्ट से जीतने योग्य मोह रूपी शत्रु को मारकर अचिंत्य अर्थात् जो चिंतन के परे है, जो अद्भुत है तथा त्रिलोक के जीवों द्वारा पूजा के अतिशय का स्थान है ऐसी अर्हन्त पदवी प्राप्त की, (मया सदा पार्श्व-जिनः प्रणम्यते) उन पार्श्वनाथ भगवान को मैं सर्वदा प्रणाम करता हूँ ।

आदिनाथ भगवान की अभिवंदना करते हुए आचार्य समंतभद्र स्वयंभू स्तोत्र में कहते हैं :—

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दय-भस्मसात्क्रियाम्
जगाद तत्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।।४।।

भगवान ने आत्म-ध्यान के तेज द्वारा अपनी आत्मा के दोषों को जड़ मूल से निर्दयता पूर्वक नष्ट कर दिया तथा उपदेशामृत के आकांक्षी जगत् को वास्तविक तत्व का उपदेश दिया और वे ब्रह्मपद अर्थात् शुद्धात्म रूप अमृत पदवी के स्वामी हुए ।

इन पद्यों में सर्वज्ञावस्था प्राप्त तीर्थंकर के जीवन की एक झलक प्राप्त होती है । भगवान ने अर्हन्त पदवी प्राप्त की । वह अचिंत्य है, अद्भुत है तथा विश्व की अभिवंदना का स्थल है ।

विशेष बातें

उस समय कौन सी अपूर्व बातें होती हैं, इसका उल्लेख करते हुए महापुराणकार कहते हैं।

अथ घातिजये जिष्णोरनुष्णीकृत-विष्टपे।
त्रिलोक्यामभवत् क्षोभः कैवल्योत्पत्तिवात्यया ॥२२-१॥

जब जिनेन्द्र भगवान ने घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त की, उस समय संसार भर का संताप दूर हो गया। केवलज्ञान की उत्पत्ति रूपी महान् वायु के द्वारा तीनों लोकों में हलचल मच गई।

उस समय कल्पवासी देवों के यहाँ घण्टानाद, ज्योतिषी देवों के यहां सिंहनाद, व्यंतरों के यहां मेघ गर्जना सदृश नगाड़ों की ध्वनि तथा भवनवासी देवों के यहाँ शंखध्वनि हो रही थी। "विष्टराण्यमरेशानां अशनैः प्रचकंपिरे" समस्त इंद्रों के आसन बड़े जोर से कंपित हुए।

वातावरण

पुष्पांजलि-मिवातेनुः समन्तात् सुरभूरुहाः।
चलच्छाखाकरै-र्दीर्घै-विगलत्कुसुमोत्करैः ॥२२--८॥

अपने दीर्घ शाखा रूपी हाथों से चारों ओर पुष्पवृष्टि करते हुए कल्पवृक्ष ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो भगवान को पुष्पांजलि ही अर्पण कर रहे हों।

दिशः प्रसत्ति-मासेदुः बभ्राजे व्यभ्रमम्बरम्।
विरजीकृत-भूलोकः शिशिरो मरुदाववौ ॥९॥

समस्त दिशाएँ निर्मल हो गई थीं, नभोमंडल मेघ रहित शोभायमान होता था, पृथ्वी मण्डल धूलिरहित हो गया था तथा शीतल पवन बह रही थी।

इति प्रमोद-मातन्वन् अकस्मात् भुवनोदरे।
केवलज्ञान-पूर्णेन्दुः जगदब्धिम् अवीवृधत् ॥१०॥

इस प्रकार समस्त संसार के भीतर अकस्मात् आनन्द को

बढ़ाता हुआ केवल ज्ञान रूपी पूर्ण चन्द्रमा संसार रूपी समुद्र को बढ़ा रहा था अर्थात आनंदित कर रहा था।

पूजार्थ प्रस्थान

पूर्वोक्त चिन्हों से इंद्र ने भगवान के केवलज्ञानोत्पत्ति का वृत्तांत अवगत कर परम हर्ष को प्राप्त किया। इंद्र अनेक देवों के साथ भगवान के केवलज्ञान की पूजा के लिए निकला। सौधर्मेन्द्र ने अपनी इन्द्राणी तथा ईशान इन्द्र के साथ-साथ, विक्रिया ऋद्धि के कारण नागदत्त आभियोग्य देव द्वारा निर्मित, ऐरावत हाथी पर आरुढ़ हो सर्वज्ञ ऋषभनाथ तीर्थंकरके दर्शनार्थ प्रस्थान किया। सबके आगे किल्विषिक देव जोर-जोर से नगाड़ों के शब्द करते जाते थे। उनके पीछे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक तथा प्रकीर्णक जाति के देवगण अपने अपने वाहनों पर आरुढ़ हो प्रभु के पास जा रहे थे।

समवशरण रचना

कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से भगवान की धर्मसभा अर्थात् समवशरण की अद्भुत रचना की थी। उस कार्य में देवताओं की अपूर्व कुशलता के साथ तीर्थंकर प्रकृति का निमित्त कारण भी सहायक था। वह सौन्दर्य, वैभव तथा श्रेष्ठकला का अद्भुत केन्द्र था। इन्द्र ने इन्द्र-नीलमणियों से निर्मित गोल आकार वाले मनोज्ञ समवशरण को देखा।

मंगलमय दर्पण

आचार्य कहते हैं :—

सुरेन्द्रनीलनिर्माणं समवृत्तं तदा बभौ।
त्रिजगच्छ्री-मुखालोक-मंगलादर्श-विभ्रमम् ।।२२--७८।।

इन्द्र-नीलमणि निर्मित तथा चारों ओर से गोलाकार वह समवशरण ऐसा लगता था मानो त्रिलोक की लक्ष्मी के मुख दर्शन

का मंगलमय दर्पण ही हो ।

आस्थान-मंडलस्यास्य विन्यासं कोऽनुवर्णयेत् ।
सूत्रामा सूत्रधारोऽभून्निर्माणे यस्य कर्मठः ।।७१।।

भला, उस समवशरण की रचना का कौन वर्णन कर सकता है, जिसके निर्माण कार्य में कर्मशील इन्द्र महाराज स्वयं सूत्रधार थे ।

समवशरण वर्णन

समवशरण के बाहर रत्नों की धूलि से निर्मित परकोटा था, जिसे धूलीसाल कहते हैं । इस धूलीसाल के बाहर चारों दिशाओं में सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग पर अवलम्बित चार द्वार शोभायमान हो रहे थे । धूलीसाल के भीतर जाने पर कुछ दूरी पर चारों दिशाओं में एक-एक मानस्तंभ था । वे मानस्तंभ महा प्रमाण के धारक थे । घंटाओं से घिरे हुए थे; चामर तथा ध्वजाओं से शोभायमान थे ।

मानस्तम्भ

उन स्वर्णमय मानस्तभों के मूलभाग में जिनेन्द्र भगवान की सुवर्णमय प्रतिमाएं विराजमान थीं, जिनकी इन्द्र आदि क्षीर सागर के जल से अभिषेक करते हुए पूजा करते थे ।[1] उन मानस्तम्भों के मस्तक पर तीन छत्र फिर रहे थे । इन्द्र के द्वारा बनाए जाने के कारण उनका दूसरा नाम इन्द्रध्वज भी रूढ़ हो गया था ।

मानस्तंभान् महामानयोगात् त्रैलोक्यमाननात् ।।
अन्वर्थसंज्ञया तज्ज्ञै र्मानस्तम्भाः प्रकीर्तिताः ।।२२--१०२।।

उनका प्रमाण बहुत ऊँचा था, त्रैलोक्य के जीवों द्वारा मान्य होने से विद्वान् लोग उन मानस्तम्भों को सार्थक रूप से मानस्तम्भ कहते थे ।

---

१ हिरण्मयी जिनेन्द्रार्च्याः तेषां बुध्न-प्रतिष्ठिताः ।
देवेन्द्राः पूजयंतिस्म क्षीरोदांभोभिषेचनैः ।।२२-९८।। म० पु०

विजय स्तम्भ

मुनिसुव्रतकाव्य में कहा है कि घातिया कर्मों का क्षयकरके जिनेन्द्र ने मानस्तम्भ के रूप में प्रत्येक दिशा में विजयस्तम्भ स्थापित किए थे।

> **दुःखौघ-सर्जनपटूं स्त्रिजगत्यजेयान्।**
> **साक्षान्निहत्य चतुरोपि च घातिशत्रून्।**
> **स्तम्भाः जयादय इव प्रभुणा निखाताः।**
> **स्तम्भाः बभुः प्रगिदिशं किल मानपूर्वाः ॥१०—३१॥**

त्रिभुवन में दुःखों के निर्माण करने में प्रवीण तथा अजेय जो घातिया कर्म रूप चार शत्रु हैं, उन्हें साक्षात् नष्ट करके ही मानो जिनेन्द्रदेव से आरोपित किए गए विजयस्तम्भ सदृश मानस्तम्भ प्रत्येक दिशा में शोभायमान होते थे।

संक्षिप्त परिचय

महापुराण में समवशरण की रचना का संक्षेप में इस प्रकार परिचय दिया है :—

> **मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजल-सत्खातिका-पुष्पवाटी।**
> **प्रकारो नाट्यशाला-द्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाध्वा।**
> **सालः कल्पद्रुमाणां परिवृतवनं स्तूप-हर्म्यावली च।**
> **प्राकारः स्फाटिकोन्त-र्नृ-सुर-मुनिसभापीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥१३१९२॥**

सर्व प्रथम धूलीसाल के बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ हैं, मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जलसे भरी हुई परिखा (खाई) है, फिर पुष्पवाटिका है, उसके आगे पहिला कोट है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ हैं। उसके आगे दूसरा अशोक आदि का वन है। उसके आगे वेदिका है। तदनन्तर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं। फिर दूसरा कोट है। उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है। उसके बाद स्तूप और स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं। फिर स्फटिकमणिमय तीसरा कोट है।

उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाएँ हैं। तदनन्तर पीठिका है और उसके अग्रभाग पर स्वयंभू अरहंत देव विराजमान हैं।

भगवान के मुख की दिशा

अरहंत देव स्वभाव से ही पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख कर विराजमान होते हैं। कहा भी है :—

"देवोऽर्हन्प्राङ्मुखो वा नियतिमनुसरन् उत्तराशामुखो वा" ॥२३—१९३॥

द्वादश सभा

भगवान के चारों ओर प्रदक्षिणा रूप से द्वादशसभाओं में इस क्रम से भव्यजीव बैठते हैं। प्रथम कोठे में गणधर देवादि मुनीन्द्र विराजमान होते हैं, दूसरे में कल्पवासिनी देवियां, तीसरे में आर्यिकाएँ तथा मनुष्यों की स्त्रियां, चौथे में ज्योतिषी देवियां, पांचवे में व्यंतरनी देवियां, छटवे में भवनवासिनी देवियां, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तरदेव, नवमें में ज्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में पुरुषवर्ग तथा बारहवें में पशुगण बैठते हैं। मुनियों के कोठे में श्रावकादि मनुष्य नहीं बैठते हैं।

श्रीमंडप

भगवान रत्नमय स्तम्भों पर अवस्थित श्रीमंडप में विराजमान रहते हैं। वह उज्ज्वल स्फटिकमणि का बना हुआ श्रीमंडप अनुपम शोभायुक्त था। आचार्य कहते हैं :—

सत्यं श्रीमंडपः सोऽयं यत्रासौ परमेश्वरः।
नृसुरासुरसान्निध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रियम् ॥२२—२८१॥

वह श्रीमंडप यथार्थ में श्री अर्थात् लक्ष्मी का मंडप ही था, कारण वहां परमेश्वर ऋषभनाथ भगवान ने मनुष्य, देव तथा असुरों के समीप तीनों लोकों की श्री को स्वीकार किया था। इस श्रीमंडप के ऊपर यक्षों द्वारा वर्षाई गई पुष्प राशि बड़ी सुन्दर लगती थी।

योजनप्रमिते यस्मिन् सम्ममुर्नृसुरासुराः।
स्थिताः सुखमसंबाधं अहो माहात्म्यमीशितुः ॥२२—१८६॥

अहो ! जिन-भगवान का यह कैसा माहात्म्य था, कि केवल एक योजन लम्बे-चौड़े श्रीमंडप में मनुष्य, देव और असुर एक दूसरे को बाधा न देते हुए सुख से बैठ सकते थे ।

पीठिका

उस श्रीमंडप की भूमि के मध्य में वैडूर्यमणि की प्रथम पीठिका थी । उस पीठिका पर स्थित अष्ट मंगल द्रव्य रूपी सम्पदाएँ और यक्षों के उन्नत मस्तकों पर स्थित धर्म-चक्र ऐसे लगते थे, मानो पीठिका रूपी उदयाचल से उदय होते हुए सूर्य बिंब ही हों । धर्मचक्रों में हजार-हजार आराओं का समुदाय था । उस प्रथम पीठिका पर सुवर्ण निर्मित प्रकाशमान दूसरा पीठ था ।

उसके ऊपर चक्र, गज, वृषभ, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ और माला के चिन्ह युक्त निर्मल ध्वजाएँ शोभायमान होती थीं । दूसरे पीठ पर तीसरा पीठ विविध रत्नों से निर्मित था । वह तीन कटनियों से युक्त था और ऐसा सुन्दर दिखता था मानो पीठ का रूप धारण कर सुमेरु पर्वत ही प्रभु की उपासना के लिए आया हो । उस पीठ के ऊपर जिनेन्द्र भगवान विराजमान थे । आचार्य जिनसेन लिखते हैं :—

ईदृक् त्रिमेखलं पीठं अस्योपरि जिनाधिपः।
त्रिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव निर्बभौ ॥२२—३०४॥

इस प्रकार तीन कटनीदार पीठ पर जिनेन्द्र भगवान ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे त्रिलोक के शिखर पर सिद्ध परमेष्ठी सुशोभित होते हैं ।

गंधकुटी

तीसरे पीठ के अग्रभाग पर गंधकुटी थी । तीन कटनियों से चिन्हित पीठ पर वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित होती थी मानो नन्दन-

वन, सौमनसवन और पांडुकवन के ऊपर सुमेरु की चूलिका ही सुशोभित हो रही हो। चारों ओर लटकते हुए स्थूल मोतियों की झालर से वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों समुद्रों ने उसे मुक्ताओं का उपहार ही अर्पण किया हो। वह गंधकुटी सुवर्ण निर्मित मोटी और लम्बी जाली से अलंकृत थी। रत्नमय मालाओं से वह गंधकुटी शोभायमान थी। सब दिशाओं में फैलती हुई सुगंध से वह गंधकुटी ऐसी मालूम होती थी मानों सुगंध के द्वारा उसका निर्माण हुआ हो। सब दिशाओं में फैलती हुई धूप से वह ऐसी प्रतिभासित होती थी मानों धूप से बनी हो। वह सब दिशाओं में फैले हुए फूलों से ऐसी मालूम होती थी मानों वह पुष्प निर्मित ही हो। यही बात महापुराणकार ने इन शब्दों में प्रगट की है :—

> गन्धैर्गन्धमयी वासीत् सृष्टिः पुष्पमयीव च।
> पुष्पैं र्धूपमयी वाभात् धूपैर्या दिग्विसर्पिभिः ॥२३—२०॥

सिंहासन

गन्धकुटी के मध्य में एक रत्नजटित सुवर्णमय सिंहासन था। उस सिंहासन पर प्रभु विराजमान थे :—

> विष्टरं तदलंचक्रे भगवानादितीर्थकृत्।
> चतुर्भिरंगुलैः स्वेन महिम्नाऽस्पृष्टत्तलः ॥२३—२९॥

भगवान वृषभदेव उस सिंहासन को अलंकृत कर रहे थे। उन्होंने अपनी महिमा से उस सिंहासन के तल को स्पर्श नहीं किया था। वे उससे चार अंगुल ऊंचे विराजमान थे।

सौधर्मेन्द्र का आनन्द

सौधर्मेन्द्र आदि ने समवशरण में प्रवेश किया। उनके आनन्द का पारावार नहीं था। सौधर्मेन्द्र के अपूर्व आनन्द का एक रहस्य था। वह स्वयं को कृतार्थ समझता था। जब भगवान गृहस्थावस्था में थे और जगत् का मोह उन्हें घेरा हुआ था, उस समय चतुर

इन्द्र ने अल्पायुवाली नीलांजना अप्सरा के नृत्य द्वारा भगवान के मन को भोगों से विरक्त करने का उद्योग रचा था ताकि भगवान दीक्षा लें और शीघ्र ही मोहारि-विजेता बन कर समस्त संसार-सिंधु में डूबते हुए जीवों को निकालकर कल्याणपथ में लगावें। आज समवशरण में विराजमान भगवान का दर्शन कर उस सुरराज को बड़ा हर्ष हुआ। वह कृतकृत्य हो गया। हृदय में भक्ति प्रवाहित हो रही थी।

मंडल रचना

उस समय इन्द्राणी ने रत्नों के चूर्ण से प्रभु के समक्ष मनोहर मण्डल बनाया।

ततो नीरधारां शुचिं स्वानुकारां।
लसद्रत्न-भृंगारनाल-स्नुताम् ताम्।
निजां स्वान्तवृत्ति-प्रसन्नमिवाच्छां।
जिनोपांघ्रि संपातयामास भक्त्या ॥२३--१०६॥

तदनन्तर इन्द्राणी ने भक्तिपूर्वक भगवान के चरणों के समीप देदीप्यमान रत्नों के भृङ्गार की नाल से निकलती हुई पवित्र जलधारा छोड़ी, जो शची के समान ही पवित्र थी और उसकी अंतःकरणवृत्ति के समान स्वच्छ तथा निर्मल थी।

इंद्रों द्वारा पूजा

अथोत्थाय तुष्टया सुरेन्द्राः स्वहस्तैः।
जिनस्यां-घ्रिपूजां प्रचक्रुः प्रतीताः॥
सगंधैः समाल्यैः सुधूपैः सदीपैः।
सदिव्याक्षतैः प्राज्यापीयूषपिण्डैः ॥२३--१०६॥

इन्द्रों ने खड़े होकर बड़े सन्तोष के साथ अपने हाथों से गंध, पुष्पमाला, धूप, दीप, दिव्य अक्षत तथा उत्कृष्ट अमृत पिंडों से जिनेन्द्र भगवान के चरणों की पूजा की।

सामग्री

पूजा की उज्ज्वल तथा अपूर्व सामग्री ऐसी प्रतीत होती थी, मानों संसार की द्रव्यरूपी सम्पत्ति भगवान के चरणों की पूजा के हेतु वहाँ आई हो। महापुराणकार कहते हैं कि इन्द्राणी ने विविध सामग्री से पूजा करते हुए दीपकों द्वारा पूजा की। इस विषय में आचार्य का कथन बड़ा सुन्दर है :—

ततो रत्नदीपैं जिनांगद्युतीनां।
प्रसर्पेण मन्दीकृतात्मप्रकाशैः॥
जिनार्कं शची प्रार्चिचत् भक्तिनिघ्ना।
न भक्ता हि युक्तं विदंत्यप्ययुक्तम्॥११२॥

भक्ति के वशीभूत शची ने जिनेन्द्रदेव के शरीर की काँति द्वारा जिनका प्रकाश मन्द पड़ गया है, ऐसे रत्नदीपकों के द्वारा जिनसूर्य की पूजा की। भक्तप्राणी युक्त तथा अयुक्तपने का विचार नहीं रखते।

देव-देवेन्द्रों ने सर्वज्ञ भगवान की पूजा की। महापुराणकार कहते हैं :—

इतीत्थं स्वभक्त्या सुरैरचितेऽर्हन्।
किमेभिस्तु कृत्यं कृतार्थस्य भर्तुः॥
विरागो न तुष्यत्यपि द्वेष्टि वासौ।
फलैश्च स्वभक्तानहो योयुजीति॥२३-११५॥

इस प्रकार भक्तिपूर्वक देवों ने अर्हन्त भगवान की पूजा की। भगवान तो कृतकृत्य थे। इस पूजाभक्ति से उनका क्या प्रयोजन है? मोह का क्षय करने से वे वीतराग हो चुके थे, अतः किसी से न संतुष्ट होते थे और न अप्रसन्न होते थे, तथापि अपने भक्तों को इष्ट फलों से युक्त कर देते थे, यह आश्चर्य की बात है।

स्तवन

इन्द्रों ने बड़ी भावपूर्ण पदावली द्वारा साक्षात् तीर्थंकर केवली की स्तुति की। इन्द्र कहते हैं :—

त्वमसि विश्वदृग् ईश्वरः विश्वसृट् त्वमसि विश्वगुणांबुधिरक्षयः ।
त्वमसि देव जगद्धितशासनः स्तुतिमतोऽनुगृहाण जिनेश नः ॥२३-१२२॥

हे ईश्वर ! आप केवलज्ञान नेत्र द्वारा समस्त विश्व को जानते है, कर्मभूमि रूपी जगत के निर्माता होने से विश्वसृट् हैं । विश्व अर्थात् समस्त गुणों के समुद्र हैं, क्षय रहित हैं, आपका शासन जगत का कल्याण करने वाला है; इसलिए हे जिनेश ! हमारी स्तुति को स्वीकार कीजिए :—

मनसिजशत्रुमजय्यमलक्ष्यम् विरतिमयी शितहेति-ततिस्ते ।।
समरभरे विनिपातयतिस्म त्वमसि ततो भुवनैकगरिष्ठः ॥२३—१२७॥

हे भगवान ! आपने दूसरों के द्वारा अजेय तथा अदृश्यरूप युक्त कामशत्रु को चरित्ररूपी तीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा युद्ध में नष्ट कर दिया है, अतएव आप त्रिभुवन में अद्वितीय तथा श्रेष्ठ गुरु हैं ।

जितमदनस्य तवेव महत्वं वपुरिदमेव हि शास्ति मनोज्ञं;
न विकृतिभाग्न कटाक्षनिरीक्षा परम-विकारमनाभरणोद्‌घम् ॥२३—१२८॥

हे ईश ! जो कभी भी विकार को नहीं प्राप्त होता है, न कटाक्ष से देखता है, जो विकार रहित है और आभूषणों के बिना सुशोभित होता है ऐसा यह आपका प्रत्यक्ष नयनगोचर सुन्दर शरीर ही कामदेव को जीतने वाले आपके महत्व को प्रगट करता है ।

त्वं मित्रं त्वमसि गुरुस्त्वमेव भर्ता ।
त्वं स्रष्टा भुवनपिता-महस्त्वमेव ।
त्वां ध्यायन् अमृतिसुखं प्रयाति जन्तुः ।
त्रायस्व त्रिजगदिदं त्वमद्य पातात् ॥२३—१४३॥

हे प्रभो ! इस जगत् में आपही प्राणिमात्र के मित्र हैं । आप ही गुरु हैं । आप ही स्वामी हैं । आपही विधाता हैं । आप जगत् के पितामह हैं । आपका ध्यान करनेवाला जीव अमृत्यु के आनन्द को प्राप्त करता है । इसलिए हे देवाधिदेव भगवन् ! आज आप तीन लोकों के जीवों की संसार-सिंधु में पतन से रक्षा कीजिए ।

यह स्तुति मुख्य मुख्य इन्द्रों ने (भवनवासी १०, व्यंतर ८, ज्योतिषी २ और कल्पवासी १२) सुर, असुर, मनुष्य, नागेन्द्र, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व तथा चारणों के समूह के साथ की थी। इसके अनन्तर सब यथायोग्य स्थानों में बैठ गए।

अद्भुत प्रभाव

भगवान की धर्मसभा में उनके अद्भुत प्रभाव के कारण सभी जीवों को अवकाश मिलता था। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

कोट्ठाणं खेत्तादो जीवक्खेत्तं फलं असंखगुणं।
होदूण अपुट्ठत्तिहु जिणमाहप्पेण ते सव्वे ॥४—९३०॥

समवशरण में स्थित जीवों का क्षेत्रफल कोठों (सभाओं) के क्षेत्रफल से यद्यपि असंख्यात गुणा है, तो भी सब जीव जिन भगवान के माहात्म्यवश परस्पर में अस्पृष्ट अर्थात् पृथक्-पृथक् रूप से बैठे हुए रहते हैं।

संखेज्जजोयणाणि बालप्पहुदी पवेस-णिग्गमणे।
अंतोमुहुत्तकाले जिणमाहप्पेण गच्छंति ॥४—९३१॥

जिनेन्द्र भगवान के प्रभाववश बालक आदि जीव प्रवेश करने तथा निकलने में अंतर्मुहूर्तकाल के भीतर संख्यात योजन चले जाते हैं।

मिच्छाइट्ठि-अभव्वा तेसुमसण्णी न होंति कइआइं।
तहय अणज्झवसाया संदिद्धा विविह-विवरीदा ।; ९३२॥

इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते। अनध्यवसाय युक्त, संदेह युक्त तथा विविध विपरीतताओं सहित जीव भी नहीं रहते हैं।

आतंक-रोग-मरणुप्पत्तीओ वेरकामबाधाओ।
तण्हा-छुह-पीडाओ जिणमाहप्पेग ण हवंति ॥९३९॥

जिनभगवान की महिमा के कारण वहां जीवों को आतंक,

रोग, मरण, उत्पत्ति, वैर, कामबाधा, पिपासा तथा क्षुधा की पीड़ा नहीं होती है। मुनिसुव्रतकाव्य में लिखा है :—

मिथ्यादृशः सदसि तत्र न संति मिश्राः।
सासादनाः पुनरसंज्ञिवदप्यभव्याः॥
भव्याः परं विरचितांजलयः सुचित्ताः।
तिष्ठंति देववदनाभिमुखं गणोर्व्याम् ॥१०--४६॥

जिन भगवान के उस समवशरण में अभव्य जीव, मिथ्यादृष्टि, सासादन गुणस्थानवाले तथा मिश्र गुणस्थानवाले जीव नहीं रहते हैं। द्वादश सभा में निर्मल चित्तवाले भव्य जीव ही बद्धांजलि होकर जिनेन्द्र के समक्ष रहते हैं।

वापिकाओं का चमत्कार

समवशरण में नंदा, भद्रा, जया तथा पूर्णा ये चार वापिकाएँ होती हैं। जिनेन्द्र भगवान का अद्भुत प्रभाव उन वापिकाओं में दिखता है। हरिवंशपुराण में कहा है :—

ताः पवित्रजलापूर्ण-सर्वपाप-रुजाहराः।
परापरभवाः सप्त दृश्यंते यासु पश्यताम् ॥५७--७४॥

वे वापिकाएँ पवित्र जल से परिपूर्ण हैं तथा समस्त पाप और रोग को हरण करती हैं। उनमें देखनेवालों को अपने भूत तथा आगामी सप्तभव दिखाई पड़ते हैं।

स्तूप समूह

भगवान के समवशरण में स्तूपों का समुदाय बड़ा मनोरम होता है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है; भवनभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य में जिन तथा सिद्धों की प्रतिमाओं से व्याप्त नौ-नौ स्तूप होते हैं। (४—८४४) ये स्तूप छत्र के ऊपर छत्र से संयुक्त, फहराती हुई ध्वजाओं के समूह से चंचल अष्ट मङ्गल द्रव्यों से सहित और दिव्य रत्नों से निर्मित होते हैं। एक-एक स्तूप के बीच

में मकर के आकार के सौ तोरण होते हैं। भव्य जीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन तथा प्रदक्षिणा करते हैं (८४५—८४७)

भव्य-कूट का चमत्कार

हरिवंशपुराण से ज्ञात होता है कि भव्यकूट नामके स्तूपों का दर्शन भव्यजीव ही कर सकते हैं। उस भव्यकूट के द्वारा भव्य अभव्य का भेद स्पष्ट ही जाता है। यह तीर्थंकर भगवान का दिव्य प्रभाव है, जो ऐसी कल्पनातीत बातें वहाँ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं।

भव्यकूटाख्या स्तूपा भास्वत्कूटास्ततोऽपरे।
यानभव्या न पश्यंति प्रभावांधीकृतेक्षणाः ॥५७—१०४॥

भव्यकूट तथा भास्वत्कूट नाम के स्तूप होते हैं। भव्यकूट के तेज के कारण अभव्यों की दृष्टिबन्द हो जाती है, इससे वे उनका दर्शन नहीं कर पाते हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि स्तूप-पर्यन्त अभव्य जीव भी समवशरण में पहुँच सकते हैं। वे भगवान के समीप पहुँचकर कोठों में नहीं बैठते हैं। जीव के भावों की विचित्रता के कारण इस प्रकार का आश्चर्यप्रद परिणाम होता है। वस्तु का स्वभाव अपूर्व होता है। वह तर्क के अगोचर कहा गया है।

प्रश्न

समवशरण के महान प्रभाव को ध्यान में रखकर कभी-कभी यह शंका उत्पन्न होती है कि महावीर भगवान के समकालीन गौतम बुद्ध पर भगवान के समवशरण का दिव्य प्रभाव क्यों नहीं पड़ा? दोनों राजगिरि में रहे हैं।

समाधान

इस प्रश्न का उत्तर सरल है। भगवान का समवशरण पृथ्वीतल पर स्थित सभा-भवन के समान होता, तो बुद्ध का वहाँ पहुंचना संभव था, किन्तु आगम से ज्ञात होता है कि समवशरण भूतल से

पांच हजार धनुष अर्थात् बीस हजार हाथ प्रमाण ऊंचाई पर रहता है। यह पांच मील, पांच फर्लांग, सौ गज प्रमाण है। तिलोयपण्णत्ति में कहा भी है :—

जादे केवलणाणे परमोरालं जिणाण सव्वाणं।
गच्छदि उवरिं चावा पंचसहस्साणि वसुहाओ ॥४—७०५॥

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण जिनेन्द्रों का परमौदारिक शरीर पृथ्वी से पांच हजार धनुष प्रमाण ऊपर चला जाता है। दिव्य प्रभाववश अत्यंत शीघ्र भव्य जीव बीस हजार प्रमाण सीढ़ियों पर चढ़कर समवशरण में सर्वज्ञ देव के दर्शनार्थ जाते हैं, किन्तु जिनका संसार परिभ्रमण शेष है तथा मिथ्यात्व का जिनके तीव्र उदय है ऐसे जीव समवशरण की ओर जाने की कामना ही नहीं करते हैं। अनेक जीव तो समवशरण को इन्द्रजाल कहते हुए सरल जीवों को बहकाते फिरते हैं। इस प्रकार विचार करने पर बुद्धादि का विशेष कर्मोदय के कारण समवशरण में न जाना पूर्ण स्वाभाविक दिखता है। स्वयं एक मत-संचालक के मन में अपने पक्षका विशेष मोह बस जाने से प्रतिपक्षी के वैभव देखने का मन नहीं होता। कुछ ऐसी ही मनोदशा बुद्ध को समवशरण में जाने से रोकती होगी। प्रतिद्वंद्वी की चित्त-वृत्ति संतुलित नहीं रहती। वहाँ हृदय कषाय से अनुरंजित रहता है। कषाय की सामर्थ्य अद्भुत होती है। यही कारण है कि बुद्ध की दृष्टि एकान्त पक्ष से बच न सकी।

सीढ़ियां

सुर-णर-तिरियारोहण-सोवाण चउदिसासु पत्तेक्कं।
बीस-सहस्सा गयणे कणयमया उड्ढउड्ढम्मि ॥४—७२०॥

सुर, नर तथा तिर्यंचों के चढ़ने के लिये चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में ऊपर-ऊपर सुवर्णमय बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं। वे सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची और एक हाथ विस्तार वाली थीं।

आगमन का आधार

शंकाशील व्यक्ति सोचता है, समवशरण में जहाँ देखो वहाँ रत्नों मणियों, सुवर्णादि बहुमूल्य वस्तुओं का उपयोग हुआ है, यह कैसे संभव हो सकता है? जिस समय तीर्थंकर भगवान साक्षात् विराजमान रहते हैं, उस समय तो 'हाथ कंकण को आरसी क्या' के नियमानुसार प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा शंका का निवारण हो जाता है। आज जब यहाँ तीर्थंकर का अभाव है, तब उन लोकोत्तर बातों की प्रामाणिकता का मुख्य आधार है आगम की वाणी।

आगम बताता है कि तेरहवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है। समस्त पण्य प्रकृतियों में तीर्थंकर प्रकृति का सर्वोपरि स्थान है। वह प्रकृति बड़ी विलक्षण है। उसके प्रभाव से सभी बातें तीर्थंकर में चमत्कार पूर्ण प्रतीत होती हैं। वास्तव में यह दयामयी जीवन वृत्ति का चमत्कार है। अहिंसा की सामर्थ्य तथा महिमा का यह ज्ञापक है।

जिन सिद्धान्तों में शुकवत् दया का पाठ किया जाता है, किन्तु जीव वध का त्याग नहीं किया जाता, वे दया रूपी कल्पतरू के अलौकिक फलों की क्या कल्पना कर सकते हैं? युक्ति और सद्विचार द्वारा भी तीर्थंकरत्व का परिपाक उसकी बीज रूप भावनाओं को ध्यान में रखने पर स्वाभाविक लगता है। योग तथा तपस्या का अवलंबन लेकर आत्मा तीन लोक में अपूर्व कार्य करने में समर्थ होती है। रागी द्वेषी, मोही तथा पाप पंक में निमग्न प्राणी के द्वारा पुद्गल का कुत्सित खेल देखने में आता है, वही पुद्गल वीतराग का निमित्त पाकर अत्यन्त मधुर, प्रिय तथा अभिवंदनीय वैभव और विभूति का दृश्य दिखाता है।

पवित्रता का प्रभाव

अंतःकरण में पवित्रता की प्रतिष्ठा होने पर बाह्य प्रकृति दासी के समान पुण्यवान की सेवा करती है। भगवान के गर्भ में आने

के छह माह पूर्व से इन्द्र सदृश प्रतापी समर्थ, वैभव के अधीश्वर भी प्रभु की सेवार्थ आते हैं। असंख्य देवी देवता सेवा करते हैं, भक्ति करते हैं; इसका कारण तीव्रतम पुण्योदय है। जैसे चुंबक के द्वारा लोहा आकर्षित होता है, इसी प्रकार इस तीर्थंकर प्रकृति के उदय युक्त आत्मा की आकर्षण शक्ति के कारण श्रेष्ठ निधियाँ तथा विभूतियाँ स्वयं समीप आती हैं और अपना मधुरतम मोहन प्रदर्शन करती हैं। अतः तत्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु की लोकोत्तरता के विषय में प्रगाढ़ श्रद्धा द्वारा अपने सम्यक्त्व को उज्ज्वल रखता है।

अतिशय

तीर्थंकर भक्ति में भगवान के चौतीस अतिशय कहे गए हैं। उनके लिए 'चउतीस-अतिसय-विसेस-संजुत्ताणं' पद का प्रयोग आया है। अतएव उनके विषय में विचार करना उचित है। चौतीस अतिशयों में जन्म संबंधी दश अतिशयों का वर्णन किया जा चुका है। फिर भी उनका नामोल्लेख उचित है।

जन्म के अतिशय[1]

अतिशय रूप, सुगंधतन, नांहि पसेव, निहार।
प्रिय हित वचन अतुल्यबल रुधिर स्वेत आकार॥
लक्षण सहसरु आठ तन, समचतुष्क संठान।
वज्रवृषभनाराच जुत ये जन्मत दशजान॥

तीर्थंकरों के केवलज्ञान होने पर घातिया कर्मक्षय करने से

---

(१) भगवान के दस जन्मातिशयों का पूज्यपाद स्वामी ने नंदीश्वर भक्ति में इस प्रकार वर्णन किया है :—

नित्यं निः स्वेदत्वं निर्मलता क्षीरगौररुधिरत्वं च।
स्वाद्याकृतिसंहनने सौरुप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम्॥१॥
अप्रमितवीर्यता च प्रिय-हित-वादित्व मन्यदमितगुणस्य।
प्रथिता दश ख्याता स्वतिशयधर्मा स्वयंभुवो देहस्य॥२॥

ये दश अतिशय उत्पन्न होते हैं :—

गव्यूतिशतचतुष्टय-सुभिक्षता-गगनगमन-मप्राणिवधः ।
भुक्त्युपसर्गाभाव-श्चतुरास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥३॥
अच्छायत्व-मपक्ष्मस्पंदश्च समप्रसिद्ध-नखकेशत्वं ।
स्वतिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा भवंति तेपि दशैव ॥४॥

नन्दीश्वर भक्ति

(१) चार सौ कोश भूमि में सुभिक्षता । श्लोक में आगत गव्यूति का अर्थ आचार्य प्रभाचन्द्र ने एक 'कोस गव्यूतिः क्रोशमेकं' किया है । तीर्थंकर देव के दयामय प्रभाव से सभी संतुष्ट, सुखी तथा स्वस्थता संपन्न होते हैं । इन जिनेन्द्र देव के आत्म-प्रभाव से वनस्पति आदि को स्वयमेव परिपूर्णता प्राप्त होने से पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण हो जाती है । श्रेष्ठ अहिंसामयी एक आत्मा का यह अपूर्व प्रभाव है । इससे यह अनुमान स्वयं निकाला जा सकता है कि पापी तथा जीव वध में तत्पर रहने वालों के चारों ओर दुर्भिक्षता आदि का प्रदर्शन रोती हुई दुःखी पृथ्वी के प्रतीक रूप है ।

(२) आकाश में गमन होना । योग के कारण भगवान के शरीर में विशेष लघुता (हल्कापन) आ जाती है, इससे उनको शरीर की गुरुता के कारण भूतल पर अवस्थित नहीं होना पड़ता है । पक्षियों में भी गगन गमनता पाई जाती है, किन्तु इसके लिए पक्षियों को अपने पक्षों का (पंखों का) संचालन करना पड़ता है ।

केवली भगवान का शरीर स्वयमेव पृथ्वी का स्पर्श नहीं करके आकाश में रहता है । उनका गगन-गमन देखकर यह स्पष्ट हो जाता है, कि इतर संसारी जीवों के समान अब ये योगीन्द्र-चूड़ामणि भूतल के भार स्वरूप नहीं हैं ।

दया का प्रभाव

(३) अप्राणिवध अर्थात् अर्हन्त के प्रभाव से उनके चरणों के समीप आने वाले जीवों को अभयत्व अर्थात् जीवन प्राप्त होता है ।

तीर्थंकर भगवान अहिंसा के देवता हैं। उनके समीप में हिंसा के परिणाम भाग जाते हैं और क्रूर प्राणी भी करुणामूर्ति बनता है। क्रूरता का उदाहरण रौद्रमूर्ति सिंह सिंहासन के बहाने से इन दया के देवता को अपने ऊपर धारण करता हुआ प्रतीत होता है जिससे वह दोषमुक्त हो जावे।

भव्य कल्पना

इस सम्बन्ध म उत्तरपुराण की यह उत्प्रेक्षा बड़ी भव्य तथा मार्मिक प्रतीत होती है। चंद्रप्रभ भगवान के सिंहासन को दृष्टि में रख आचार्य कहते हैं :—

> क्रौर्यधुर्येण शौर्येण यदंहः संचितं परम्।
> सिंहै हंतुं स्वजातै र्वा व्यूढं तस्यासनं व्यधात् ॥५४—५५॥

उन चंद्रप्रभ जिनेन्द्र का सिंहासन ऐसा शोभायमान होता था, मानो क्रूरताप्रधान पराक्रम के द्वारा संचित पापों के क्षय के हेतु वे सिंह उनके आसन में लग गए हों।

इसलिए श्रेष्ट अहिंसा के शिखर पर स्थित इन तीर्थंकर प्रभु के प्रसाद से प्राणियों को अपूर्व परित्राण प्राप्त होता है।

(४) केवली भगवान के कवलाहार का अभाव पाया जाता है। उनकी आत्मा का इतना विकास हो चुका है, कि स्थूल भोजन द्वारा उनके दृश्यमान देह का संरक्षण अनावश्यक हो गया है। अब शरीर रक्षण के निमित्त बलप्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का आगमन बिना प्रयत्न के हुआ करता है।

(५) भगवान के घातिया कर्म का क्षय होने से उपसर्ग का बीज बनने वाला असाता वेदनीयकर्म शक्ति शून्य बन जाता है, इसलिए केवलज्ञान की अवस्था में भगवान पर किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होता।

महत्व की बात

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब प्रभु के शरण में आने वाला जीव यम के प्रचंड प्रहार से बच जाता है; तब उन सर्वज्ञ जिनेन्द्र पर दुष्टव्यंतर, क्रूर मनुष्य अथवा हिंसक पशुओं द्वारा संकट का पहाड़ पटका जाना नितांत असंभाव्य है। जो लोग भगवान पर उपसर्ग होना मानते हैं, वे वस्तुतः उनके अनंतसुखी तथा केवलज्ञानी होने की अलौकिकता को बिलकुल भुला देते हैं।

चतुराननपने का रहस्य

(६) समवशरण में भगवान का मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रहता है, किन्तु उनके चारों ओर बैठने वाले बारह सभा के जीवों को ऐसा दिखता है कि भगवान का मुख चारों दिशा में ही हैं। अन्य संप्रदाय में जो ब्रह्मदेव को चतुरानन कहने की पौराणिक मान्यता है, उसका वास्तव में मूल बीज परम-ब्रह्म रूप सर्वज्ञ जिनेन्द्र के आत्म तेज द्वारा समवशरण में चारों दिशाओं में पृथक् पृथक् रूप से उन प्रभु के मुख का दर्शन होना है।

(७) भगवान सर्व विद्या के ईश्वर कहे जाते हैं, क्योंकि वे सर्व पदार्थों को ग्रहण करने वाली कैवल्य ज्योति से समलंकृत हैं। आचार्य प्रभाचंद ने द्वादशांग रूप विद्या को सर्वविद्या शब्द के द्वारा ग्रहण किया है। उस विद्या के मूलजनक ये जिनराज प्रसिद्ध हैं। टीकाकार के शब्द ध्यान देने योग्य हैं :—

"सर्व-विद्येश्वरता—सर्वविद्या द्वादशांग-चतुर्दशपूर्वाणि तासां स्वामित्वं। यदि वा सर्वविद्या केवलज्ञानं तस्या ईश्वरता स्वामिता" (क्रियाकलाप पृ० २४०)

(८) श्रेष्ट तपश्चर्या रूप अग्नि में भगवान का शरीर तप्त हो चुका है। केवली बनने पर उनका शरीर निगोदिया जीवों से रहित हो गया है।[१] वह स्फटिक सदृश बन गया है, मानो शरीर भी

१—पुढवीआदि चउण्हं केवलिआहारदेवणिरयंगा।
अपदट्ठिदा–णिगोदहि पदिट्ठिदंगा हवे सेसा॥

—गोम्मटसारजीवकाण्ड २००

आत्मा की निर्मलता का अनुकरण कर रहा है। इससे भगवान के शरीर की छाया नहीं पड़ती है। राजवार्तिक में प्रकाश को आवरण करने वाली छाया है 'छाया प्रकाशावरणनिमित्ता' (पृ० २३३) यह लिखा है। भगवान का शरीर प्रकाश का आवरण न कर स्वयं प्रकाश प्रदान करता है। उनका शरीर सामान्य मानव का शरीर नहीं है।

जिस शरीर के भीतर सर्वज्ञ सूर्य विद्यमान है, वह तो प्राची दिशा के समान प्रभात में स्वयं प्रकाश परिपूर्ण दिखेगा। इस कारण भगवान के शरीर की छाया न पड़ना कर्मों की छाया से विमुक्त तथा निर्मल आत्मा के पूर्णतया अनुकूल प्रतीत होती है।

(९) अपक्ष्मस्पंदता अर्थात् नेत्रों के पलकों का बंद न होना। शरीर में शक्तिहीनता के कारण नेत्र पदार्थों को देखते हुए क्षण भर विश्रामार्थ पलक बन्द कर लिया करते हैं। अब वीर्यान्तराय कर्म का पूर्ण क्षय हो जाने से ये जिनेन्द्र अनंत वीर्य के स्वामी बन गए हैं। इस कारण इनके पलकों में निर्बलता के कारण होने वाला बन्द होना, खोलना रूप कार्य नहीं पाया जाता है। दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने से निद्रादि विकारों का अभाव हो गया है, अतः सरागी देवों के समान इन जिनदेव को निद्रा लेने के लिए नेत्रों के पलक बन्द करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

स्वामी समन्तभद्र ने कहा है[1] कि जगत् के जीव अपनी जीविका, काम सुख तथा तृष्णा के वशीभूत हो दिन भर परिश्रम से थक कर रात्रि को नींद लेते हैं, किन्तु जिनेन्द्र भगवान् सदा प्रमाद रहित होकर विशुद्ध आत्मा के क्षेत्र में जागृत रहते हैं। इस कथन के प्रकाश में भगवान के नेत्रों के पलकों का न लगना उनकी श्रेष्ठ स्थिति के प्रतिकूल नहीं है।

---

(१) स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य नक्तं दिवमप्रमत्तवानजागरेवात्म-विशुद्धवर्त्मनि ॥२८॥
—स्वयंभूस्तोत्र

(१०) सम-प्रसिद्ध-नखकेशत्व—भगवान् के नख और केश वृद्धि तथा ह्रास शून्य होकर समान रूप में ही रहते हैं। प्रभाचन्द्र आचार्य ने टीका में लिखा है—"समत्वेन वृद्धि-ह्रासहीनतया प्रसिद्धा नखाश्च केशाश्च यस्य देहस्य तस्य भावस्तत्त्वं" (पृ० २४७) भगवान का शरीर जन्म से ही असाधारणता का पुंज रहा है। आहार करते हुए भी उनके नीहार का अभाव था। केवली होने पर कवलाहार रूप स्थूल भोजन ग्रहण करना बन्द हो गया। अब उनके परम पुण्यमय देह में ऐसे परमाणु नहीं पाए जाते जो नख और केश रूप अवस्था को प्राप्त करें। शरीर में मल रूपता धारण करने वाले परमाणुओं का अब आगमन ही नहीं होता। इस कारण नख और केश न बढ़ते हैं और न घटते ही हैं।

देवकृत अतिशय

जिनेन्द्र भगवान के देवकृत चतुर्दश अतिशय उत्पन्न होते हैं।[1] (१) दशों दिशायें निर्मल हो गई थीं। (२) आकाश मेघ-पटल रहित हो गया था। (३) पृथ्वी धान्यादि से सुशोभित हो गई थी। इस विषय में महापुराणकार कहते हैं।

परिनिष्पन्नशाल्यादि-सस्यसंपन्मही तदा।
उद्भूतहर्ष-रोमांचा स्वामिलाभादिवाभवत्॥२५—२६६।

---

१ देवकृत चौदह अतिशय इस प्रकार हैं:—

देवरचित हैं चारदश, अर्धमागधी भाष।
आपसमाहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश॥
होत फूल फल ऋतु सबैं, पृथिवी काच समान।
चरण कमल तल कमल है, नमतैं जय जय बान॥
मन्द सुगंध बयारि पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
भूमि विषैं कण्टक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि॥
धर्मचक्र आगे रहै, पुनि वसु मंगलसार।
अतिशय श्रीअरहंतके, ये चौतीस प्रकार॥

भगवान के विहार के समय पके हुए शालि आदि धान्यों से सुशोभित पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी, मानो स्वामी का लाभ होने से उसे हर्ष के रोमांच ही उठ आए हों। (४) सुगंधित वायु बह रही थी (५) मेघकुमार जाति के देवों के द्वारा गंधयुक्त जल की वृष्टि होती थी (६) पृथ्वी भी एक योजन पर्यन्त दर्पण के समान उज्ज्वल हो गई थी।

कमल रचना

(७) भगवान के विहार करते समय सुगंधित तथा प्रफुल्लित २२५ कमलों की रचना देवगण करते थे। उनके चरणों के नीचे एक, उनके आगे सात, पीछे सात इस प्रकार पंद्रह सुवर्णमय कमल थे। आकाशादि स्थानों में निर्मित सुवर्ण कमलों की संख्या २२५ कही गई है। आचार्य प्रभाचंद ने लिखा है "अष्टसु दिक्षु तदन्तरेषु चाष्टसु सप्त-सप्तपद्मानि इति द्वादशोत्तरमेकं शतं। तथा तदंतरेषु षोडशसु सप्तसप्तेति अपरं द्वादशोत्तरशतं, पादन्यासे पद्मं चेति पंच-विंशत्यधिकं शतद्वयम्।" (क्रियाकलापटीका पृ० २४९ श्लोक ९ नंदीश्वरभक्ति की संस्कृत टीका) आठ दिशाओं में (चार दिशाओं तथा चार विदिशाओं में) तथा उनके अष्ट अंतरालों में सप्त सप्त कमलों की रचना होने से एक सौ बारह कमल हुए। उन सोलह स्थानों के भी सोलह अंतरालों में पूर्ववत् सात-सात कमल थे। इस प्रकार एक सौ बारह कमल और हुए। कुल मिलकर २२४ हुए। "पादन्यासे च एकं"—चरण को रखने के स्थान के नीचे एक कमल था। इस प्रकार २२५ कमलों की रचना होती है।

विहार की मुद्रा

इस कथन पर विचार करने से यह विदित होता है कि भगवान का विहार पद्मासन मुद्रा से नहीं होता है। पैर के न्यास अर्थात् रखने के स्थान पर एक कमल होता है, यहां 'न्यास' शब्द

महत्वपूर्ण है। यदि पद्मासन मुद्रा से गमन होता तो एक चरण के नीचे एक कमल की रचना का उल्लेख नहीं होता।

पद्मासन नाम की विशेष मुद्रा से प्रभु का विहार नहीं होता है, किन्तु यह सत्य है कि प्रभु के चरण पद्मों को आसन बनाते हुए विहार करते हैं। 'पद्मासन से' वे विहार नहीं करते, किन्तु 'पद्मासन पर' अर्थात् पद्मरूपी आसन पर वे विहार करते हैं, यह कथन पूर्णतया सुसङ्गत है।

परम स्थान के प्रतीक

सप्त सप्त पद्मों की रचना सम्भवतः सप्त परमस्थानों की प्रतीक लगती है। धर्म का आश्रय ग्रहण करने वाला सप्त परम स्थानों का स्वामित्व प्राप्त करता है। महापुराण में सप्त परम स्थानों के नाम इस प्रकार कहे गए हैं :—

सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परं निर्वाणमित्यपि ॥३८—६७॥

भगवान विहार करते समय चरणों को मनुष्य के समान उठाते थे, इसका निश्चय महापुराण के इन वाक्यों से भी होता है, यथा :—

भगवच्चरण-न्यास-प्रदेशेऽधिनभः स्थलम्।
मृदुःस्पर्शमुदारश्रि पंकजं हममुद्बभौ ॥२५—२७३॥

भगवान के चरणन्यास अर्थात चरण रखने के प्रदेश में, आकाशतल में कोमल स्पर्श वाले तथा उत्कृष्ट शोभा समन्वित, सुवर्णमय कमल समूह शोभायमान हो रहा था।

यतो विजह्रे भगवान् हेमाब्ज-न्यस्त-सत्क्रमः।
धर्मामृताम्बु-संवर्षैस्ततो भव्याः धृतिं दधुः ॥२५—२८२॥

सुवर्णमय कमलों पर पवित्र चरण रखने वाले वीतराग प्रभु ने जहाँ-जहाँ से विहार किया, वहाँ वहाँ के भव्यों ने धर्मामृत रूपी जल की वर्षा से परम सन्तोष प्राप्त किया था।

कमल पर उत्प्रेक्षा

भगवान के चरणों के नीचे जो कमलों की रचना होती थी; उसके विषय में धर्मशर्माभ्युदय में बड़ा सुन्दर तथा मनोरम कथन किया गया है :—

> अनपायामिव प्राप्तुं पादच्छायां नभस्तले ।
> उपकण्ठे लुलोठास्य पादयोः कमलोत्करः ॥१६९॥
> यत्तदा विदधे तस्य पादयोः पर्युपासनम् ।
> अद्यापि भाजनं लक्ष्म्या स्तेनायं कमलाकरः ॥१७०, २१ सर्ग॥

भगवान के चरणयुगल के समीप में आकर कमलों के समुदाय ने नभोमंडल में प्रभु के चरणों की अविनाशी छाया का लाभ लेने के लिए ही वहाँ निवास किया था ।

कमलों ने भगवान की विहार वेला में उनके चरणों की जो समाराधना की थी, प्रतीत होता है इसी कारण वे कमलवृन्द लक्ष्मी के द्वारा निवासभूमि बनाए गए हैं ।

(८) आकाश में 'जय-जय' ऐसी ध्वनि होती थी (९) संपूर्ण जीवों को परम आनंद प्राप्त होता था । हरिवंश पुराण में कहा है :—

> विहरत्युपकाराय जिने परमबांधवे ।
> बभूव परमानंदः सर्वस्य जगतस्तदा ॥३—२१

परम बन्धु जिनेन्द्र देव के जगत् कल्याणार्थ विहार होने पर समस्त जगत् को परम आनंद प्राप्त होता था ।

(१०) पृथ्वी कंटक, पाषाण, कीटादि रहित हो गई थी ।

धर्म-चक्र

(११) भगवान के आगे एक सहस्र आरों वाला तथा अपनी दीप्ति द्वारा सूर्य का उपहास करता हुआ धर्मचक्र शोभायमान होता था । हरिवंशपुराण में कहा है :—

> सहस्रारं हसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युतिः ।
> धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरभात् ॥३—२९॥

तिलोयपण्णत्ति में धर्मचक्रों के विषय में इस प्रकार कहा है :—

जक्खिंद-मत्थएसुं किरणुज्जल-दिव्य-धम्मचक्काणि ।
दट्ठूण संठयाइं चत्तारि-जणस्स अच्छरिया ।।४—६१३।।

यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित तथा किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्म-चक्रों को देखकर लोगों को आश्चर्य होता है ।

(१२) संपूर्ण विरोधी जीवों में भी आपस में मैत्री उत्पन्न हो गई थी । हरिवंश पुराण में लिखा है :—

अन्योन्य-गंधमासोढुमक्षमाणामपि द्विषाम् ।
मैत्री बभूव सर्वत्र, प्राणिनां धरणीतले ।।३—१७।।

जो विरोधी जीव एक दूसरे की गंध भी सहन करने में असमर्थ थे, सर्वत्र पृथ्वी तल पर उन प्राणियों में मैत्री भाव उत्पन्न हो गया था ।

जीवों में विरोध दूर होकर परस्पर में प्रीति भाव उत्पन्न कराने में प्रीतिकर देव तत्पर रहते थे ।

(१३) ध्वजा सहित अष्ट मंगल-द्रव्य युक्त भगवान का विहार होता था । भृंगार, कलश, दर्पण, व्यजन (पंखा), ध्वजा, चामर, छत्र, तथा सुप्रतिष्ठ (स्वस्तिक) ये आठ मंगल द्रव्य कहे गए हैं । त्रिलोकसार में कहा है :—

भृंगार-कलश-दर्पण-वीजन-ध्वज-चामरातपत्रमथ ।
सुप्रतिष्ठं मंगलानि च अष्टाधिकशतानि प्रत्येकम् ।।९८९।।

ये प्रत्येक १०८ होते हैं ।

(१४) सर्वार्धमागधी वाणी द्वारा जीवों को शांति प्राप्त होती थी । हरिवंशपुराण में लिखा है :—

अमृतस्येव धारां तां भाषां सर्वार्धमागधीं ।
पिबन् कर्णपुटैर्जैनी ततर्प त्रिजगज्जनः ।।३—१६।।

जिनेन्द्र भगवान की सर्वार्धमागधी भाषा को अमृत की धारा के समान कर्ण-पुटों से रस पान करते हुए त्रिलोक के जीव संतुष्ट हो रहे थे।

भगवान की दिव्यध्वनि मागध नाम के व्यंतर देवों के निमित्त से सर्व जीवों को भलीप्रकार सुनाई पड़ती थी। आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित नंदीश्वर भक्ति में इस अर्धमागधी भाषा का नाम सार्वार्धमागधी लिखा है—"सार्वार्धमागधीया भाषा।" टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है "सर्वेभ्यो हिता सार्वा। सा चासौ अर्धमागधीया च।" सबके लिए हितकारी को सार्व कहते हैं। वह अर्धमागधी भाषा सर्वहितकारी थी।

प्रातिहार्य

तीर्थंकर भगवान समवशरण में अष्ट प्रातिहार्यों से समलंकृत हैं। 'अट्ठपाडिहेरसहियांणं' पद तीर्थंकर भक्ति में आया है। उन प्रातिहार्यों की अपूर्व छटा का जैन ग्रंथों में मधुर वर्णन पाया जाता है।

पुष्प-वर्षा

(१) पुष्प वृष्टि पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है। आकाश से सुवास युक्त पुष्पों की वर्षा हो रही थी। इस विषय में धर्मशर्माभ्युदय काव्य का यह कथन बड़ा मधुर और मार्मिक लगता है।

वृष्टिः पौष्पी सा कुतोऽभून्नभस्तः, संभाव्यंते नात्र पुष्पाणि यस्मात्।
यद्वा ज्ञातं प्रागनंगस्य हस्तादर्हद्भीत्या तत्र बाणानिपेतुः ॥२०—६४॥

आकाश से यह पुष्प की वर्षा किस प्रकार हुई? वहाँ आकाश में पुष्पों के रहने की संभावना नहीं है; प्रतीत होता है कि अरहंत भगवान के भय से शीघ्र ही काम के हाथ से उसके पुष्पमय बाण गिर पड़े।

दुंदुभि नाद

(२) आकाश में देवों द्वारा दुंदुभि का मधुर शब्द चित्त को आनंदित करता था। महाकवि हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय में कहते हैं :—

क्वेयं लक्ष्मीः क्वेदृशं निस्पृहत्वं, क्वेदं ज्ञानं क्वास्त्यनौद्धत्यमीदृक्।
रे रे ब्रूत ग्राक्कुतीर्थ्या इतीव ज्ञाने भर्तुर्दुन्दुभिर्व्योम्न्यवादीत् ॥२०—६६॥

अरे! मिथ्यामत-वादियो! यह तो बताओ इस प्रकार की समवशरण की अनुपम लक्ष्मी कहाँ और भगवान की श्रेष्ठ निस्पृहता कहाँ! वे उस लक्ष्मी का स्पर्श भी नहीं करते। कहाँ इनका त्रिकालगोचर ज्ञान और कहाँ उनकी मद रहित वृत्ति? दुंदुभि का शब्द यह कथन करता हुआ प्रतीत होता है।

चमर

(३) भगवान के ऊपर चौसठ चामर देवों द्वारा ढारे जा रहे थे। वे चामर भगवान को प्रणाम करते हुए तथा उसके फल स्वरूप उन्नति को बत.ते थे। कल्य.ण मंदिर स्तोत्र में यही बात इन शब्दों में प्रगट की गई है :—

स्वामिन्! सुदूरमवनस्य समुत्पतंतो मन्ये वदंति शुचयः सुर-चामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुंगवाय, ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥२२॥

हे स्वामिन्! हमें यह प्रतीत होता है कि दूर से आकर आप पर ढारे गए पवित्र देवों कृत चामरों का समुदाय यह कहता है, कि जो भव्य समवशरण में विराजमान जिनेन्द्र देव को प्रणाम करते हैं, वे जीव पवित्र भाव युक्त होकर इन चामरों के समान ऊर्ध्वगति युक्त होते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

छत्र

(४) भगवान के छत्रत्रय अत्यंत रमणीय दिखते थे। उनके

विषय में आचार्य मानतुंग कहते हैं :—

छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त ।
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजाल-विवृद्ध शोभम् ।
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ।।३१।। भक्तामरस्तोत्र ।

हे भगवन ! चन्द्रमा के समान शोभायमान, सूर्य किरणों के संताप को दूर करने वाले आपके मस्तक के ऊपर विराजमान मोतियों के पुंज से जिनकी शोभा वृद्धि को प्राप्त हो रही है, ऐसे छत्रत्रय आपके तीन लोक के परमेश्वरपने को प्रगट करते हुए शोभायमान होते हैं ।

दिव्य ध्वनि

(५) दिव्यध्वनि के विषय में ये शब्द बड़े मार्मिक है :—

स्थाने गभीर-हृदयोदधिसंभवाया ।
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयंति ।
पीत्वा यतः परमसंमद-संगभाजो ।
भव्याः व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ।।२१।। कल्याणमंदिर स्तोत्र

हे जिनेन्द्र देव ! गंभीर हृदय रूप सिंधु में उत्पन्न हुई आपकी दिव्यवाणी को जगत अमृत नाम से पुकारता है । यह कथन पूर्ण योग्य है, क्योंकि भव्य जीव आपकी वाणी का कर्णेन्द्रिय के द्वारा रसपान करके अत्यंत आनंद युक्त होकर अजर-अमर पद को प्राप्त करते हैं ।

अशोक तरु

(६) अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान आदिनाथ प्रभु की मनोज्ञ छबि का मानतुंगाचार्य इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभातिरुपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त-तमोवितानम् ।
बिम्बं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति ।।२८।।

हे देव ! दैदीप्यमान किरणों के द्वारा अन्धकार पटल का नाश करने वाले, मेघ के समीपवर्ती सूर्य-बिंब के समान अत्यंत तेजयुक्त अशोक वृक्ष का आश्रय ग्रहण करने वाला आपका रूप अत्यंत शोभायमान होता है।

सिंहासन

(७) भक्तामर स्तोत्र में सिंहासन पर शोभायमान जिन-भगवान के विषय में कहा है :—

सिंहासने मणिमयूख-शिखा विचित्रे ।
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्-विलसदंशुलता-वितानम् ।
तुंगोदयाद्रिशिरसीव सहस्त्ररश्मे ।।२६।।

हे भगवन ! मणियों की किरण जाल से शोभायमान सिंहासन पर विराजमान सुवर्ण समान दैदीप्यमान आपका शरीर इस प्रकार सुन्दर प्रतीत होता है, जैसे उन्नत उदयाचल के शिखर पर नभोमंडल में शोभायमान किरणलता के विस्तार युक्त सूर्य का बिम्ब शोभायमान होता है ।

प्रभामंडल

भगवान के प्रभामण्डल की अपूर्व महिमा कही गई है।

जिनदेह-रुचामृताब्धि-शुचौ ।
सुर-दानव मर्त्य-जनः ददृशुः ।।
स्व-भवान्तर-सप्तकमात्तमुदो ।
जगतो बहुमंगलदर्पण के ।।२३—६७।। महापुराण

अमृत के समुद्र सदृश निर्मल और जगत को अनेक मंगल रूप दर्पण के समान भगवान के देह के प्रभामंडल में सुर, असुर तथा मानव लोग अपने सात सात भव देखते थे । तीन भव भूतकाल के, तीन भव भविष्यत काल के और एक भव वर्तमान का, इस प्रकार सात भवों का दर्शन प्रभु के प्रभामंडल में होता था ।)

(८) भामंडल के विषय में मानतुंग आचार्य ने लिखा है :—

शुंभत्प्रभावलय-भूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपंती।
प्रोद्यद्दिवाकर-निरन्तरभूरिसंख्या।
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्या ॥३४॥

हे आदिनाथ भगवान् ! परब्रह्म-स्वरूप आप के शोभायमान प्रभामंडल की प्रचुरदीप्ति तीनों जगत् में प्रकाशमान पदार्थों के तेज को तिरस्कृत करती हुई उदीयमान सूर्यों की एकत्रित विपुल संख्या को तथा चंद्रमा के द्वारा सौम्य रात्रि के सौन्दर्य को भी अपनी तेज के द्वारा जीतती है ।

अशोक-तरु

तिलोयपण्णत्ति में अष्ट महा प्रातिहार्यो का वर्णन करते हुए अशोक वृक्ष के विषय में यह विशेष कथन किया है :—

जेसिं तरुणमूले उप्पण्णं जाण केवलं णाणं।
उसहप्पहुदि-जिणाणं ते चिय असोयरुक्खत्ति ॥४—६१५॥

ऋषभादि तीर्थंकरों को जिन वृक्षों के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ वे ही उनके अशोक वृक्ष कहे गए हैं ।

चौबीस तीर्थंकरों के भिन्न-भिन्न अशोक वृक्ष हैं । ऋषभनाथ अजितनाथ आदि जिनेन्द्रों के क्रमशः निम्नलिखित अशोक वृक्ष कहे गए हैं :—

न्यग्रोध (वट) सप्तपर्ण (सप्तच्छद) शाल, सरल, प्रियंगु, प्रियंगु, शिरीष, नागवृक्ष, अक्ष (बहेड़ा) धूली (मालिवृक्ष) पलाश, तेंदू, पाटल, पीपल, दधिपर्ण, नन्दी, तिलक, आम्र, कंकेलि (अशोक) चंपक, वकुल, मेषशृंग, धव और शाल ये अशोकवृक्ष लटकती हुई मालाओं से युक्त और घंटादिक से रमणीय होते हुए पल्लव एवं पुष्पों से झुकी हुई शाखाओं से शोभायमान होते हैं । (४—६१६—६१८)

ऋषभादिक तीर्थंकरों के उपर्युक्त चौबीस अशोक वृक्ष बारह से गुणित अपने अपने जिन भगवान की ऊँचाई से युक्त शोभायमान होते हैं (गाथा ४—९१९) महापुराण में अशोकवृक्ष के विषय में लिखा है :—

मरकतहरितैः पत्रै मंणिमयकुसुमैश्चित्रैः।
मरुद्रुपविधुताः शाखाश्चिरमधृत महाशोकः ।।२३—३६।।

वह महाशोक वृक्ष मरकतमणि के बने हुए हरे हरे पत्ते और रत्नमय चित्र-विचित्र फूलों से अलंकृत था तथा मन्द-मन्द वायु से हिलती हुई शाखाओं को धारण कर रहा था। उस अशोक वृक्ष की जड़ वज्र की बनी हुई थी, जिसका मूलभाग रत्नों से दैदीप्यमान था। ऋषभनाथ भगवान का अशोक वृक्ष एक योजन विस्तार युक्त शाखाओं को फैलाता हुआ शोक रूपी अन्धकार को नष्ट करता था। महान आत्माओं के आश्रय से तुच्छ पदार्थों की भी महान प्रतिष्ठा होती है, इस विषय में यह अशोक वृक्ष सुन्दर उदाहरण है।

दिव्यध्वनि की विशेषता

भगवान के अष्ट प्रातिहार्यों में उनकी दिव्यध्वनि का मोक्षमार्ग की दृष्टि से अन्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तिलोयपण्णति में कहा है :—

छद्दव्व-णवयपत्थे पंचट्ठीकाय-सत्ततच्चाणि।
णाणाविह-हेदूंहि दिव्वझुणी भणइ भव्वाणं ।।४—९०५।।

यह दिव्यध्वनि भव्यजीवों को छह द्रव्य, नव पदार्थ, पंच अस्तिकाय तथा सप्त तत्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। यह दिव्यध्वनि अत्यंत मधुर, गंभीर तथा मृदु लगती है। यह एक योजन प्रमाण समवशरण में रहनेवाले भव्य जीवों को प्रतिबोध प्रदान करती है। यह जिनेन्द्रध्वनि कंठ, तालु आदि शब्दों को उत्पन्न करने वाले अंगों की सहायता बिना उत्पन्न होती है। इसे किसी भी भाषा के नाम से न कहकर ध्वनि मात्र शब्द द्वारा कहा गया है।

भाषा और ध्वनि

देवकृत अतिशयों में 'अर्ध मागधी भाषा' का उल्लेख आया है। दिव्यध्वनि का भगवान के अष्ट प्रातिहार्यों में कथन है।[1] भाषा और ध्वनि शब्द रूप से समान हैं, किन्तु उनमें भिन्नता भी है। ध्वनि व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की वाणी में सीमित नहीं होती। तीर्थंकर भगवान का उपदेश देव, मनुष्य, पशु आदि अपनी अपनी भाषाओं में समझते हैं, इसलिए प्रभु की देशना को भाषा-विशेष रूप न कह कर उसके अलौकिक प्रभाव के कारण दिव्य ध्वनि कहा गया है।

सार्वार्ध-मागधी-भाषा

नन्दीश्वर भक्ति में अर्धमागधी भाषा को 'सार्वार्धमागधीया भाषा' कहा है। सर्व के लिए हितकारी को सार्व कहा है।

मागध देव के सन्निधान होने पर जिनेन्द्र की वाणी को सम्पूर्ण जीव भली प्रकार ग्रहण करने में तथा उससे लाभ उठाने में समर्थ हो जाते हैं। आज वक्ता की वाणी को ध्वनिवाहक यन्त्र द्वारा दूरवर्ती श्रोताओं के पास पहुँचाया जाता है। इस यन्त्र की सहायता से वाणी समीप में अधिक उच्चस्वर से श्रवण गोचर होती है और कहीं उसका स्वर मन्द होता है। जिनेन्द्र की ध्वनि, प्रतीत होता है, मागध देवों के निमित से सभी जीवों को समान रूप से पूर्ण स्पष्ट और अत्यन्त मधुर सुनाई पड़ती है।

जिनेन्द्र देव से उत्पन्न दिव्यध्वनि रूपी जलराशि को मागध देव रूपी सहायकों के द्वारा भिन्न-भिन्न जीवों के कर्ण प्रदेश के समीप सरलता पूर्वक पहुँचाया जाता है। जैसे सरोवर का जल नल (जल-

---

(१) तरु अशोक के निकट में सिंहासन छविदार।
तीन छत्रसिर पर लसैं भामंडल पिछवार॥
दिव्यध्वनि मुखतैं खिरैं पुष्पवृष्टि सुर होय।
ढ़ोरैं चौसठ चमर जख, बाजैं दुंदुभि जोय॥

कल) के माध्यम से जनता के समीप जाता है और जनता उसे नल का पानी नाम प्रदान करती है । प्रतीत होता है कि भगवान की वाणी को भिन्न-भिन्न जीवों के समीप पहुँचा कर उसे सुखपूर्वक श्रवण योग्य बनाने आदि के पवित्र कार्य में अपनी सेवायें तथा सामर्थ्य समर्पण करने के कारण भगवान की सार्ववाणी को सार्वार्धमागधी नाम प्राप्त होता है । जब मागधदेव उस भगवद्वाणी की सेवा करते हैं, तो महान आत्मा की सेवा का उन्हें यह गौरव प्राप्त होता है कि उस श्रेष्ठ वाणी में सेवक के नाते उनका भी नाम आता है । समवशरण में जिस वाणी को सुनकर भव्य जीव अपनी भव बाधा को दूर करने योग्य बोध प्राप्त करते हैं, वह जिनेन्द्र देव के द्वारा उद्भूत हुई है और मागध देवों के सहकार्य से भव्यों के समीप पहुँची है । जब उस वाणी की श्रोताओं को उपलब्धि द्विविध कारणों से होती है, तब द्वितीय कारण को उस कार्य का आधा श्रेय स्थूल दृष्टि से दिया जाना अनुचित प्रतीत नहीं होता ।

कल्पना

कोई-कोई यह सोचते हैं कि राजगिरि जिस प्रांत की राजधानी थी उस मगध देश की भाषा के अधिक शब्द भगवान की दिव्य ध्वनि में रहे होंगे अथवा भगवान प्राकृत भाषा के उपभेद रूप अर्धमागधी नाम की भाषा में बोलते थे ।

समाधान

लोक रुचि के परितोष के लिए उपरोक्त समाधान देते हुए कोई कोई व्यक्ति देखे जाते हैं, किन्तु आगम की पृष्ठभूमि का उक्त समाधान को आश्रय नहीं है । सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय विषयों पर साधिकार एवं निर्दोष प्रकाश डालने की क्षमतासंपन्न आगम कहता है कि भगवान की वाणी किसी एक भाषा में सीमित नहीं रहती । सर्व-विद्या के ईश्वर सर्वत्र एक ही भाषा का उपयोग करेंगे और अन्य

देश तथा प्रांत की बहुसंख्यक जनता के कल्याणार्थ अपनी पूर्व प्रयुक्त भाषा में परिवर्तन न करेंगे यह बात अन्त करण को अनुकूल प्रतीत नहीं होती। उदाहरणार्थ भगवान जब विपुलाचल पर विराजमान थे तब मगध की मागधी भाषा में विशेष जनकल्याण को लक्ष्य कर उपदेश देना उचित दथा आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु महीशूर (मैसूर) प्रांत में भव्य जीवों के पुण्य से पहुँचने वाले वे परम पिता जिनेन्द्रदेव यदि कनड़ी भाषा का आश्रय लेकर तत्व निरूपण करें तो अधिक उचित बात हो। जिनेन्द्र देव की संपूर्ण बातें उचित और निर्दोष ही होंगी। ऐसी स्थिति में सर्वत्र सर्वदा मागधी नामकी प्रांत विशेष की भाषा में प्रभु का उपदेश होता है, यह मान्यता सुदृढ़ तर्क पर आश्रित नहीं दिखती।

लोकोत्तर वाणी

महान तपश्चर्या, विशुद्ध सम्यग्दर्शन, परमयथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान आदि श्रेष्ठ सामग्री का सन्निधान प्राप्त कर समुद्भूत होने वाली संपूर्ण जीवों को शाश्वतिक शांतिदायिनी भगवद् वाणी की सामान्य संसारी प्राणियों की भाषा से संतुलना कर दोनों को समान समझनें का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। वह वाणी लोकोत्तर है। लोकोत्तम योगिराज जिनेन्द्र की है। संसारी जन योगिराज की विद्या, विभूति और सामर्थ्य का लेश भी नहीं प्राप्त कर सकते। रेत का एक कण और पर्वत कैसे समान रूप से विशाल कहे जा सकते हैं। महान तार्किक विद्वान समंतभद्र जिनेन्द्र की प्रवृत्तियों के गंभीर चिंतन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि "जिनेन्द्र के कार्य अचिंत्य हैं —" "धीर ! तावकमचिंत्यमीहितम्" (७४ स्वयंभू स्तोत्र)। उन्होंने जिनेन्द्र के विषय में लिखा है :—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेननाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ।।७५।।

"हे धर्मनाथ जिनेन्द्र ! आपने निर्दोष अवस्था को प्राप्त कर मानव प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण किया है अर्थात् मानव समाज में पाई जाने वाली अपूर्णताओं तथा असमर्थताओं से आप उन्मुक्त हैं। आप देवताओं में भी देव स्वरूप है, इसलिए हे स्वामिन् आप परमदेवता हैं। हम पर कल्याण के हेतु प्रसन्न हों।"

महत्व की बात

योगियों की अद्भुत तपस्याओं के प्रसाद से जो फल रूप में सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे समस्त विश्व विस्मय के सिंधु में डूब जाता है। समीक्षक सिद्धियों के अद्भुत परिपाक को देखकर हतबुद्धि बन जाता है। वह यदि इन जिनेन्द्रों की उत्कृष्ट रत्नत्रय धर्म की समाराधना को ध्यान में रखे तो चमत्कारों को देख उसका मस्तक श्रद्धा से विनय मस्तक हुए बिना न रहेगा। दीक्षा लेकर केवलज्ञान पर्यंत महा मौन को स्वीकार करने वाले तीर्थंकरों की वाणी में लोकोत्तर प्रभाव पाया जाता तर्क दृष्टि से पूर्ण संगत तथा उचित है। जब भगवान का प्रभामंडल रूप प्रातिहार्य सहस्त्र सूर्य के तेज को जीतता हुआ तथा समवशरण में दिन रात्रि के भेदों को दूर करता हुआ भव्य जीवों को उनके सात भव दिखाने वाले अलौकिक दर्पण का काम करता है, तब भगवान की दिव्यध्वनि महान चमत्कार पूर्ण प्रभाव दिखावे यह पूर्णतया उचित है।

आगम आधार

चन्द्रप्रभ काव्य में दिव्यध्वनि के विषय में लिखा है :—

सर्वभाषा-स्वभावेन ध्वनिनाथ जगद् गुरुः।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्वं जिनेश्वरः ॥१८—१॥

जगत के गुरु चन्द्रप्रभ जिनेद्र ने गणधर के प्रश्न पर सर्व भाषा रूप स्वभाव वाली दिव्यध्वनि के द्वारा तत्व का उपदेश दिया। हरिवंशपुराण में भगवान की दिव्यध्वनि को हृदय और कर्ण के लिए

रसायन लिखा है—"चेतः कर्णरसायनं"। उन्होंने यह भी लिखा है :—

> जिनभाषाऽधर-स्पंदमंतरेण विजृंभिता।
> तिर्यग्देवमनुष्याणां दृष्टि-मोह-मनीशत् ॥२—११३।

ओष्ठ कंपन के विना उत्पन्न हुई जिनेन्द्र की भाषा ने तिर्यंच, देव तथा मनुष्यों का दृष्टि सम्बन्धी मोह दूर किया था। पूज्यपाद स्वामी उस ध्वनि के विषय में यह कथन करते हैं :—

> ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगंभीरः।
> ससलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रविततान्त-राशावलयं ॥२१॥

जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि श्रोत्र अर्थात् कर्ण तथा हृदय को सुखदाई तथा गंभीर होती है। वह सलिल परिपूर्ण मेघपटल की ध्वनि के समान दिगंतर में व्याप्त होती हुई एक योजन पर्यंत पहुँचती है।

महापुराणकार जिनसेनस्वामी का कथन है :—

> एकतयोपि यथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात्।
> पात्रविशेषवशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वं ॥७१—२३॥

जिस प्रकार एक प्रकार का पानी का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रस रूप परिणित होता है, उसी प्रकार यह सर्वज्ञ देव की दिव्यध्वनि एक रूप होते हुए पात्रों के भेद से विविध रूपता को प्राप्त होती है।

कर्नाटक भाषा के जैनव्याकरण में यह उपयोगी श्लोक आया है :—

> गंभीर मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं।
> कंठोष्ठादिवचो-निमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतं॥
> स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेष-भाषात्मकं।
> दूरासन्नसमं शमं निरुपमं जैनं वचः पातु नः॥

गम्भीर, मधुर, अत्यन्त मनोहर, निष्कलंक, कल्याणकारी, कंठओष्ठ, तालु आदि वचन उत्पत्ति के निमित्त कारणों से रहित,

पवन के रोध बिना उत्पन्न हुई, स्पष्ट, श्रोताओं के लिए अभीष्ट तत्व का निरूपण करने वाली सर्वभाषा स्वरूप, समीप तथा दूरवर्ती जीवों को समान रूप से सुनाई पड़ने वाली, शांतिरस से परिपूर्ण तथा उपमा रहित जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि हमारी रक्षा करे।

तिलोयपण्णत्ति में इस दिव्यध्वनि के विषय में बताया है कि "यह अठारह महाभाषा, सात सौ लघुभाषा तथा और भी संज्ञा जीवों की भाषा रूप परिणत होती है। यह तालु, दंत, ओष्ठ और कंठ की क्रिया से रहित होकर एक ही समय भव्य जनों को दिव्य उपदेश देती है"—"एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं" (४–९०२)।

अनक्षरात्मक ध्वनि

भगवान की दिव्यध्वनि प्रारम्भ में अनक्षारात्मक होती है, इसलिए उस समय केवली भगवान के अनुभय वचनयोग माना है। पश्चात् श्रोताओं के कर्णप्रदेश को प्राप्त कर सम्यक्ज्ञान को उत्पन्न करने से केवली भगवान के सत्यवाक् योग का सद्भाव भी आगम में माना है। गोम्मटसार की संस्कृत टीका में इस प्रसङ्ग पर यह महत्व-पूर्ण बात कही है[1] :—

सयोगी केवली की दिव्यध्वनि को किस प्रकार सत्य-अनुभय वचन योग कहा है? केवली की दिव्यध्वनि उत्पन्न होते ही अनक्षरात्मक रहती है, इसलिए श्रोताओं के कर्णप्रदेश से सम्बन्ध होने के समय पर्यंत अनुभय भाषापना सिद्ध होता है। इसके पश्चात् श्रोताओं के इष्ट अर्थ के विषय में संशय आदिकों के निराकरण करने

---

१ सयोगकेवलिदिव्यध्वनेः कथं सत्यानुभय-वाग्योगत्वमिति चेत् तन्न तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृ-श्रोत्रप्रदेश-प्राप्ति-समयपर्यन्त-मनुभय- भाषात्व सिद्धेः। तदनंतर च श्रोतृजनाभिप्रेतार्थेषु संशयादि-निराकरणन सम्यग्ज्ञान-जनकत्वेन सत्यवाग्योगत्व-सिद्धेश्च तस्यापि तदुभयत्वघटनात्"

पृ० ४८८, गाथा २२७।

से तथा सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने से सत्य वचनयोग का सद्भाव सिद्ध होता है। इस प्रकार केवली के सत्य और अनुभय वचन योग सिद्ध होते हैं। इस कथन से ज्ञात होता है कि श्रोताओं के समीप पहुँचने के पूर्व वाणी अनक्षरात्मक रहती है, पश्चात् भिन्न-भिन्न श्रोताओं का आश्रय पाकर वह दिव्यध्वनि अक्षररूपता को धारण करती है।

स्वामी समन्तभद्र ने जिनेन्द्र की वाणी को सर्वभाषा स्वभाव वाली कहा है। यथा :—

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषा-स्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिना व्यापि संसदि ॥

श्री युक्त तथा सर्व-भाषा स्वभाववाली आपकी अमृतवाणी समवशरण में व्याप्त होकर, जिस प्रकार अमृत प्राणियों को आनन्द प्रदान करता है, उस प्रकार जीवों को आनन्दित करती है।

महापुराणकार का मत

महापुराणकार दिव्यध्वनि को अक्षरात्मक कहते हुए इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं :—

देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगति र्जगति स्यात् ॥२३—७३॥

कोई लोग कहते हैं कि दिव्यध्वनि देवकृत है, यह कथन असम्यक् है, क्योंकि ऐसा मनने से जिनेन्द्र भगवान के गुण का व्याघात होता है। वह दिव्यध्वनि अक्षरात्मक ही है, (यहाँ 'ही' वाचक 'एव' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है) कारण अक्षरों के समूह के बिना लोक में अर्थ का बोध नहीं होता है।

वीरसेन स्वामी की दृष्टि

जयधवला टीका में जिनसेन स्वामी के गुरु श्री वीर सेनाचार्य ने दिव्यध्वनि के विषय में ये शब्द कहे हैं—"केरिसा सा (दिव्य-

ज्झुणी) ? सव्वभासासरुवा, अक्खराणक्खरप्पिया, अणंतत्थ-गब्भ-बीजपद-घडिया-सरीरा" (पृ० १२६, भाग १) वह दिव्यध्वनि किस प्रकार की है ? वह सर्वभाषा स्वरूप है । अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक है । अनन्त अर्थ हैं गर्भ में जिसके ऐसे बीज पदों से निर्मित शरीर वाली है अर्थात् उसमें बीजपदों का समुदाय है ।

चौसठ ऋद्धियों में बीज बुद्धि नाम की ऋद्धि का कथन आता है । उसका स्वरूप राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है—"जैहे हल के द्वारा सम्यक् प्रकार तैयार की गई उपजाऊ भूमि में योग्य काल में बोया गया एक भी बीज बहुत बीजों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार नोइंद्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के प्रकर्ष से एक बीज पद के ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थों को जानने की बुद्धि को बीज बुद्धि कहते हैं"—"सुकृष्ट-सुमथिते क्षेत्रे सारवति काला-दिसहायापेक्षं बीजमेकमुप्तं यथाऽनेकबीजकोटिप्रदं भवति तथा नोइं-द्रियावरण-श्रुतावरण-वीर्यान्तराय-क्षयोपशमप्रकर्षे सति एक-बीजपद-ग्रहणादनेक-पदार्थ-प्रतिपत्तिर्बीज बुद्धिः" (पृ० १४३, अध्याय ३, सूत्र ३६) इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिनेन्द्रदेव की बीज पद युक्त वाणी को गणधरदेव बीज-बुद्धि ऋद्धिधारी होने से अवधारण करके द्वादशांग रूप रचना करते हैं ।

इस प्रसङ्ग में यह बात विचार योग्य है कि प्रारम्भ में भगवान की वाणी को झेलकर गणधर देव द्वादशांग की रचना करते हैं, अतः उस वाणी में बीच पदों का समावेश आवश्यक है, जिनके आश्रय से चार ज्ञानधारी महर्षि गणधर देव अङ्ग-पूर्वों की रचना करने में समर्थ होते हैं । वीर भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर गौतम-स्वामी ने "बारहंगाणं चोद्दसपुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा" (धवला टीका भाग १, पृ० ६५)—द्वादशांग तथा चौदह पूर्व रूप ग्रथों की एक मुहूर्त में क्रम से रचना की । इसके पश्चात् भी तो महावीर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती रही है ।

श्रोतृ मण्डली को गणधरदेव द्वारा दिव्यध्वनि के समय के पश्चात् उपदेश प्राप्त होता है। जब दिव्यध्वनि खिरती है, तब मनुष्यों के सिवाय संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, देवादि भी अपनी अपनी भाषाओं में अर्थ को समझते हैं, इससे वीरसेनस्वामी ने उस दिव्यवाणी को 'सव्वभासा-सरुवा'—'सर्व-भाषास्वरूपा' भी कहा है। उस दिव्यवाणी की यह अलौकिकता है कि गणधरदेव सदृश महान ज्ञान के सिन्धु भी अपने लिए अमूल्य निधि प्राप्त करते हैं तथा महान मंदमति प्राणी सर्प, गाय, व्याघ्र, कपोत, हंसादि पशु भी अपने अपने योग्य सामग्री प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य

उपरोक्त समस्त कथन पर गम्भीर विचार तथा समन्वयात्मक दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है, कि जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि अलौकिक है; अनुपम है और आश्चर्यप्रद है। उसके समान विश्व में कोई अन्य वाणी नहीं है। वाणी की लोकोत्तरता में कारण तीर्थंकर भगवान का त्रिभुवन वंदित अनन्त सामर्थ्य समलंकृत व्यक्तित्व है। श्रेष्ठ सामर्थ्य-धारी गणधरदेव, महान महिमाशाली सुरेन्द्र आदि भी प्रभु की अपूर्व शक्ति से प्रभावित होते हैं। योग के द्वारा जो चमत्कारप्रद फल दिखाई पड़ता है, वह स्थूल दृष्टि वालों की समझ नें में नहीं आता, अतएव वे विस्मय सागरमें डूबे ही रहते हैं।

दिव्यध्वनि तीर्थंकर प्रकृति के विपाक की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है, कारण उक्त कर्म का बंध करते समय केवली, श्रुतकेवली के पादमूल में यही भावना का बीज योया गया था, कि इस बीज से ऐसा वृक्ष बने, जो समस्त प्रोणियों को सच्ची शांति तथा मुक्ति का मङ्गल संदेश प्रदान कर सके। मनुष्य-पर्यायरूपी भूमि में बोया गया यह तीर्थंकर प्रकृतिरूप बीज अन्य साधन-सामग्री पाकर केवली की अवस्था में अपना वैभव, तथा परिपूर्ण विकास दिखाता हुआ त्रैलोक्य के समस्त जीवों को विस्मय में डालता है।

आज भगवान ने इच्छाओं का अभाव कर दिया है, फिर भी उनके उपदेश आदि कार्य ऐसे लगते हैं, मानों वे इच्छाओं द्वारा प्रेरित हों। इसका यथार्थ में समाधान यह है कि पूर्व की इच्छाओं के प्रसाद से अभी कार्य होता है। जैसे घड़ी में चाभी भरने के पश्चात् वह घड़ी अपने आप चलती है, उसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते समय जिन कल्याणकारी भावों का संग्रह किया गया था, वे ही बीज अनन्तगुणित होकर विकास को प्राप्त हुए हैं। अतः केवली को अवस्था में पूर्व संचित पवित्र भावना के अनुसार सब जीवों को कल्याणकारी सामग्री प्राप्त होती है।

कल्पवृक्ष-तुल्य-वाणी

हमें तो दिव्यध्वनि कल्पवृक्ष तुल्य प्रतीत होती है। कल्पवृक्ष से इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती है; इसी प्रकार उस दिव्यवाणी के द्वारा आत्मा की समस्त कामनाओं की पूर्ति होती है। जितनी भी शंकाएँ मन में उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान क्षणमात्र में हो जाता है। दिव्यध्वनि के विषय में कुन्दकुन्दाचार्य के सूत्रात्मक ये शब्द बड़े महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं—"तिहुवण हिद-मधुर-विसद-वक्काणं" अर्थात् दिव्यध्वनि के द्वारा त्रिभुवन के समस्त भव्य जीवों को हितकारी, प्रिय तथा स्पष्ट उपदेश प्राप्त होता है। जब छद्मस्थ तथा बाल अवस्था वाले महावीर प्रभु के उपदेश के विना ही दो चारण ऋद्धिधारी महामुनियों की सूक्ष्म शंका दूर हुई थी, तब केवलज्ञान, केवलदर्शनादि सामग्री संयुक्त तीर्थंकर प्रकृति के पूर्ण विपाक होने पर उस दिव्य-ध्वनि के द्वारा समस्त जीवों को उनकी भाषाओं में तत्वबोध हो जाता है, यह बात तनिक भी शंका योग्य नहीं दिखती है। इस दिव्यध्वनि के विषय में धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य बड़ा मधुर तथा भावपूर्ण प्रतीत होता है :—

सर्वाद्भुतमयी सृष्टिः सुधावृष्टिश्च कर्णयोः।
प्रावर्तत ततोवाणी सर्वविद्येश्वराद्विभोः ॥२१—७॥

सर्वविद्याओं के ईश्वर जिनेन्द्र भगवान से सर्व प्रकार से आश्चर्यप्रद सृष्टि रूप तथा कर्णों के लिए सुधावृष्टि सदृश दिव्यध्वनि उत्पन्न हुई ।

दिव्यध्वनि का काल

गोम्मटसार जीवकांड की संस्कृत टीका में लिखा है; कि तीर्थंकर की दिव्यध्वनि प्रभात, मध्यान्ह, सायंकाल तथा मध्यरात्रि के समय चार-चार बार छह-छह घटिका कालपर्यंत अर्थात् दो घंटा, चौबीस मिनिट तक प्रतिदिन नियम से खिरती है । इसके सिवाय गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र सदृश विशेष पुण्यशाली व्यक्ति के आगमन होने पर उनके प्रश्नों के उत्तर के लिए भी दिव्यध्वनि खिरती है । इसका कारण यह है कि उन विशिष्ट पुण्याधिकारियों के संदेह दूर होने पर धर्मभावना बढ़ेगी और उससे मोक्षमार्ग की देशना का प्रचार होगा, जो धर्म तीर्थंकर की तत्व प्रतिपादना की पूर्ति स्वरूप होगी । जीवकाण्ड की टीका में ये शब्द आए हैं—"घातिकर्म-क्षयानंतर-केवलज्ञानसहोत्पन्न-तीर्थंकरत्वपुण्यातिशय-विजृंभितमहिम्नः तीर्थंकरस्य पूर्वन्ह-मध्यान्हा-परान्हार्धरात्रिषु षट्-षट् घटिकाकालपर्यन्त द्वादशगणसभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनि-रुद्गच्छति । अन्यकालेपि गणधर शक्र-चक्रधर-प्रश्नानंतरं चोद्भवति । एवं समुद्भूतो दिव्यध्वनिः समस्तासन्न-श्रोतृ-गणानुद्दिश्य उत्तमक्षमादिलक्षणं रत्नत्रयात्मकं वा धर्मं कथयति" (पृष्ठ ७६१) । जयधवला टीका में लिखा है कि यह दिव्यध्वनि प्रातः मध्यान्ह तथा सायंकाल रूप तीन संध्याओं में छह-छह घड़ी पर्यन्त खिरती है—"तिसंज्झ-विसय-छघडियासु णिरंतरं पयट्टमाणिय" (पृष्ठ १२६, भाग १) । तिलोयपण्णत्ति में भी तीन संध्याओं में कुल मिलाकर नवमुहूर्त पर्यन्त दिव्यध्वनि खिरने का उल्लेख है ।

पगदीए अक्खलिओ संझत्तिदयम्मि णवमुहुत्ताणि ।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वझुणी जाव जोयणयं ।।४—९०३।। ।

तिलोयपण्णति में यह भी कहा है कि "गणधर, इन्द्र तथा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ यह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह भव्य जीवों को छह, द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है" (भाग १, पृष्ठ २६३)।

शंका

गोम्मटसार के कथनानुसार मध्यरात्रि को दिव्यध्वनि खिरने पर यह शंका की जा सकती है कि मध्यरात्रि को तो जीव निद्रा के वशीभूत रहते हैं, उस समय उस दिव्यवाणी के खिरने से क्या उपयोग होगा ?

समाधान

समवशरण में भगवान के प्रभामंडल के प्रभाव से दिन और रात्रि का भेद नहीं रहता। वहाँ निद्रा की बाधा भी नहीं होती।

मुनिसुव्रतकाव्य में लिखा है :—

स्त्री-बाल-वृद्धनिवहोपि सुखं सभां तामंतर्मुहूर्तसमयांतरतः प्रयाति।
निर्याति च प्रभु-माहात्म्याऽश्रितानां निद्रा-मृति-प्रसव-शोक-रुजादयो न॥

स्त्री, बालक, तथा वृद्ध समुदाय उस समवशरण में अंतर्मुहूर्त के भीतर ही आनन्दपूर्वक आते थे तथा जाते थे; अर्थात् सभी जीव वहाँ सुखपूर्वक शीघ्र आते जाते थे। भगवान तीर्थंकर प्रभु के माहात्म्य से समवशरण में आने वालों को निद्रा, मृत्यु प्रसव तथा शोक रोगादिक नहीं होते थे।

तीर्थंकर के गुण

भगवान के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्तवीर्य रूप अनन्त चतुष्टय पाए जाते हैं। इस प्रकार दस जन्मतिशय, दस केवलज्ञान के अतिशय, चतुर्दश देवकृत अतिशय,

अष्ट प्रातिहार्य तथा अनन्त चतुष्टय मिलकर तीर्थंकर अरहंत क छियालीस गुण माने गए हैं। घातिया चतुष्टय के नष्ट होने पर भगवान यथार्थ में निर्दोष पदवी के अधिकारी बनते हैं। केवलज्ञान उत्पन्न होने के पूर्व प्रभु अगणित गुणों के भण्डार रहते हुए भी पूर्ण निर्दोष नहीं कहे जा सकते। जनसाधारण में यह बात प्रचलित भी है कि भगवान के सिवाय दूसरा कोई पूर्ण निर्दोष नहीं हो सकता। जगत् में किसी को सदोष, किसी को निर्दोष कहा जाता है, यह स्थूल रूप से साक्षेप कथन है। वास्तव में दोषों के गुरु मोहनीय के रहते हुए कैसे निर्दोषपना कहा जा सकता है? यदि शांत और वीतराग भाव से तत्व का विचार किया जाय, तो जिनेन्द्रदेव ही निर्दोष कहे जावेंगे। विषयों के या इन्द्रियों के दास, कामवसना के अधीन रहने वाले परिग्रहासक्त निर्दोष नहीं हो सकते। भक्त-जन उन विभूति सम्पन्न परिग्रही आत्माओं की कितनी भी स्तुति करें, उनमें गुण नहीं आ सकते। एक कवि ने कहा है :—

बड़े न हूजे गुनन बिनु बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक गहनो गढ्यो न जाय।।

गुणों के अभाव में स्तुति प्राप्त करने से कोई वास्तव में बड़ा नहीं बन सकता है। धतूरे को कनक कहते हैं। सुवर्ण का पर्यायवाची शब्द यद्यपि धतूरे के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु उसमें सुवर्ण का गुण नहीं है, अतः उससे भूषण नहीं बनाए जाते। इस प्रकाश में सच्चे देव आदि का निर्णय किया जा सकता है। अरहंत भगवान में इन १८ दोषों का अभाव होता है :—

जन्म जरा तिरखा छुधा विस्मय आरत खेद।
रोक शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद।।
राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टदाश दोष।।
नहिं होते अरहंत के सो छबि लायक मोख।।

जिनेन्द्र भगवान में दोषों का सर्वथा अभाव आश्चर्यप्रद लगता है। विविध सरागी धर्मों का तथा उनके आश्रयरूप आराध्यों

का स्वरूप मोह, भय तथा पक्षपात त्याग करके देखने पर विदित होगा, कि उक्त अष्टादश दोषों में से अनेक दोष उनमें पाए जाते हैं। जिनेन्द्रदेव में दोषों के अभाव का कारण भक्तामरस्तोत्र में बड़ी मनोज्ञ पद्धति द्वारा समझाया गया है। आचार्य मानतुङ्ग कहते हैं :—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैः।
त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्त-विविधाश्रयजातगर्वैः
स्वप्नान्तरेपि न कदाचिदपीक्षितोसि ॥२७॥

हे मुनीन्द्र ! अन्यत्र अवकाश न मिलने से आपमें समस्त गुणों ने निवास किया है, इसमें विस्मय-आश्चर्य की कोई बात नहीं है। दोषों को जगत् में अनेक स्थान निवास योग्य मिल जाने से गर्व उत्पन्न हो गया है, अतः उन दोषों ने स्वप्न में भी आपकी ओर दृष्टि नहीं दी है।

यहाँ कोई भिन्न सम्प्रदायवादी कह सकता है, कि जिनेन्द्र तीर्थंकर को ही क्यों निर्दोष कहा जाय ? हमारा जो आराध्य है वही निर्दोष है। ऐसी शंका का समाधान आचार्य समन्तभद्र की इस युक्तियुक्त कथन से होता है :—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।

हे वीर भगवान ! वह निर्दोषपना आप में ही है, क्योंकि आपकी वाणी युक्ति तथा आगम के अविरुद्ध है।

इस पर पुनः प्रश्न होता है कि यह बात कैसे जानी जाय, कि आपका कथन युक्ति-शास्त्र के अविरोधी है ? इसका उत्तर पद्य के उत्तरार्ध में दिया है :—

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥देवागम स्तोत्र॥६

जो बात आपको इष्ट है, अभिमत है, वह प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों द्वारा खण्डित नहीं होती है। वास्तव में स्याद्वादशासन एक अभेद्य किला है, जिस पर एकान्तवाद के गोले कोई भी असर नहीं

कर सकते हैं। जिसमें विचारशक्ति है, वह स्वस्थ मन तथा मस्तिष्क पूर्वक जिनेन्द्र की वाणी की विश्व के दर्शनों के साथ तुलना करके देख सकता है, कि जिनेन्द्र का कथन समन्त-भद्र है; सर्वांगीण कल्याणपूर्ण है। उसमें पूर्णतया निर्विकारता है।

निर्विकार-मुद्रा

भगवान जिनेन्द्र की वीतराग मुद्रा का सूक्ष्मतया निरीक्षण करने पर हृदय स्वयमेव स्वीकार करता है, कि उसके द्वारा भगवान में राग, द्वेष, मोह, क्रोध, काम, लोभ, मद, मत्सर आदि विकारों का अभाव स्पष्ट सूचित होता है। क्रोध मानादि अंतर्विकारों के सद्भाव में उनके चिन्ह भृकुटी विकार, रक्तनेत्रता, शस्त्रादि धारण करना आदि देखे जाते हैं। कामिनी का सङ्ग परित्याग करने से कामादि विकारों का अभाव सूचित होता है। आभूषणादि का त्याग करने से हृदय की निर्मलता स्पष्ट होती है। अंतर्मुखी वृत्ति बताती है कि वे आत्म-ज्योति के दर्शन में निमग्न हैं। परम अहिंसा तथा श्रेष्ठ करुणा से हृदय समलंकृत है तथा समस्त विश्व के मित्र तुल्य है। शत्रु नाम की वस्तु उनके समक्ष नहीं है। शत्रुता का मूल कारण क्रोध का क्षय हो चुका है, इसलिए शस्त्रादि से कोई प्रयोजन नहीं है। स्वावलम्बी होने से उनने वस्त्रादि का त्याग कर दिया है।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति का गम्भीरता पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण करने पर निष्पक्ष तथा सहृदय विचारक के मन में यह बात स्वयमेव जँच जायगी, कि सच्ची निर्विकार, निर्दोष तथा सात्विक भावों को प्रेरणा देने वाली जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति है। भक्ति तथा धर्म के मोहवश कोई-कोई हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री-सेवक, धन संग्रहादि पापों को बुरा मानते हुए भी भगवान में उनका सद्भाव स्वीकार करते हैं तथा उनको परमात्मा भी कहते हैं। न्याय की कसौटी पर यह विचार उचित नहीं प्रतीत होगा। विकारों का

सद्भाव ही बताता है कि उनसे युक्त आत्मा जनसाधारण के समान है। उसे शुद्ध परमात्मा कहना जुगनू को या दीपक को सूर्य कहकर उसकी स्तुति करना है।

जिनेन्द्र तीर्थंकर की मूर्ति में एक विशेषता दृश्यमान होती है कि वे प्रभु ब्रह्मदर्शन की मुद्रा में हैं। सन् १९५६ के अक्टूबर मास में जापान में हमसे एक व्यक्ति ने पूछा था--बुद्ध की मूर्ति भी शांत है, महावीर की मूर्ति भी शांत है। उनमें अंतर क्या है ?

हमने अपने पास के महावीर भगवान के चित्र को दिखाकर बताया था, कि महावीर भगवान भीतर देखते हैं, बुद्धदेव बाहर देखते हैं। बुद्धदेव की उपदेश मुद्रा या अभय मुद्रा इसके प्रमाण हैं कि बहिर्जगत् की ओर बुद्ध की दृष्टि है। अन्य कौतुक, क्रीड़ा आदि मुद्रा युक्त भगवान की मूर्ति का योग-मुद्रा युक्त ध्यानमयी प्रतिमा के साथ तुलना की आवश्यकता नहीं है। उनका अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है। जिनेन्द्रमूर्ति की वीतरागता, पवित्रता, शांति तथा आत्म-संयम के प्रकाश से प्रदीप्त होती है। उनकी मुद्रा प्रशांत, आध्यात्मिक स्वास्थ्य समलंकृत कृतकृत्य योगी की है। इस प्रकार उनका अन्तर स्पष्ट है।

स्तुति का प्रयोजम ?

इस प्रसङ्ग में सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकर केवलज्ञान उत्पन्न होने पर वीतराग हो चुके। वे न स्तुति से प्रसन्न होते और न निंदा से उनको क्रोध ही उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में उनकी स्तुति को क्यों जैन परम्परा में स्थान दिया गया है ?

इस प्रश्न के समाधान में आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि आपके स्तोत्र, स्तवन के द्वारा मन से मलिन भाव दूर होते हैं। इस आत्म निर्मलता की प्राप्ति के लिए जिनेन्द्र की स्तुति, आराधना की

जाती है। भगवान के गुणों के चिंतवन से पवित्र भाव होते हैं, इससे जीवन उज्ज्वल बनता है, इस कारण भगवान की अभिवंदना की जाती है। वृक्ष के नीचे जाने से बिना माँगे स्वयं छाया प्राप्त होती है, इसलिए जिनेन्द्र का शरण ग्रहण करने से स्वयमेव पवित्रता प्राप्त होती है, जिसके पीछे समृद्धियाँ भी चक्कर लगाती हैं।

महाकवि धनंजय की उक्ति कितनी मार्मिक है :—

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्यात् वरं न याचे त्वमुपेक्षकोसि ।
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात् कश्छायया याचितयाऽऽत्मलाभ– ॥३८॥

हे ऋषभनाथ जिनेन्द्र ! इस प्रकार आपका विषापहार-स्तोत्र द्वारा स्तवन करने के पश्चात् मैं आपसे किसी प्रकार के वर की याचना नहीं करता हूँ। कवि के इस कथन पर शंका होती है कि भक्तिपूर्वक भगवान का गुणगान करने के बाद उनसे प्रसाद पाने की प्रार्थना करने में क्यों प्रमाद करते हो ? उनसे फल की प्रार्थना करना तो भक्त का अधिकार है। इस आशंका को दूर करते हुए कवि कहते हैं— तरु का आश्रय लेने वाला स्वयमेव छाया को प्राप्त करता है, अतएव छाया की याचना करने से क्या लाभ है ?

स्तुतिकार आचार्यों, कवियों तथा संतों ने त्रिविध रूप से जिनेन्द्र का गुणगान किया है, किन्तु उसका अंतस्तत्व यही है कि ईश के गुणचिंतन द्वारा विचारशुद्धि होते हैं और व्यक्ति का उज्ज्वल भविष्य उसकी परिशुद्ध तथा सात्विक चित्तवृत्ति पर निर्भर है; अतएव प्रकारान्तर से सुन्दर भाग्य निर्माण में भगवान का सम्बन्ध कथन करना अनुचित नहीं है।

अर्हन् की प्रसिद्धि

अन्य सम्प्रदाय में केवली शब्द के स्थान में जिनेन्द्रदेव की अर्हन् या अरिहंत रूप में प्रसिद्धि है। ऋग्वेद में अर्हन् का उल्लेख

आया है[1] "अर्हन् इदं दयसे विश्वमभ्वम्"। मुद्राराक्षस नाटक में अर्हन्त के शासन को स्वीकार करो। ये मोह व्याधि के वैद्य हैं ऐसा उल्लेख आया है।[2] मोहवाहि-वेज्जाणं अलिहंताणं सासणं पडिवज्जह।" हनुमन्नाटक में लिखा है—"अर्हन् इत्यथ जैनशासनरता":—जैनशासन के भक्त अपने आराध्य देव को अर्हन्[3] कहते हैं।

यह अरिहंत शब्द गुणवाचक है। जो भी व्यक्ति चार घातिया कर्मों का विनाश करता है व अरिहंत बन जाता है। अतः यह शब्द व्यक्तिगत न होकर गुणवाचक है। अरंहत शब्द भी गंभीर अर्थ पूर्ण है।[4] अ का अर्थ है 'विष्णु'। 'अकारो विष्णुनाम स्यात्'। केवली भगवान केवलज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्याप्त हैं अतः अ का अर्थ होगा केवली भगवान। 'र' का अर्थ है रोग। कोश में कहा है—"राग: बले रवे" इत्यादि। 'हं' हनन करनेवाले का वाचक है। हर्षे च हनने हः स्यात्। 'त' शूरवीर का वाचक है। कहा भी है 'शूरे चौरे च तः प्रोक्तः।'

अरिहंत का वाच्यार्थ

धवल ग्रन्थ में 'अरिहंताणं' पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "अरि हननात् अरिहंता। नरक-तिर्यक्कुमानुष्य-प्रेतावासगताशेष-दुःख-प्राप्ति-निमित्तत्वात् अरिर्मोहः। तस्यारेर्हननादरिहन्ता। अर्थात् अरि के नाश करने से अरिहंत हैं। नरक, नियंच, कुमानुष, प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुःखों की प्राप्ति कापनिमित्त कारण होने से मोह को अरि अर्थात् शत्रु कहा है। उस मोहशत्रु का नाश करने से अरिहंत हैं।

---

१ A Vedic Reader by Macdonell P. 63

२ मुद्राराक्षस अंक ४

३ शाकटायन ने व्याकरण में 'जिनोऽर्हन्' (३०३) सूत्र में अर्हन् को जिन का पर्यायवाची कहा है।

४ चर्चासागर।

अन्यकर्म मोहनीय कर्म के आधीन हैं, क्योंकि मोहनीय कर्म के बिना शेष कर्म अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान की प्राप्ति होने पर पंच ज्ञानावरण, पंज अंतराय तथा दर्शनावरण चतुष्टय शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और क्षीणमोही आत्मा केवली, स्नातक, परमात्मा, जिनेन्द्र बन जाता है।

"रजोहननाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गा-शेष-त्रिकालगोचरानन्तार्थ–व्यंजन–परिणामात्मक-वस्तु–विषय-बोधानुभव-प्रतिबंधकत्वात् रजाँसि —अथवा रज का नाश करने से अरिहंत हैं। ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण रज के समान हैं। बाह्य तथा अन्तरङ्ग समस्त त्रिकालगोचर अनन्त अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्याय स्वरूप वस्तुओं को विषय करनेवाले बोध तथा अनुभव के प्रतिबंधक होने से वे ज्ञानावरण दर्शनावरण रज हैं। मोहनीय कर्म भी रज है, क्योंकि जिस प्रकार जिनका मुख भस्म से व्याप्त होता है उनमें जिम्ह भाव अर्थात् कार्य की मन्दता देखी जाती है। उसी प्रकार मोह से जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिम्ह भाव देखा जाता है अर्थात् उनकी स्वानुभूति में कालुस्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है। इन तीन कर्मों के क्षय के साथ अन्तराय का नाश अवश्यम्भावी है। अतएव उक्त रजों के नाश करने से अरिहंत हैं। 'रहस्याभावाद्वा अरिहंता। रहस्यमंतरायः, तस्य शेषाघातित्रितय-विनाशाविनाभाविनो भ्रष्टवीजवन्निःशक्तीकृताघाति-कर्मणो हननादरिहंता।'—रहस्य का अभाव करने से अरिहंत हैं। अंतराय कर्म रहस्य है। उसका ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा मोहनीय के क्षय के साथ अविनाभाव है अंतराय के नाश होने पर अघातिया कर्म भ्रष्टबीज के समान शक्ति रहित हो जाते हैं; अतएव अंतराय के क्षय से अरिहंत कहते हैं।

अरिहंत अर्थात् अर्हन्त

भगवान को अर्हन् भी कहते हैं। "अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः।

स्वर्गावतरण- जन्माभिषेक- परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति- परिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजनां देवासुर-मानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयाना-मर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः"—अतिशय युक्त पूजा को प्राप्त होने से अर्हन्त हैं। स्वार्गावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण अर्थात् दीक्षा, केवलज्ञान की उत्पत्ति तथा परिनिर्वाणरूप कल्याणकों में देवकृत पूजाएँ सुर, असुर, मानवों की पूजाओं से अधिक होने से अतिशयों के अर्ह अर्थात् योग्य होने से अर्हन्त हैं। मूलाचार में कहा है :—

अरहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे ॥५०५॥

जो नमस्कार करने योग्य हैं, पूजा के अर्ह अर्थात् योग्य हैं, लोक में देवों में उत्तम हैं; राज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण के नाश करने वाले हैं अथवा अरि अर्थात् मोहनीय और अंतराय के नाश करने वाले हैं, इससे अरहंत कहते हैं। टीकाकार आचार्य वसुनंदि सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं :—"येनेह कारणेनेत्थंभूतास्तेनार्हन्तः सर्वज्ञाः सर्वलोकनाथा लोकेस्मिन्नु च्यन्ते।" वे इन कारणों से इस प्रकार है अतएव उनको अर्हन्त, सर्वज्ञ, सर्वलोक के नाथ इस लोक में कहते हैं। केवली भगवान को अंतरङ्ग कर्मक्षय की दृष्टि से 'अरिहंत' कहते हैं। उनकी समवशरण में शतइन्द्र पूजा करते हैं इस दृष्टि से उनको अरहंत कहते हैं। मूलाचार में कहा है :—

अरिहंति वंदण-णमंसणाणि अरिहंति पूय-सक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ॥

वंदना तथा नमस्कार के योग्य हैं, पूजा-सत्कार के योग्य हैं, सिद्धिगमन के योग्य हैं, इससे इनको 'अरहंत' (अर्हत्) कहते हैं।[1]

---

१ अरहंत शब्द के गौरव की चर्चा करते हुए काशी विश्वविद्यालय के एक वैदिक शास्त्रज्ञ प्रोफेसर ने कहा था—"जैन शास्त्रकारों ने अनंत गुणों के भण्डार परमात्मा के पर्यायवाची अरहंत शब्द द्वारा भगवान की अपरिमित विशेषताओं की ओर दृष्टि डालती है। अन्य धर्मों में प्रयुक्त नामों

दोनों पाठ ठीक हैं

कभी-कभी यह शंका उत्पन्न होती है कि 'णमो अरिहंताणं' पाठ ठीक है या 'णमो अरहंताणं' ? उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में यह विदित होता है कि दोनों पाठ सम्यक् हैं ।

महत्व की बात

बृहत्प्रतिक्रमण पाठ के सूत्र में गौतमगणधर बताते हैं कि 'सुत्तस्स मूलपदाणमच्चासणदाए' अर्थात् आगम के मूलपदों में हीनता-कृत जो दोष उत्पन्न हुआ है उसका मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ । प्रभाचन्द्राचार्य के टीका में ये शब्द आए हैं :—'सूत्रस्य आगमस्य सम्बन्धिनां मूलपदानां प्रधानपदानामत्यासादनता हीनता तस्यां सत्यां यः कश्चिदुत्पन्नो दोषस्तं प्रतिक्रमितुमिच्छामि ।' इसका उदाहरण देते हुए वे कहते हैं—"तं जहा णमोक्कारपदे णमो अरहंताणामित्यादि-लक्षणे पंचनमस्कारपदे याऽत्यासादनता तस्यां अरहंतपदे इत्यादि अर्हदा-दीनां वाचके पदे याऽत्यासादनता तस्यां मङ्गलपदे चत्तारिमङ्गल मित्यादिलक्षणे, लोगुत्तमपदे चत्तारि लोगुत्तमा इत्यादि स्वरूपे, सरणपदे-चत्तारिसरणं पव्वज्जामि इत्यादि लक्षणे" (पृष्ठ १३९) । इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि गौतमस्वामी णमोक्कारपद के द्वारा णमो अरहंताणं इत्यादि पंच नमस्कार पद का संकेत करते हैं । इससे यह 'णमो अरहंताणं' आदि पद रूप नमस्कार मंत्र षट्खंडागम सूत्रकार भूतबलि-पुष्पदंत कृत है यह धारणा भ्रांत प्रमाणित होती है । इसके पश्चात् 'अरहंतपदे' शब्द का प्रयोग आया है, 'अरिहंत पदे' शब्द नहीं है ।

में केवल एक ही गुण प्रकाश में आता है । जैसे बुद्ध शब्द प्रभु की ज्ञान-ज्योति को सूचित करता है । अरहंत का भाव है पूजनीय, योग्य **Adorable, Worthy** । किसी को **Worthy** कहने से अनेक गुणपुञ्ज का सद्भाव व्यक्त होता है । अतएव अरहंत शब्द व्यापक तथा गम्भीर है ।

दोनों पाठ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सम्यक् है । सूक्ष्म विचार से ज्ञात होगा, कि बारहवें गुणस्थान के अंत में भगवान अरि समूह का क्षय करने से अरिहंत हो गए । इसके अनन्तर सुरेन्द्रादि आकर जब केवलज्ञान कल्याणक की पूजा करते हैं, तब' अरिहंति पूय-सक्कारं' इस दृष्टि से उनको अर्हन्त कहेंगें । प्राकृतभाषा में उसका 'अरहंत' रूप पाया जाता है।

प्राचीन उल्लेख

'णमो अरिहंताणं' रूप पंचनमस्कार मंत्र का भूतवलि-पुष्पदंताचार्य के पहले सद्भाव था इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। मूलाराधना नाम की भगवती आराधना पर रचित टीका में पृष्ठ २ पर यह महत्वपूर्ण उल्लेख आया है, कि सामायिक आदि अङ्ग बाह्य आगम में, तथा लोक बिन्दुसार है अंत में जिनके, ऐसे चौदह पूर्व साहित्य के आरम्भ में गौतम गणधर ने 'णमो अरहंताणं' इत्यादि रूप से पंचनमस्कार पाठ लिखा है । जब गणधरदेव रचित अंग तथा अंगबाह्य साहित्य में णमो अरहंताणं इत्यादि मङ्गल रूप से कहे गए हैं, तो फिर इनकी प्रचलित मान्यता निर्दोष रहती है, जिसमें यह पढ़ा जाता है "अनादिमूलमंत्रोयम्" । मूलाराधना टीका के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं "यद्ये वं सकलं श्रुतस्य सामयिकादेर्लोकबिन्दुसारान्तस्यादौ मंगलं कुर्वद्भिर्गणधरैः", "णमो अरहंताणमित्यादिना कथं पंचानां नमस्कारः कृतः ?"

पज्जुवास का स्वरूप

बृहत्प्रतिक्रमण पाठ में दोष शुद्धि के लिए गौतम गणधर ने यह लिखा है "मूलगुणेसु उत्तरगुणेसु अइक्कमो जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकायं (वोसिरामि) (पृ० १५१)।" टीकाकार पज्जुवास अर्थात् पर्युपासना का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं कि ३२४ उच्छ्वासों द्वारा १०८ बार पंचनमस्कार मन्त्र का उच्चारण

करे। टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्य के शब्द इस प्रकार हैं "पज्जुवासं करेमि—एकाग्रेण हि विशुद्धेन मनसा चतुर्विंशत्युत्तर—शतत्रयाद्युच्छ्वासैरष्टोत्तरशतादिवारान् पंचनमस्कारोच्चारणमर्हतां पर्यूपासनकरणं तद्यावत् कालं करोमि"' पंचनमस्कार मंत्र का तीन उच्छ्वास में पाठ करने का मुनियों के आचार ग्रन्थों में प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तादि के लिए उल्लेख पाया जाता है।

मुनिजीवन का मूल महामंत्र

मुनि जीवन के लिए जैसे २८ मूलगुण प्राणरूप हैं, इसी प्रकार यह मूलमंत्र भी अत्यन्त आवश्यक है। पैंतीस अक्षरात्मक यह मूलमन्त्र जैन उपासक के तथा श्रमण जीवन के लिये आवश्यक है।

भ्रांत धारणा

आचार्य भूतवलि, पुष्पदंत के द्वारा इसकी रचना हुई यह मानना "जीवट्ठाण सूत्र" के निबद्ध-अनिबद्ध भेदयुक्त मङ्गल चर्चा के आधार पर कहा जाता है।

यह भी विचार तर्कसङ्गत नहीं है। जीवट्ठाण की चर्चा पर आदर्श प्रति के आधार से विचार किया जाय, तो विदित होगा कि वीरसेनाचार्य ने स्वयं णमोकारमंत्र को भूतबलि-पुष्पदन्ताचार्य रचित नहीं माना है। अलंकार चिंतामणि में अन्य ग्रन्थकार रचित मङ्गल को अनिबद्ध कहा है "परकृतमनिबद्ध"। जीवट्ठाण ग्रन्थ का विशेषण वाक्य है "इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्धमङ्गलं" पृ० ४१। भ्रम से लोग 'निबद्धं मङ्गलं यस्मिन् तत्' इस प्रकार अर्थ विस्मरण कर पारिभाषिक निबद्ध मंङ्गल मान बैठते हैं। जीवट्ठाण ग्रन्थ के आदि में मङ्गल है। स्वयं ग्रन्थ को ही निबद्धमङ्गल कहना असङ्गत बात होगी। अतः यह अर्थ उचित होगा, कि इस जीवट्ठाण ग्रन्थ में मङ्गल निबद्ध किया गया है। जब गौतम गणधर ने णमोकार मन्त्र को अपने द्वारा निबद्ध

आगम ग्रन्थों में लिखा है, तब जीवट्ठाण में कथित विवेचन का अविरोधी अर्थ करना विज्ञ व्यक्ति का कर्तव्य है। पक्ष का मोह हितप्रद नहीं है।

अरहंत की विशेषता

पूज्यता की दृष्टि से अष्टकर्मों का क्षय करने वाले सिद्ध भगवान को प्रणाम रूप "णमो सिद्धाणं" पद पहले रखा जाना चाहिए था, किन्तु अपराजित मूलमंत्र में णमो अरहंताणं को प्रथम स्थान पर रखा है। इसका विशेष रहस्य यह है। सम्यग्ज्ञान के द्वारा इष्ट पदार्थ की उपलब्धि होती है। उस ज्ञान का साधन शास्त्र है। उस शास्त्र के मूलकर्ता अरहंत भगवान हैं। इस कारण जीव को मोक्ष प्राप्त करने वाली जिनवाणी के जनक होने से जिनेन्द्र तीर्थंकर सर्वप्रथम वंदनीय माने गए हैं, क्योंकि उपकार को न भूलना सत्पुरुषों का मुख्य कर्तव्य है। उपकार करनेवाले प्रभु का स्मरण न करने से अकृतज्ञता का दोष लगता है। नीच माने जाने वाले पशु तक अपने उपकारी के उपकार को स्मरण रखते हैं, तब विचारवान मनुष्य को तो कृतज्ञता की मूर्ति बनना चाहिये। उपकृत व्यक्ति की दृष्टि में उपकर्ता का सदा अन्य की अपेक्षा उच्च स्थान माना गया है।

कृतज्ञता

हरिवंशपुराण में कथा आई है। चारुदत्त ने मरते हुए बकरे के कान में पंच नमस्कार मन्त्र दिया था। उससे वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वह देव कुंभकंटक नामक द्वीप के कर्कोटक पर्वत पर जिन चैत्यालय में विद्यमान मुनिराज के चरणों के समीप स्थित चारुदत्त के पास पहुँचा। उस देवने पहले चारुदत्त को प्रणाम किया था। मुनिराज की वंदना बाद में की थी। उस देव ने कहा था "जिन-धर्मोपदेशकः चारुदत्तो साक्षात् गुरुः"—जिनधर्म का उपदेश देकर

मेरी आत्मा का उद्धार करने वाले चारुदत्त मेरे साक्षात् गुरु हैं, क्योंकि 'दत्तः पंचनमस्कारो मरणे करुणावता' (२१—१५०)—उन्होंने करुणापूर्वक मुझे मरण समय पर पंचनमस्कार मंत्र प्रदान किया था।

जातोहं जिनधर्मेण सौधर्मो विबुधोत्तमः।
चारुदत्तो गुरुस्तेन प्रथमो नमितो मया ॥२१—१५१॥

जिनधर्म के प्रभाव से में सौधर्म स्वर्ग में महान देव हुआ। इस कारण मैंने अपने गुरु चारुदत्त को पहले प्रणाम किया।

हरिवंशपुराण की यह शिक्षा चिरस्मरणीय है :—

अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्म दशिनम् ॥१५६॥

एक अक्षर का अथवा एक पद का या उसके अर्थ के दाता को विस्मरण करनेवाला पापी है, तब फिर धर्म के उपदेष्टा को भूलने वाला महान पापी क्यों न होगा ?

इस कथन के प्रकाश में अरहंत-भगवान का अनंत उपकार सर्वदा स्मरणीय है और उनके चरणयुगल सर्वप्रथम वंदनीय हैं।

रत्नत्रय रूप त्रिशूल

आचार्य वीरसेन ने अरहंत भगवान के सम्बन्ध में यह सुन्दर गाथा धवला टीका में उद्धृत की है :—

ति-रयण तिसूलधारिय-मोहंधासुर-कबंध-बिंद-हरा।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णयकयंता ॥पृ० ४५, भाग १॥

जिन ने रत्नत्रय रूप त्रिशूल को धारण कर मोह रूपी अंधकासुर के कबंधवृन्द का हरण किया है और अपने परिपूर्ण आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, वे मिथ्या पक्षों के विनाश करने वाले अरहंत भगवान हैं।

'उत्तम' का अर्थ

मूलाचार में लिखा है कि ये अरहंत भगवान जगत में त्रिविध तम अर्थात् अंधकारों से विमुक्त हैं। इस सम्बन्ध की गाथा विशेष महत्वपूर्ण है :—

मिच्छत्त-वेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च।
तिविहा तमाहु मुक्का तम्हा ते उत्तमा होंति ।।५६५।।

ये चौबीस तीर्थंकर उत्तम कहे गए हैं क्योंकि ये मिथ्यात्व वेदनीय, ज्ञानावरण तथा चारित्र मोहनीय इन तीन प्रकार के अंधकारों से मुक्त हैं। संस्कृत टीकाकार वसुनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है "त्रिविधं तमस्तस्मात् मुक्ता यतस्तस्मात्ते उत्तमा: प्रकृष्टा: भवंति।" इसका भाव यह है कि अरहंत भगवान मिथ्यात्व अंधकार से रहित होने से सम्यक्त्व ज्योति से शोभायमान है। ज्ञानावरण के दूर होने से केवलज्ञान समलंकृत हैं। चारित्र मोह के अभाव में परमयथाख्यात चारित्र संयुक्त हैं। मिथ्यात्व, अज्ञान तथा असंयम रूप अंधकार के होते हुए यह जीव परमार्थ दृष्टि से उत्तम (उत् अर्थात् रहित+तम (अंधकार) अर्थात् रहित नहीं कहा जा सकता है। लोक में श्रेष्ठ पदार्थ को उत्तम कहते हैं। तत्व दृष्टि से मुमुक्षु जीव अरहंत भगवान को उत् तम अर्थात् उत्तम मानता है।

प्रशस्त राग

मोहनीय कर्म पाप प्रकृति है। उसका भेद रागभाव भी पापरूप मानना होगा, किन्तु वह रागभाव अरहंत भगवान के विषय म होता है, तो वह जीव को कुगतियों से बचाकर परम्परा से मोक्ष का कारण हो जाता है। अतः मूलाचार में "अरहंतेसु य राओ… पसत्थराओ"—अरहंतों में किया गया राग प्रशस्त राग अर्थात् शुभ राग कहा गया है। (देखो गाथा ७३, ७४ षडावश्यक अधिकार)।

भ्रम-निवारण

इन अरहंत को नमस्कार करने से जीव सम्पूर्ण दुःखों से छट जाता है। कोई-कोई गृहस्थ अव्रती होते हुए भी यह सोचते हैं कि अरहंत का स्मरण करने से मन में राग भाव उत्पन्न होते हैं। राग की उत्पत्ति द्वारा संसार का भ्रमण होता है; अतएव सच्चे आत्महित के हेतु हमें णमोकार मन्त्र में प्रतिपादित भक्ति से दूर रहना चाहिए। केवल आत्मदेव का ही शरण ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार का कथन स्वयं पाप पंक से लिप्त गृहस्थ के मुख में ऐसा दिखता है, जैसे मल द्वारा मलिन शरीर वाले व्यक्ति का मल-निवारक साबुन आदि पदार्थों के उपयोग का निषेध करना है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि स्वच्छ शरीर पर शरीर शोधक द्रव्य का लेप अनावश्यक है। अनुजित भी है, किन्तु अस्वच्छ शरीर वाले के लिए उसका उपयोग आवश्यक है। शरीर पर मलिनता है और क्षार द्रव्य रूपी सामग्री को लगाना और मलिनता को बढ़ाना ठीक नहीं है। ऐसा तर्क सारशून्य है क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव से बाधित है। साबुन के प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि वह स्वयं बाहरी पदार्थ होते हुए भी शरीर पर लगाए जाने पर मलिनता को दूर कर देता है, इसी प्रकार वीतराग की भक्ति रागात्मक होती हुई, आत्मा की आर्तध्यान, रौद्रध्यान रूपी भीषण मलिनता को दूर करके क्रमशः सच्ची भक्ति के द्वारा जीव का कल्याण करती हुई भक्त को भगवान बना देती है।

इस सम्बन्ध में धर्मशर्माभ्युदय काव्य की यह उत्प्रेक्षा बड़ी मार्मिक है :—

निर्मार्जिते यत्पद-पंकजानां रजोभिरंतः प्रतिबिंबितानि।
जनाः स्वचेतो मुकुरे जगंति तान्नौमि मुदे जिनन्द्रान् ।।सर्ग।।१।।

मैं उन जिनेन्द्र भगवान को आनन्द की प्राप्ति के हेतु नमस्कार करता हूँ जिनके पद-पंकज (चरणकमल) की रज (भक्तिरूपी रज) द्वारा अपने चित्त को निर्मार्जित करने पर अंत:करण रूपी दर्पण में तीनों लोकों को प्रतिबिम्बित होते हुए जीव देखते हैं।

जिन-भक्ति

वीतराग भगवान की भक्ति का यह अद्भुत चमत्कार है। वह इस काल में मुनियों का भी प्राण है। पाप-पंक में लिप्त गृहस्थों के हितार्थ अमृतौषध सदृश है। उस जिनेन्द्र भक्ति को दूषित समझने वाला गृहस्थ अपने पैरों पर कुठाराघात करता है। अध्यात्मवाद के नाम पर वह गृहस्थ विषपान करता हुआ प्रतीत होता है। शिशुवर्ग का तुतलानेवाला बालक शस्त्राभ्यास का तिरस्कार द्योतक शब्द उच्चारण करता हुआ जैसे उपहास का पात्र होता है, ऐसी ही स्थिति उस भक्ति विरोधी गृहस्थ की होती है। स्याद्वाद के प्रकाश में वह अध्यात्मवाद मिथ्याभाव की संतति सिद्ध होता है। अरहंत देव की भक्ति जीवन के लिये परम-रसायन है। आचार्य कहते हैं :—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य यो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥५०६॥ मूलाचार

जो पुरुष भावपूर्वक सावधानी के साथ अरहंत भगवान को प्रणाम करता है, वह शीघ्र ही सर्वदु:खों से छूट जाता है।

नव लब्धियाँ

गोम्मटसार में लिखा है—

केवलणाण-दिवायर-किरण-कलावप्पणासिय-ण्णाणो।
णवकेवल लद्धुग्गम-सुजणिय-परमप्पप-ववएसो ॥६३

वह केवलज्ञान रूपी दिवाकर अर्थात् सूर्य की किरण-कलपा के द्वारा अज्ञान का नाश करके तथा नव केवललब्धियों की उत्पत्ति होने पर यथार्थ में परमात्मा कहलाता है।

नवलब्धियों के विषय में आगम का कथन है कि ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से केवली भगवान को क्षायिकज्ञान रूप लब्धि का लाभ होता है। दर्शनावरण के नाश होने से अनंत दर्शन, दर्शन मोहनीय कर्म के अभाव होने पर क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र मोह के क्षय होने पर क्षायिक चारित्र, दानान्तराय के अभाव से क्षायिक दान, लाभान्तराय के नाश होने से क्षायिक लाभ, भोगान्तराय के नष्ट होने से क्षायिक भोग, उपभोगान्तराय के क्षय होने से क्षायिक उपभोग तथा वीर्यान्तराय के क्षय होने पर क्षायिक वीर्य रूप लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। ये नौ लब्धियाँ कर्मक्षय होने से क्षायिक भाव के नाम से कही जाती हैं।

भोग-उपभोग का रहस्य

भगवान ने दीक्षा लेते समय भोग तथा उपभोग की सामग्री का परित्याग किया था। केवलज्ञान की अवस्था में भोग तथा उपभोग का क्या रहस्य है? वे प्रभु परम आकिंचन्य भाव भूषित हैं। उनके क्षायिक दान का क्या अर्थ है? सब पदार्थों का संकल्पपूर्वक परित्याग करके परम यथाख्यातचारित्र की अत्यन्त उज्ज्वल स्थितिप्राप्त केवली के लाभ का क्या भाव है? जो पदार्थ एक बार सेवन में आता है, उसे भोग कहते हैं, जैसे पुष्पमाला, भोजन आदि। जो पदार्थ अनेक बार सेवन में आता है, उसे उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र, भवनादि। भगवान परम वीतरागी होने से सम्पूर्ण परिग्रह के पाप से परिमुक्त हैं, ममता के पिता मोह कर्म का वे क्षय कर चुके हैं, फिर भी उनकी ओर विश्व की अचिन्त्य तथा अद्भुत विभूति का समुदाय आकर्षित होता है। उनका उन पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस बात का स्पष्ट प्रमाण यह है कि वे रत्नजटित हेमपीठ से चार अंगुल ऊँचाई पर अंतरिक्ष में विराजमान रहते हैं, तथा आत्म स्वरूप में निमग्न रहते हैं। विशाल समवशरण के मध्य रहते हुए भी

वे उस समस्त सामग्री से उसी प्रकार दूर हैं, जैसे वे पहले मुनि बनने पर तपोवन में स्थित रहते हुए परिग्रह से पूर्णरूप में पृथक् थे ।

समन्तभद्र स्वामी कहते हैं "प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतो देहतोपि विरतोभवानभूत्"—हे जिनेन्द्र ! आप सिंहासन, भामंडल, छत्रत्रयादि प्रातिहार्यों से घिरे रहने पर भी न केवल उनसे विरक्त हैं, बल्कि अपने शरीर से भी विरक्त हैं । इस कथन के प्रकाश में जिनेन्द्र भगवान की महत्ता का उचित मूल्याँकन हो सकता है । जहाँ जगत् में सभी व्यक्ति परिग्रह-पिशाच के अधीन हैं, वहाँ जिनेन्द्रदेव की उक्त स्थिति अलौकिक है ।

अकलंक स्वामी की दृष्टि

अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में लिखा है, सम्पूर्ण भोगान्तराय के तिरोभाव हो जाने से अतिशयों का आविर्भाव होता है । इससे भगवान के क्षायिक अनंतभोग कहा है । इसके फलस्वरूप पंचवर्ण सहित सुगंधित पुष्पों की वर्षा, चरणों के निक्षेप के स्थान में अनेक प्रकार की सुगन्धयुक्त सप्त सप्त कमलों की पंक्ति, सुगन्धित धूप, सुखद शीतल पवन आदि की प्राप्ति होती है । उनके शब्द इस प्रकार हैं; "कृत्स्नस्य भोगाँतरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोतिशयवाननंतो भोगः क्षायिकः यत्कृताःपंचवर्णसुरभि-कुसुमवृष्टि-विविधदिव्यगंधचरण-निक्षेप स्थानसप्तपद्मपंक्तिसुगंधि-धूप-सुखशीतमारुतादयो भावाः ।"

क्षायिक उपभोग के विषय में आचार्य का कथन है, परिपूर्णरूप से उपभोगान्तराय कर्म के नाश होने से उत्पन्न होने वाला अनंत उपभोग क्षायिक है । इसके कारण सिंहासन, बालव्यजन (पंखा) अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, प्रभामंडल, गम्भीर तथा मधुर स्वर रूप परिणमन वाली देव दुन्दभि आदि पदार्थ होते हैं—"निरवशेषस्योपभोगान्तराय कर्मणः प्रलयात्प्रादुर्भूतोऽनंत-उपभोगः क्षायिको यत्कृताः सिंहासन-वालव्यजनाशोकपादप - छत्रत्रय - प्रभामण्डल - गम्भीरस्निग्धस्वर परिणाम-देवदुन्दुभिप्रभृतयो भावाः" (पृ० ७३ राजवार्तिक) ।

भगवान के द्वारा दिए जाने वाले क्षायिक दान पर अकलंक-स्वामी इस प्रकार प्रकाश डालते हैं, दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से उत्पन्न होने वाला त्रिकालगोचर अनंत प्राणीगण का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभयदान होता है । "दानान्तरायस्य कर्मणोत्यंत-संक्षयादाविर्भूतं त्रिकालगोचरानंत-प्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभय-दानं," पृ० ७३—जिनेन्द्रदेव के कारण अनंत जीवों को जो कल्याणदायी तथा अविनाशी सुख का कारण दान प्राप्त होता है, उसकी तुलना संसार में नहीं की जा सकती है । अन्य दानों का सम्बन्ध शरीर तक ही सीमित है । यह वीतराग प्रभु का दान, आत्मा को अनंत दु:खों से निकालकर अविनाशी उत्तम सुख में स्थापित करता है । यह सामर्थ्य अलौकिक है । उक्त दानादि का सिद्धों में कैसे सद्भाव सिद्ध होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में अकलंक स्वामी कहते हैं, "शरीरनामकर्मोदयाद्य-पेक्षत्वात्तेषां तदभावे तद्प्रसङ्गः परमानंताव्याबाधरूपेणैव तेषां च तत्र वृत्तिः केवलज्ञानरूपेणानंतवीर्यवत्"—उक्त रूप से अभयदानादि के लिए शरीरनाम कर्म के उदय की अपेक्षा पड़ती है । सिद्ध भगवान के शरीर नाम कर्म के उदय का अभाव होने से उक्त प्रकार के अभय दानादि का प्रसङ्ग नहीं आयगा । जिस प्रकार केवलज्ञान रूप से उनमें अनंतवीर्य गुण माना जाता है अर्थात् अनंतवीर्य के साथ केवलज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध होने से केवलज्ञान होने से अनंतवीर्य का सद्भाव सिद्ध होता है, उसी प्रकार उक्त भावों का समावेश करना चाहिये ।

अनंतशक्ति का हेतु

आत्मा में अनन्त शक्ति है, जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होती है । यह शक्ति कहना आत्मा की स्तुति नहीं है, किन्तु वास्तव में युक्ति द्वारा यह सिद्ध होती है । पं० आशाधर जी ने सागारधर्मामृत में लिखा है कि आत्मा अपने स्वरूप में निमग्न होकर न विजेता काम को जीतती है, इसलिए आत्मा में अनन्त

शक्ति का सद्भाव स्वीकार करना अतिशयोक्ति नहीं है, किन्तु वास्तविक सत्य है।

अनंतशक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः।
यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव जगज्जैत्रं जयेत् स्मरम् ॥७—१७॥
सागारधर्मामृत।

कवि का भाव यह है कि संसार भर में काम का साम्राज्य फैला है। पशुवर्ग, मनुष्य समाज के सिवाय देवी देवताओं पर भी काम का अनुशासन है। गुरुपूजा में ठीक ही कहा है :—

कनक, कामिनी, विषयवस दोसै सब संसार।
त्यागी वैरागी महा साधु सुगुन-भण्डार॥

स्वानुभव में निमग्न जिनेन्द्र भगवान ने काम कषाय का मूलोच्छेद कर दिया है। अतः अनन्त जीवों को अपना दास बनाने वाले कामशत्रु का विध्वंस करने वाले जिनेन्द्र भगवान में अनंतशक्ति का अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध होता है। निर्विकार दिगम्बर मुद्रा द्वारा हृदय की शुद्धता पूर्णतया प्रमाणित होती है।

गणधर के बिना दिव्य-ध्वनि

योग्य सामग्री का सन्निधान प्राप्त होने पर कार्य होता है। चैत्र कृष्णा नवमी को वृषभनाथ भगवान केवलज्ञानी हो गए। इतने मात्र से दिव्यध्वनि की उद्भूति नहीं होगी, जब तक सहायक इतर सामग्री न मिल जाय।

यहाँ गणधर कौन बनेगा ? दिव्यध्वनि से धर्मतत्व जानकर मुमुक्षु गणधर बनेंगे। लोग धर्म को जानते नहीं हैं। महावीर भगवान के समय जैसी कठिनता उपस्थित होती है। आगम में कहा है—बैशाख सुदी दशमी को महावीर भगवान के केवलज्ञान हो जाने पर ६६ दिन पर्यन्त दिव्यध्वनि उत्पन्न नहीं हुई थी, यद्यपि अन्य सर्व-सामग्रीका समुदाय वहाँ विद्यमान था। जयधवला टीका में कहा है कि उस समय गणधरदेव रूप कारण का अभाव

था, "गणिंदाभावादो" (पृष्ठ ७६) । गणधरदेव की उपलब्धि होने पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रभात में वीर जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि खिरी थी । इससे भी कठिन परिस्थिति उस काल में थी, जब भगवान आदिनाथ ने तपश्चर्या द्वारा कैवल्य लक्ष्मी प्राप्त की थी । यदि लोग धर्मतत्व के ज्ञाता होते, तो मुनि अवस्था में भगवान को छह माह पर्यन्त आहार प्राप्ति के हेतु क्यों फिरना पड़ता ? इस प्रकार की कठिन स्थिति मन में विविध शंकाओं को उत्पन्न करती है। किन्तु इसका समाधान सरल है ।

महापुराणकार कहते हैं कि भरत महाराज को धर्माधिकारी पुरुष से यह समाचार प्राप्त हुआ कि आदिनाथ भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है । उसी समय आयुधशाला के रक्षक से ज्ञात हुआ कि आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है तथा कंचुकी से ज्ञात हुआ कि पुत्र उत्पन्न हुआ है :—

धर्मस्थाद् गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः ।
गुरोः कैवल्यसंभूतिं सूतिं च सुतचक्रयोः ।।२४—२।।

भरतेश्वर ने पहले धर्म पुरुषार्थ की आराधना करना कल्याणदायी सोचा—"कार्येषु प्राग्विधेयं तद्धर्म्यं श्रेयोनुबंधि यत्" (८) इससे भरत महाराज सपरिवार पुरिमतालपुर जाने को उद्यत हुए । वहाँ पहुँचकर भरत महाराज ने सुवर्णमय बीस हजार सीढ़ियों पर चढ़ कर शीघ्र ही समवशरण में प्रवेश किया । उन्होंने द्वारपाल देवों के द्वारा भीतर जाते हुए समवशरण के वैभव का अवलोकन कर परम आनंद प्राप्त किया । श्रीमंडप की शोभा देखी । वह रत्नमय स्तम्भों पर अवस्थित था । उसका ऊपरी भाग स्फटिकमणि निर्मित था । वास्तव में वह श्रीमंडप ही था ।

पुण्यशाली महाराज भरत ने पद्मासन मुद्रामें विराजमान उन अंतर्यामी आदिनाथ प्रभु की प्रदक्षिणा की । श्रेष्ठ सामग्री से उन

देवाधिदेव की अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की और उनको प्रमणा किया। उनका मंगल स्तवन करते हुए भरतराज ने कहा :—

त्वं शम्भुः शम्भवः शंयुः शंवदः शंकरो हरः।
हरिर्मोहासुरारिश्च तमोरिर्भव्यभास्करः ॥२४—३६॥

आप ही शंभु हैं, शंभव हैं, शंयु अर्थात् सुखी हैं, शंवद हैं अर्थात् सुख या शाँति का उपदेश देने वाले हैं, शंकर हैं अर्थात् शाँति के करने वाले हैं, हर हैं, मोहरूपी असुर के शत्रु हैं, अज्ञानरूप अंधकार के अरि हैं और भव्य जीवों के लिए उत्तम सूर्य हैं।

भरतेश्वर जिनेन्द्र के गुणस्तवन के सिवाय नामकीर्तन को भी आत्म निर्मलता का कारण मानते हुए कहते आचार्य हैं :—

तदास्तां गुणस्तोत्रं नाममात्रंच कीर्तितम्।
पुनाति नस्ततो देव त्वन्नामोद्देशतः श्रिताः ॥२४—६८॥

हे देव, आपके गुणों का स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका लिया हुआ नाम ही हम लोगों को पवित्र कर देता है; अतएव हम आपका नाम लेकर ही आपके शरण को प्राप्त होते हैं।

चक्रवर्ती द्वारा प्रार्थना

वृषभात्मज भरतेश्वर जगत्पिता वृषभजिनेश्वर की स्तुति के उपरान्त श्रीमंडप में जाकर सभा में अपने योग्य स्थान पर बैठे; पश्चात् विनयपूर्वक भरतराज ने जिनराज से प्रार्थना की :—

भगवन् बोद्धु मिच्छामि कीदृशस्तत्वविस्तरः।
मार्गो मार्गफल चापि कीदृग् तत्वविदांवर ॥२४—७९॥

भगवन्! तत्वों का स्पष्ट स्वरूप किस प्रकार है? मार्ग तथा मार्गफल कैसा है? हे तत्वज्ञों में श्रेष्ठ देव! मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ।

भाग्यशाली भक्तशिरोमणि भरतराज के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने समस्त सप्त तत्वों का, रत्नत्रय मार्ग तथा उसके फल-

स्वरूप निर्वाण आदि का स्वरूप अपनी दिव्य वाणी के द्वारा निरूपण किया ।[1] सर्वज्ञ, वीतराग तथा हितोपदेशी जिनेन्द्र की वाणी की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? सम्राट् भरत ने भगवान के श्रीमुख से मुनिदीक्षा लेते समय सांत्वना के शब्द सुने थे, उसके पश्चात् अब प्रभु की प्रिय, मधुर तथा शाँतिदायिनी वाणी सुनने में आई । समवशरण में विद्यमान जीवों को अवर्णनीय आनन्द तथा प्रकाश की उपलब्धि हुई । चिर पिपासित चातक के मुख में मेघबिन्दु पड़कर जैसी प्रसन्नता उत्पन्न करती है, ऐसी ही प्रसन्नता, प्रभु की वाणी को सुनकर, समवशरण के जीवों को प्राप्त हुई थी । प्रभु की वाणी का सम्राट् पर क्या प्रभाव पड़ा, इस पर महापुराणकार इस प्रकार प्रकाश डालते हैं :—

भरत चक्रवर्ती द्वारा व्रत-ग्रहण

ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कलाम् ।
निष्कलात् भरतो भेजे परमानंदमुद्वहन् ।।२४—१६३।।

भगवान की दिव्यदेशना को सुनकर भरत ने परम आनंद को प्राप्त होते हुए सम्यक्त्व शुद्धि तथा व्रतों के विषय में परम विशुद्धता प्राप्त की ।

भरतेश्वर ने मानसी शुद्धि भी प्राप्त की थी । जिनसेनस्वामी लिखते हैं :—

---

[1] तिलोयपण्णत्ति में कहा है कि गणधर देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुसार अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि अन्य समयों में भी निकलती है । कहा भी है :—

सेसेसुं समएसुं गणहर देविंद-चक्कवट्टीणं ।
पहाणुरुवमत्थं दिव्वझुणी अ सत्तभंगीहिं ।।४—९०४।।

इस नियम के अनुसार चक्रवर्ती के प्रश्न पर दिव्यध्वनि खिरने लगी कारण गणधर देव के अभाव की पूर्ति चक्रवर्ती की उपस्थिति द्वारा सम्पन्न हो गई ।

स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शन-नायकाम् ।
व्रत-शीलावलीं मुक्तेः कंठिकामिव निर्मलाम् ॥२४--१६५॥

भरत महाराज ने भगवान की आराधना कर सम्यग्दर्शन युक्त मुख्य मणि सहित व्रत और शीलों से समलंकृत निर्मल माला अपने कंठ में धारण की, जो मुक्ति-श्री के निर्मल कण्ठहार के समान लगती थी; अर्थात् भरत महाराज ने द्वादश व्रतों द्वारा अपना जीवन अलंकृत किया था। इस कारण वे सुसंस्कृत मणि के समान दैदीप्यमान होते थे। भगवान की दिव्यवाणी सुनकर बारहवें कोठे में पशुओं-पक्षियों के मध्य में स्थित मयूरों को बड़ा हर्ष हुआ, क्योंकि उनको जिनेन्द्र की मधुर वाणी अत्यन्त प्रिय मेघ की ध्वनि सदृश सुनाई पड़ी थी। महाकवि कहते हैं :—

दिव्यध्वनिमनुश्रुत्य जलद-स्तनितोपमम् ।
अशोक-विटपारूढाः सस्वनु-र्दिव्यबर्हिणः ॥२४--१६६॥

मेघ की गर्जना सदृश भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर अशोकवृक्ष की शाखाओं पर स्थित दिव्य-मयूर भी आनन्द से शब्द करने लगे थे।

वृषभसेन गणधर

भगवान की दिव्य देशना से भरत महाराज के छोटे भाई पुरिमतालपुर के स्वामी महाराज वृषभसेन की आत्मा अत्यधिक प्रभावित हुई। वृषभ पिता की कल्याणमयी आज्ञा को ही मानो शिरोधार्य करते हुए इन वृषभपुत्र ने मोक्ष के साक्षात् मार्ग रूप महाव्रतों को अङ्गीकारकर मुनिपदवी प्राप्त की और सप्तऋद्धि से शोभायमान हो प्रथम गणधर की प्रतिष्ठा की। उनके विषय में महापुराणकार के शब्द ध्यान देने योग्य हैं :—

योऽसौ पुरिमतालेशो भरतस्यानुजः कृती ।
प्राज्ञः शूरः शुचिर्धीरो धौरेयो मानशालिनाम् ॥१७१॥
श्रीमान् वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी ।
स सम्बुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाऽभूद् गणाधिपः ॥१७२--पर्व २४॥

उसी समय कुरुवंश के शिरोमणि महाराज श्रेयाँस, महाराज सोमप्रभ तथा अन्य राजाओं ने भी मुनिदीक्षा धारणकर वृषभसेन स्वामी के समान गणनायकत्व प्राप्त किया।

ब्राह्मी आर्यिका

जिस सर्व परिग्रह त्यागवृत्ति को सिंह वृत्ति मान श्रृगाल स्वभाव वाले जीव डरा करते हैं, उस पदवी को निर्भय हो धारण करने में लोगों का साहस वृद्धिगत हो रहा था। भरत महाराज की छोटी बहिन ब्राह्मी ने कुमारी अवस्था में ही वैराग्यभाव जागृत होने से आर्यिका (साध्वी) की श्रेष्ठ पदवी प्राप्त की।

भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः ॥२४—१७५॥

गुरुदेव के अनुग्रह से भरत महाराज की छोटी बहिन कुमारी ब्राह्मी ने दीक्षा लेकर आर्याओं के मध्य गणिनी का पद प्राप्त किया था। आर्यिका ब्राह्मी की देवताओं ने पूजा की थी।

बाहुबलिकुमार की सगी बहिन सुन्दरी ने भी बहिन ब्राह्मी के समान दीक्षा धारण कर मातृजाति को गौरवान्वित किया था।

श्रुतकीर्ति श्रावकोत्तम

उस समय श्रुतकीर्ति नामक गृहस्थ ने श्रावकों के उच्चव्रत ग्रहण किए थे। वह देशव्रती श्रावकों में प्रमुख था। आदिपुराणकार कहते हैं :—

श्रुतकीर्तिर्महाप्राज्ञो गृहीतोपासकव्रतः।
देशसंयमिनामासीत् धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥१७८॥

प्रियव्रता नाम की गुणवती महिला ने श्राविकाओं के व्रत लेकर उच्च गौरव प्राप्त किया था। आचार्य कहते हैं :—

प्रियव्रता महिला-रत्न

उपात्ताणुव्रता धीरा प्रयतात्मा प्रियव्रता।
स्त्रीणां विशुद्धवृत्तीनां बभूवाग्रेसरी सती ॥१७९॥

अणुव्रतों को धारण करनेवाली, धीर, सावधान रहनेवाली प्रियव्रता नाम की सती महिला विशुद्ध चरित्रवाली नारियों में अग्रेसरी हुई।

अनंतवीर्य का सर्वप्रथम मोक्ष

भरत के भाई अनंतवीर्यकुमार ने भी भगवान से मुनिदीक्षा लेकर अपूर्व विशुद्धता प्राप्त की। इस युग में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जानेवाले पूज्य पुरुषों में अनंतवीर्य भगवान का सर्वोपरि स्थान है। कहा भी है :—

संबुद्धोऽनंतवीर्यश्च गुरोः संप्राप्तदीक्षणः।
सुरैरवाप्त-पूजोऽभिरग्र्यो मोक्षवतामभूत् ॥१४—१८१॥

अनंतवीर्य ने प्रतिबोध को प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् से दीक्षा ली और देवों के द्वारा पूजा प्राप्त की। वे इस अवसर्पिणी में मोक्ष जाने वालों में अग्रणी हुए हैं।

मरीचि का मिथ्यात्व

भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले तथा पश्चात् भ्रष्ट हुए समस्त राजाओं ने भगवान की वाणी को सुनकर अपने मिथ्यात्व का परित्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। मरीचिकुमार का संसार-भ्रमण समाप्त नहीं हुआ था, अतः उस जीव ने मिथ्यामार्ग का आश्रय नहीं छोड़ा। कहा भी है :—

मरीचिवर्ज्याः सर्वेपि तापसास्तपसि स्थिताः।
भट्टारकान्ते संबुध्य महाप्राव्राज्यमास्थिताः ॥१८२॥

मरीचिकुमार को छोड़कर शेष सभी कुलिंगी साधुओं ने भट्टारक ऋषभदेव के समीप प्रतिबोध को प्राप्तकर महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की।

जिनेन्द्र भगवान ने आत्म-विशुद्धि के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावरूप सामग्री चतुष्टय की अनुकूलता को आवश्यक कहा है।

ऋषभनाथ भगवान के लोकोत्तर जीवन को देख तथा परम मङ्गलमय उपदेश को सुनकर जहाँ अपरिमित जीवों ने अपना कल्याणसाधन किया, वहाँ दीर्घ संसारी मरीचिकुमार पर उसका रञ्चमात्र भी असर नहीं पड़ा। यथार्थ में काललब्धि का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उसके निकट आने पर मरीचिकुमार के जीव ने सिंह की पर्याय में धर्म को धारण करने का लोकोत्तर साहस किया था।

भरत का अपूर्व भाग्य

भरत महाराज सदृश महान ज्ञानी के भाई, छोटी बहिन ब्राम्ही आदि ने दीक्षा ली, किन्तु भरत महाराज अयोध्या को लौट गए और दिग्विजय आदि साँसारिक व्यग्रताओं में संलग्न हो गए, क्योंकि उनकी परिग्रह परित्याग की पुण्य वेला समीप नहीं आई थी। जब काललब्धि का योग मिला, तो दीक्षा लेकर भरत सम्राट् शीघ्र ही ज्ञान-साम्राज्य के स्वामी बन गए। मुनिपदवी लेने के पश्चात् उन्हें फिर पारणा करने तक का प्रसङ्ग नहीं प्राप्त हुआ। उत्तरपुराण का यह कथन कितना अर्थपूर्ण है :—

आदितीर्थकृतो ज्येष्ठ-पुत्रो राजसु षोडश।
ज्यायांश्चक्री मुहूर्तेन मुक्तोयं कैस्तुलां व्रजेत् ॥७४—४९॥

आदिनाथ तीर्थंकरके ज्येष्ठ पुत्र, सोलहवें मनु, प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ने अंतर्मुहूर्त के अनन्तर ही कैवल्य प्राप्त किया था। उनकी बराबरी कौन कर सकता है?

उस समय धर्म तीर्थंकर की मङ्गलमयी वाणी के प्रसाद से अगणित जीव अपने कल्याण में संलग्न हो गए। उसे देखकर यह प्रतीत होता था, कि भोगभूमि का पर्यवसान होने के उपरान्त नवीन ही धर्मभूमि का उदय हुआ है। तीर्थंकर भगवान के कलंकमुक्त उज्ज्वल जीवन को देखकर भव्य जीव उनकी वाणी की यथार्थता को भली प्रकार समझते थे। समवशरण में आने वाले जीवों के हृदय में यह गहरा प्रभाव पड़ता था, कि रत्नत्रय धर्म के बल से जब इन परम पुरुषार्थी प्रभु

ने मोह का नाशकर अद्भुत विभूति प्राप्त की है, तब इनके प्रत्यक्ष अभ्युदय को देखते हुए मैं आत्मविशुद्धि के मार्ग में क्यों न उद्योग करूँ ? अतः सब उत्साहित हो स्वयमेव धर्म का शरण लेते थे ।

प्रभु का प्रभाव

हरिवंशपुराण में कहा है कि भगवान के समवशरण में बीस हजार केवली थे । "विंशतिस्ते सहस्राणि केवलज्ञानलोचनाः" (१२—७४ हरिवंशपुराण) । उनके गणधरों की संख्या ८४ थी । महावीर भगवान के ग्यारह गणधर कहे गए हैं । चौबीस तीर्थंकरों के गणधरों की संख्या चौदह सौ बावन कही गई है । उनमें प्रथम स्थान वृषभदेव गणधर का माना गया है ।

भगवान के उपदेश का उस समय के सरल-चित्त व्यक्तियों के हृदय पर शीघ्र ही प्रभाव पड़ता था । पहले भगवान ने जो लोगों का उपकार किया था, उसके कारण भी के चित्त में प्रभु के प्रति महान आदर तथा श्रद्धा का भाव था, उस पृष्ठभूमि को देखते हुए भगवान की दिव्यदेशना के प्रभाव का कौन वर्णन कर सकता है ? वृषभनाथ भगवान के द्वारा उस धर्मशून्य युग में पुनः धर्म को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई ।

द्वादशांग श्रुत की रचना

भगवान के उपदेश को सुनकर वृषभसेन गणधर ने द्वादशाँग वाणी की रचना की । भावश्रुत तथा अर्थपदों के कर्ता तीर्थंकर भगवान कहे गए हैं । "भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता" (धवला-टीका भाग १, पृष्ठ ६५) द्रव्यश्रुत के कर्त्ता गणधरदेव कहे गए हैं । महावीर प्रभु की दिव्यध्वनि को लक्ष्य करके वीरसेनाचार्य ने लिखा है "दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता"—द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर थे । ऋषभदेव तीर्थंकर के समय में द्रव्यश्रुत कर्ता वृषभसेन गण-नायक थे ।

द्वादशांग वर्णन

द्वादशाँग रूप जिनवाणी में आचाराँग को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। इस अंग में मुनियों के आचार का अठारह हजार पदों द्वारा प्रतिपादन किया गया है। सूत्रकृताँग में छत्तीस हजार पदों के द्वारा ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना, कल्प्य तथा अकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहार धर्म क्रिया का कथन है। उसमें स्वमत तथा पर सिद्धांत का भी निरूपण है। स्थानाँग नाम के तीसरे अङ्ग में ब्यालीस हजार पदों के द्वारा एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ एक जीव है। ज्ञान दर्शन के भेद से दो प्रकार है। ज्ञान, कर्म, कर्मफलचेतना के रूप से तीन भेदयुक्त है। चारगति की अपेक्षा चतुर्भेद युक्त है इत्यादि। चौथा समवायाँग एक लाख चौसठ हजार पदों के द्वारा पदार्थों के समवाय का वर्णन करता है। वह सादृश्य सामान्य से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम के पंचम अङ्ग में दो लाख अट्ठाइस हजार पदों द्वारा क्या जीव है? या जीव नहीं है? इत्यादि रूप से साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान है। नाथधर्मकथा नामका छठवाँ अङ्ग पाँच लाख छप्पन हजार पदों द्वारा सूत्रपौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से स्वाध्याय की प्रस्थापना हो इसलिए तीर्थंकर की धर्मदेशना का एवं अनेक प्रकार की कथाओं तथा उपकथाओं का वर्णन करता है। सातवें उपासकाध्ययन अङ्ग में ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा श्रावक के आचार का कथन है। अंतकृद्दशाँग नाम थे आठवें अङ्ग में तेइस लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में नाना प्रकार के भीषण उपसर्गों को सहनकर निर्वाण प्राप्त करनेवाले दस-दस अंतकृत् केवलियों का वर्णन किया गया है। नवमें अनुत्तर-औपपादिक दशाङ्ग में बाणवे लाख, चवालीस हजार पदों द्वारा एक एक तीर्थंकर के तीर्थ में उपसर्गों को सहनकर पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले दश-दश महापुरुषों का वर्णन किया गया है। वर्धमान भगवान के तीर्थ में

ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनंद, नंदन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि में जन्मधारण किया है। प्रश्नव्याकरण नाम के दशमें अङ्ग में तेरानवे लाख, सोलह हजार पदों के द्वारा आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी तथा निर्वेदिनी इन चार कथाओं का कथन किया गया है। तत्वों का निरुपण करनेवाली आक्षेपिणी कथा है, एकान्त दृष्टि का शोधन करनेवाली तथा स्वसमय की स्थापना करनेवाली विक्षेपिणी कथा है। विस्तार से धर्म के फल का कथन करनेवाली संवेगिनी कथा है। वैराग्य उत्पन्न करनेवाली निर्वेगिनी कथा है। विपाकसूत्र नामका एकादशम अङ्ग एक करोड़ चौरासी लाख पदों के द्वारा पुण्य और पाप रूप कर्मों के फलों का प्रतिपादन करता है। बारहवाँ अङ्ग दृष्टिवाद है; उसमें तीन सौ त्रेसठ मतों का वर्णन तथा निराकरण किया गया है।

दृष्टिवाद के भेद

दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं :—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूदीपप्रज्ञप्ति, द्वीप-सागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये परिकर्म के पाँच भेद हैं। दृष्टिवाद के द्वितीय भेद सूत्र में अट्ठाइस लाख पदों के द्वारा क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के मतों का वर्णन है। इसमें त्रैराशिकवाद,[1] नियतिवाद,[2] विज्ञानवाद,[3] शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन है।

---

१ "गोशालप्रवर्तिता आजीवकाः पाखण्डिनस्त्रैराशिका उच्यन्ते। ते सर्वं वस्तु त्र्यात्मकमिच्छंति तद्यथा, जीवोऽजीवो जीवाजीवाश्च, लोका अलोका लोकमलोकाश्च, सदसत्सदसत्। नयचिंतायामपि त्रिविधं नयमिच्छंति। तद्यथा द्रव्यास्तिकं, पर्यायास्तिकं, उभयास्तिकं चं" (नंदिसूत्र पृष्ठ २३९)।

प्रथमानुयोग

दृष्टिवाद का तृतीयभेद प्रथमानुयोग है। उसमें पाँचहजार पदों के द्वारा बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया गया है। उन पुराणों में जिनवंश और राजवंशों का वर्णन किया गया है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, विद्याधर, नारायण, प्रतिनारायण, चारणमुनि, प्रज्ञा-श्रमण, कुरुवंश, हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, काश्यपवंशवादियों का वंश तथा नाथवंशों का उन पुराणों में वर्णन है।

दृष्टिवाद का पूर्वगत नामका चतुर्थभेद पंचानवे करोड़ पचास लाख और पाँच पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यादि का वर्णन करता है—"उप्पाद-वय-धुवत्तादीणं वण्णणं कुणइ", (धवलाटीका भाग १, पृ० ११३)।

चूलिका में अपूर्व कथन

चूलिका दृष्टिवाद का पंचमभेद है। वह जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता तथा आकाशगता रूप से पंच प्रकार कही गई है। जलगता चूलिका जल-गमन और जल-स्तंभन के कारणरूप मंत्र, तंत्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदि का वर्णन करती है, (जलगमण-जलत्थंभण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि)। स्थलगता-चूलिका पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणरूप मंत्र, तंत्र और तपश्चरण तथा वास्तुविद्या और भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है। (भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि, वत्थुविज्जं, भूमिसंबंधमण्णं पि सुहासुहकारणं वण्णेदि)। मायागता चूलिका में इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन है। (इंद्रजालं वण्णेदि)। रूपगता

---

२ जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदिवादो णियदिवादो दु ॥गो० कर्मकांड ८८२॥

३ आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे।
थणक्खीरादियाण वा पउसेण विणा ण हि ॥गो० कर्मकांड २९०॥

चूलिका में सिंह, घोड़ा और हरिण आदि के स्वरूप के आकाररूप से परिणमन करने के कारणरूप मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का, तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन है (सीह - हय- हरिणादि - रुवायारेण परिणमण -हेदु -मंत- तंत-तवच्छरणाणि चित्त - कट्ठ - लेप्प - लेणकम्मादि - लक्खणं च वण्णेदि पृ० ११३, धवलाटीका भाग १) । आकाशगता चूलिका द्वारा आकाश में गमन करने के कारण रूप मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन हुआ है । (आयासगया आयासगमण - णिमित्त - मंत - तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि) इन पाँचों ही चूलिकाओं के पदों का जोड़ दश करोड़, उनचास लाख छियालीस हजार है ।

महत्वपूर्ण विचार

इस वर्णन को पढ़ते समय मुमुक्षु के मन में यह प्रश्न सहज उत्पन्न हो सकता है कि द्वादशाङ्ग वाणी में जलगमनादि के साधन मन्त्र-तन्त्रादि का वर्णन क्यों किया गया ? विचार करने पर इसका समाधान यह होगा, कि आचार्यों ने संक्षेपमति शिष्यों के लिए अल्प शब्दों में तत्व कहा है । द्वादशाँग वाणी का सार आचार्य पूज्यपाद-स्वामी ने इन शब्दों में कहा है :—

'जीवोऽन्यः पुद्‍गलश्चान्य इत्यसौ तत्वसंग्रहः'

जीव अन्य है तथा पुद्‍गल अन्य है; यह तत्व का सार है । विस्तार रुचिवाले महाज्ञानपिपासु तथा प्रतिभासम्पन्न शिष्यों के प्रतिबोध निमित्त विस्तृत रूप में वस्तु के स्वरूप का कथन किया गया है । भगवान वीतराग तथा सर्वज्ञ हैं । उनकी दिव्यध्वनि के द्वारा विश्व केसमस्त पदार्थों के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है, जैसे सूर्य के प्रकाश में समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर हो जाते हैं । इस प्रकरण से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आज जो भौतिक विज्ञान का विकास हो रहा है, इससे कई गुना अधिक ज्ञान महावीर भगवान के निर्वाण-समय के १६२ वर्ष पश्चात् तक रहा था । द्वादशाँग के ज्ञाता अंतिम श्रुतकेवली

भद्रबाहुस्वामी हुए हैं। उनके शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त थे, जिन्होंने दिगम्बर मुद्रा स्वीकार की थी। उनकी पावन स्मृति में मैसूर राज्य के अंतर्गत श्रमणवेलगोला स्थल में चन्द्रगिरि पर्वत शोभायमान हो रहा है।

पूर्व युग का विज्ञान

एक बात और ध्यान देने की है, कि जो मुनि सर्वावधिज्ञान के धारक होते हैं, वे परमाणु तक का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। आज का भौतिकशास्त्र जिसे अणु कहता है, वह जैनशास्त्रानुसार अनंत परमाणु पुज्ज स्वरूप है। परमाणु तो इन्द्रियों तथा यंत्रों के अगोचर रहता है। परमाणु का प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले दिगम्बर जैन महर्षियों को जगत् में अज्ञात अनन्त चमत्कारों का ज्ञान रहता है। वीतराग, आत्मदर्शी, मुमुक्षु, महर्षि रहने से उनके द्वारा उस विज्ञान का प्रायः उपयोग नहीं किया जाता था। आगम के प्रकाश से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय तक देश में ऐसे बड़े-बड़े दिगम्बर जैन मुनिराज थे, जिनके द्वारा अवगत भौतिक विद्या के रहस्य को यन्त्रों के आश्रय से चलने वाला आज का विज्ञान स्वप्न में भी नहीं जान सकता है। यह कथन अतिशयोक्ति नहीं है। श्रेष्ठ ज्ञान के चमत्कारों के दर्शनार्थ परिशुद्ध पवित्र संयमी जीवन आवश्यक है। मद्य, मांसादि पाप-प्रवृत्तियों से परिपूर्ण पुरुषों की पहुँच उस तत्व तक नहीं हो सकती है, जहाँ तक पूर्व के मुनीन्द्र पहुँच चुके थे। यथार्थ में ज्ञान तो समुद्र है। कूपमण्डूक की दृष्टिवाले उस ज्ञानसिंधु की क्या कल्पना कर सकते हैं?

र्व-प्ररूपण

दृष्टिवाद के चतुर्थभेद पूर्वगत के उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुप्रवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल तथा लोकबिन्दुसार ये चौदह भेद कहे गए हैं।

आत्म-प्रवाद पूर्व

इनमें आत्मतत्व का निरूपण करने वाला आत्मप्रवाद सातवाँ पूर्व है। इस पूर्व में आत्मा का वर्णन करते हुए कहा है कि आत्मा का पर्यायवाची जीव शब्द है। जो जीता है, जीता था तथा पहले जीवित था, उसे जीव कहते हैं। आत्मा को शुभ अशुभ कार्य का कर्त्ता होने से कर्ता कहते हैं। (सुहमसुहं करेदि त्ति कत्ता)। सत्य-असत्य, योग्य-अयोग्य बोलने से वक्ता, प्राणयुक्त होने से प्राणी, देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी के भेद से चार प्रकार के संसार मेंपुण्य-पाप का फल भोगने से भोक्ता कहते हैं। जीव को पुद्गल भी कहा है। "छव्विह- संठाणं, बहुविह-देहेहि पूरदि गलदित्ति पोग्गलो"—नाना प्रकार के शरीरों के द्वारा छह प्रकार के संस्थान को पूर्ण करता है, और गलाता है; इस कारण पुद्गल है। "सुखदुक्खं वेदेदित्तिवेदो"–सुख, दुःख का वेदन करता है, इसलिए वेद कहलाता है। "उपात्तदेहं व्याप्नोतीति विष्णुः"–प्राप्त हुए शरीर को व्याप्त करता है, इससे विष्णु है। "स्वयमेव भूतवानिति स्वयंभूः"–स्वतः ही अस्तित्ववान रहा है, इससे स्वयंभू है। शरीरयुक्त होने से शरीरी है। "मनुः ज्ञानं तत्र भव इति मानवः"—मनु ज्ञान को कहते हैं। उसमें उत्पन्न हुआ है, इसलिए मानव है। "सजण-सम्बन्ध-मित्त-वग्गादिसु संजदि त्ति सत्ता"—स्वजन सम्बन्धी मित्रादि वर्ग में आसक्त रहने से सक्ता है। "चउग्गइसंसारे जायदि जणयदित्ति जंतू"—चतुर्गति रूप संसार में उत्पन्न होता है, इससे जंतु है। मान कषाय के कारण मानी, माया कषाय के कारण मायी है। मनोयोग, वचन योग, काय योगयुक्त होने से योगी, अत्यन्त संकुचित शरीर धारण करने से संकुट (संकुडो) है। सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करता है, इसलिए असंकुट है। "क्षेत्रं स्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः" स्व स्वरूप को तथा लोकालोक रूपक्षेत्र को जानता है, इससे क्षेत्रज्ञ है। "अट्ठकम्मब्भंतरो त्ति अंतरप्पा" —अष्टकर्मों के भीतर रहने से अन्तरात्मा कहलाता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है– "व्यवहारेण अष्टकर्माभ्यन्तरवर्तिस्वभावत्वात्

निश्चयेन चैतन्याभ्यंतरवर्तिस्वभावत्वाच्च अंतरात्मा" (संस्कृत टीका पृ० ३६६)—व्यवहार नय से अष्ट कर्मों के भीतर रहने से तथा निश्चय नय की अपेक्षा चैतन्य के भीतर विराजमान रहने से अन्तरात्मा कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मप्रवाद नाम के सप्तम पूर्व में आत्मा के विषय में विविध अपेक्षाओं का आश्रय ले सर्वाङ्गीण प्रकाश डाला गया है।

विद्यानुवाद का प्रमेय

दशम पूर्व विद्यानुवाद के विषय म धवला टीका में लिखा है—कि यहअंगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरीक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, छिन्न इन आठ महा निमित्तों का वर्णन करता है। आज भी विद्यानुवाद का कुछ अंश किन्हीं-किन्हीं शास्त्र भंडारों में हस्तलिखित प्रति के रूप में मिलता है। उसके स्वाध्याय से ज्ञात होता है कि मंत्र विद्या में भी जैन साधुओं ने बड़ी प्रगति की थी।

अक्षरों का विशेष रूप में रचा गया समुदाय मंत्र है। उच्च श्रुतज्ञान के सिवाय श्रेष्ठ अवधि, मन:पर्यय ज्ञानधारी ऋषिवर ज्ञाननेत्रों से शब्दों और उनके द्वारा होने वाले पौद्गलिक परिवर्तनों को जान सकते थे। जैसे हम नेत्रों से स्थूल वस्तुओं को देखते हैं, वैसे वे सूक्ष्म परमाणुओं तक को ज्ञान नेत्र से देखते थे। जिस प्रकार विष आदि पदार्थों के द्वारा रक्त आदि पर प्रभाव पड़ता है, इस प्रकार का परिवर्तन ये मुनीन्द्र शब्दों के द्वारा उत्पन्न होते हुए देखते थे।

उदाहरण के लिए सर्पदंशजनित विष प्रसार को रोकने के हेतु चिकित्सक औषधियों का प्रयोग करता है। शब्दों की सामर्थ्य को प्रत्यक्ष जानने वाले इन जैन ऋषियों ने ऐसे शब्दात्मक गूढ़ मंत्रों की संयोजना की, जिससे अत्यन्त अल्पकाल में विष उतर जाता है। आज के लोग प्राय: इस विद्या के अपरिचयवश इस विज्ञान को ही

अयथार्थ कहने का अतिसाहस करते हैं। यह समझना कि हमारे सिवाय अन्य सब अज्ञानी हैं, सत्पुरुषों के लिए योग्य बात नहीं है।

अशोभन कार्य

गणधरदेव, द्वादशाँगपाठी, श्रुतकेवली आदि श्रेष्ठ यतीन्द्र मंत्र, तंत्र विद्या के महान ज्ञाता रहे हैं; इसलिए किन्हीं साधुओं को अथवा अन्य समर्थ आत्माओं को मंत्रशास्त्र का अभ्यास करते देख जो उनकी निन्दा तथा अवर्णवादका कोई-कोई लोग पथ पकड़ा करते हैं, वह अप्रशस्त, अशोभन एवं अभद्रकार्य है। यदि यह विद्या एकान्त रूप से अकल्याणकारी होती तो सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में उसका अर्थ रूप से प्रतिपादन न होता और न उस पर परम वीतराग गणधरदेव सदृश साधुराज ग्रंथरूप में रचना करने का कष्ट करते अतः अज्ञानमूलक आक्षेप करने की प्रवृत्ति में परिवर्तन आवश्यक है।

शरीर-शास्त्र का प्रतिपादन

द्वादशमपूर्व प्राणावाय में अष्टाङ्ग आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिए किए गए भस्मलेपन, सूत्रबंधनादि कर्म, जाँगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

भगवान ने गृहस्थावस्था में भरत बाहुबलि आदि पुत्रों को उनकी नैसर्गिक रुचि, पात्रता आदि को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न विषय के शास्त्रों की स्वयं शिक्षा दी थी। उससे प्रभु का ज्ञान के विषय में दृष्टिकोण स्पष्ट होता था। अब सर्वज्ञ ऋषभनाथ तीर्थंकर की दिव्यध्वनि में प्रतिपादित ज्ञानराशि का अनुमान उसके रहस्य के ज्ञापक द्वादशांग शास्त्र, जिसे जैन वेद भी कहते हैं, के द्वारा हो जाता है। महापुराण में कहा है, "श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाँगमकल्मषम्" (पर्व ३९—२२)।

ग्रंथों की अनुपलब्धि का कारण

कभी कभी मन में यह आशंका उत्पन्न होती है, कि इतनी विशाल जैनों की ग्रंथराशि पहले थी, तो अब वह क्यों नहीं उपलब्ध होती है ? इतिहास के परिशीलन से पता चलता है, कि जैन-संस्कृति के विरोधी वर्ग ने जिस क्रूरता से ग्रन्थों का ध्वंस किया, उसका अन्य उदाहरण कहीं भी न मिलेगा।[1] उस जैन-धर्म-विरोधी मनोवृत्ति के कारण जहाज भर-भर के जैन-ग्रन्थ नष्ट कर दिए गए। प्रोफेसर आर० तुङ्गभद्रा तथा ताताचार्य ने लिखा था, कि हजारों ताड़पत्र के ग्रन्थ कावेरी नदी में डुबा दिए गए थे।[2] अत्याचार, प्रमाद तथा अज्ञान के कारण लोकोत्तर महान साहित्य नष्ट हो चुका। जो शेष बचा है, वह भी अनुपम है। उसके भीतर भी वही सर्वज्ञ वाणी का मथितार्थ भरा है, जिसके परिशीलन से आत्मा आनन्द और आलोक प्राप्त करती है।

दिव्य-ध्वनि

भगवान की दिव्यध्वनि से अमृतरस का पान कर इन्द्र ने प्रभु की स्तुति की और कहा :—

तव वागमृतं पीत्वा वयमद्यामराः स्फुटम्।
पीयूषमिदमिष्टं नो देव सर्वरुजाहरम् ॥२०--२६॥

हे देव ! आपके वचनरूपी अमृत को पीकर आज हम लोग वास्तव में अमर हो गए हैं, इसलिए सब रोगों को हरनेवाला आपका यह वचन रूप अमृत हम लोगों को बहुत ही इष्ट है।

सौधर्मेन्द्र द्वारा मार्मिक स्तुति

सौधर्मेन्द्र ने भगवान की अत्यन्त मार्मिक स्तुति की। धर्म-

---

1. Outlines of Jainism by Justice J. L. Jaini page XXXVIII.
2. Several thousands of palmyra manuscripts have been thrown into the Kaveri or Tungabhadra. [English Jain Gazette page 178, XVI]

साम्राज्य के स्वामी जगत्पिता जिनेन्द्र के विहार के योग्य समय को विचार कर विवेकमूर्ति सुरेन्द्र ने प्रभु के समक्ष उनके विहारार्थ इस प्रकार विनयपूर्ण निवेदन किया :—

भगवन् भव्य-सस्यानां पापावग्रहशोषिणाम् ।
धर्मामृत-प्रसेकेन त्वमेधि शरणं विभो ।।२५—२२८।।

हे भगवन् ! भव्य जीवरूपी धान्य पापरूपी अनावृष्टि अर्थात् वर्षाभाव से सूख रहे हैं। उन्हें धर्मरूपी अमृत से सींचकर आपही शरणरूप होइये ।

भव्यसार्थाधिप-प्रोद्यद्-दयाध्वजविराजितम् ।
धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योग-साधनम् ।।२२६।।

हे भव्यवृन्द-नायक जिनेन्द्र ! हे दयाध्वज-समलंकृत देव ! आपकी विजय के उद्योग को सिद्ध करनेवाला यह धर्मचक्र तैयार है ।

निर्धूय मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीम् ।
तवोपदेष्टुं सन्मार्ग-कालोयं समुपस्थित: ।।२३०।।

हे स्वामिन् ! मोक्षमार्ग को रोकने वाली मोह सेना का विनाश करने के पश्चात् अब आपका यह समीचीन मोक्षमार्ग के उपदेश देने का समय उपस्थित हुआ है ।

सुरेन्द्र द्वारा प्रभु के धर्मविहार हेतु प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव में यह महत्वपूर्ण बात कही गई है, कि भगवान ने मोह की सेना का ध्वंस कर दिया है, अतएव वीतमोह जिनेन्द्र वीतरागता की प्रभावपूर्ण देशना करने में सर्वरूप से समर्थ हैं ।

विहार प्रारम्भ

इन्द्र की प्रार्थना के पश्चात् भगवान ने भव्यरूपी कमलों के कल्याणार्थ विहार प्रारम्भ किया । महापुराणकार कहते हैं :—

त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपूरुषः ।
प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकः ।।२४।।

त्रिलोकीनाथ, धर्मचक्र के स्वामी समवशरण लक्ष्मी से शोभायमान आदिपुरुष वृषभनाथ तीर्थंकर ने अधर्म पर विजय का उद्योग प्रारम्भ किया।

विहार का परिणाम

भगवान के विहार के समय पुण्य सारथि के द्वारा प्रेरित अगणित देवों का समुदाय सर्व प्रकार की श्रेष्ठ व्यवस्था निमित्त तत्पर था। तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते समय होनहार तीर्थंकर की यह विशुद्ध मनोकामना थी, कि मैं समस्त जगत् के जीवों में सच्चे धर्म की ज्योति जगाऊँ और मिथ्यात्वरूप अंधकार का क्षय करूँ, अतएव तीर्थंकर प्रकृति की परिपक्व अवस्था में जीवों के पुण्य से आकर्षित हो उन दयाध्वजधारी जिनेन्द्र ने नाना देशों को विहार द्वारा पवित्र किया। धर्मशर्माभ्युदय में कहा है :—

> अथ पुण्यैः समाकृष्टो भव्यानां निःस्पृहः प्रभुः।
> देशे देशे तमश्छेत्तुं व्यचरद्भानुमानिव ॥२१—१६७॥

भव्यात्माओं के पुण्य से आकर्षित किए गए उन निस्पृह प्रभु ने सूर्य के समान नाना देशों में अंधकार का क्षय करने के लिए विहार किया।

भगवान के विहार द्वारा जीवों के त्रिविध सन्ताप अर्थात् आध्यात्मिक, अधिभौतिक एवं अधिदैविक सन्ताप दूर हो जाते थे। धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है :—

> यत्रातिशयसम्पन्नो विजहार जिनेश्वरः।
> तत्र रोग-ग्रहातंक-शोकशंकापि दुर्लभा ॥१७३॥

चौतीस अतिशयधारी जिनेन्द्रदेव का जहाँ-जहाँ विहार होता था, वहाँ-वहाँ रोग, अशुभ ग्रह, आतंक तथा शोक की शंका भी दुर्लभ थी अर्थात् उनका अभाव हो जाता था। परमागम में इस संसार को एक समुद्र कहा है, जो स्व-कृत-कर्मानुभावोत्थ है अर्थात् जीवों के

द्वारा स्वयं किए गए कर्मों के माहात्म्य से उत्पन्न हुआ है, अत्यन्त दुस्तर है, व्यसनरूपी भँवरों से भरा हुआ है। दोषरूपी जल-जन्तुओं से व्याप्त है, अपार है, अत्यन्त गहरा होने से उसकी थाह का पता नहीं है। वह परिग्रहधारी जीवों के द्वारा कभी भी नहीं तिरा जा सकता है—"अतार्यं ग्रंथिकात्मभिः।" उस अलौकिक महासागर के पार जाने के लिए सम्यक्ज्ञानरूपी नौका आवश्यक है—"सज्ज्ञान-नावा संतार्यं।" भगवान के द्वारा आत्मज्ञान की जागृति होती थी। इससे अगणित प्राणी सम्यक्ज्ञान रूपी नौका को प्राप्त कर लेते थे।

ये तीर्थंकर परमगुरु ज्ञानामृत द्वारा सन्ताप दूर करनेवाले चन्द्र सदृश थे। भव्य जीव रूपी तृषित पृथ्वी के लिए दया रूपी जल से परिपूर्ण जलधर समान थे। भ्रम तथा मिथ्यात्व रूपी अनादि-कालीन अन्धकार का नाश करनेवाले सूर्य तुल्य प्रतीत होते थे।

समवशरण विस्तार

संसार सिन्धु में डूबते हुए जीवों की रक्षा करता हुआ यह[1] समवशरण अनुपम तथा अलौकिक जहाज समान दिखता था।

---

१ ऋषभनाथ तीर्थंकर का समवशरण द्वादश योजन विस्तारयुक्त था। शेष तीर्थंकरों का समवशरण क्रमशः आधा-आधा योजन कम विस्तार वाला था। वीर भगवान का एक योजन विस्तारयुक्त समवशरण था। निर्वाण-भक्ति में पार्श्वनाथ भगवान का समवशरण सवा योजन विस्तारयुक्त कहा है:—

समवशरणमानं योजनं द्वादशादि।
जिनपति-यदु-यावद्योजनार्धार्धहानिः॥
कथयति जिनपार्श्वे योजनैकं सपादम्।
निगदित-जिनवीरे योजनैकं प्रमाणम्॥२९॥

तिलोयपण्णत्ति में कहा है कि यह कथन अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा है। उत्सर्पिणी काल में हीनक्रम के स्थान में विपरीत क्रम होगा। उसमें अंतिम तीर्थंकर का समवशरण द्वादश योजन प्रमाण होगा।

विहार के स्थान

भगवान ने सम्पूर्ण भव्यों को मोक्षमार्ग में लगाने की दृष्टि से धर्मतीर्थ प्रवर्तन हेतु सर्वदेशों में विहार किया था। तीर्थंकरों का विहार धर्मक्षेत्रों में कहा गया है। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

मध्यदेशे जिनेशेन धर्मतीर्थे प्रवर्तिते।
सर्वेष्वपि च देशेषु तीर्थमोहो न्यवर्तत ॥३ सर्ग—११॥

मध्यदेश में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के उपरांत उन वीर भगवान ने सम्पूर्ण देशों में विहार करके धर्म के विषय में अज्ञान भाव का निवारण किया था।

भगवान ने भारतवर्ष में ही विहार नहीं किया था, किन्तु भारत के बाहर भी वे गए थे। उनका विहार धर्म क्षेत्र में हुआ था। आर्यखण्ड में यूरोप, अमेरिका, चीन, जापान आदि देशों का समावेश होता है। भगवान का समवशरण पाँच मील, पाँच फर्लांग तथा सौ गज ऊँचाई पर रहता था। ऐसी स्थिति में यह आशंका, कि म्लेच्छ समान आचरण करने वाले अतः अन्यों की भूमि में भगवान कैसे रहते होंगे, सहज ही शान्त हो जाती है। भगवान को भूतल पर उतरने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। पृथ्वी चाहती थी कि देवाधिदेव के चरणस्पर्श द्वारा मैं कृतार्थ हो जाऊँ, किन्तु वे भगवान भूतल का स्पर्श तक नहीं करते थे। इसके सिवाय एक बात और ध्यान देने की है, कि जिनेन्द्रदेव की सेवा में संलग्न इन्द्र तथा उनके परिकर असंख्य देवों के निमित्त से सर्वप्रकार की सुव्यवस्था हो जाती थी। तीर्थंकर प्रकृति का पुण्य सामान्य नहीं होता। उसके समान अन्य पुण्य नहीं कहा गया है। वह अद्भुत है।

विदेशों में वीतरागता तथा अहिंसा तत्वज्ञान से संबंधित सामग्री का सद्भाव यह सूचित करता है, कि उस प्रदेश में पवित्रता का बीज बोने के लिए अवश्य धर्म-तीर्थंकर का विहार हुआ था। महापुराणकार ने कहा है :—

जगत्त्रितयनाथोपि धर्मक्षेत्रेष्वनारतम् ।
उप्त्वा सद्धर्मबीजानि न्यषिचद्धर्मवृष्टिभिः ॥४७--३२१॥

त्रिलोकीनाथ ने धर्मक्षेत्र में सद्धर्मरूपी बीज बोने के साथ ही साथ धर्मवृष्टि के द्वारा उसको सींचा भी था ।

आत्म-तत्व की लोकोत्तरता

अनादिकाल से जीव बंध मार्ग की कथा, शिक्षा, चर्या में प्रवीणता दिखाता रहा है । काम, भोग सम्बन्धी वार्ता से जगत् का निकटतम परिचय रहा है । अविभक्त (अद्वैत) आत्मा की बात उसे कठिन प्रतीत होती है । समयसार में कहा है :—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहोऽविहत्तस्स ॥४॥

सब लोगों को काम तथा भोग विषयक बंध की कथा सुनने में आई है, परिचय में आई है और अनुभव में भी आई है; इसलिए वह सुलभ है किन्तु रागादि रहित आत्मा के एकत्व की बात न कभी सुनी, न परिचय में आई और न अनुभव में आई; अतएव यह सुलभ नहीं है ।

अनादि अविद्या के कारण अपनी आत्मा सम्बन्धी वार्ता पराई सी दिखती है और अनात्म परिणति एवं जगत् के जंजाल में फँसने वाली बात मधुर लगती है । रोगी को अपथ्य आहार अच्छा लगता है । यही दशा मोह रोग से पीड़ित इस जीव की है । ऐसे रोगी की सच्ची चिकित्सा तीर्थंकर भगवान के द्वारा होती है । इसीलिए भगवान को 'भिषग्वर' अर्थात् वैद्यशिरोमणि और उनकी वाणी को 'औषधि' कहा है । भगवान ऋषभदेव एवं उनके पश्चात्कालीन शेष तीर्थंकरों ने अपनी मुक्तिदायिनी महौषधि के द्वारा जगत के मोहज्वरजनित सन्ताप को दूर किया था । इससे अगणित भव्य जीवों ने आत्म सम्बन्धी सच्ची नीरोगता (स्वस्थता) प्राप्त की ।

उपदेश का सार

संक्षेप में भगवान के उपदेश का भाव हरिवंशपुराण में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है। आचार्य कहते हैं—जिनेन्द्रदेव ने कहा था सम्पूर्ण सुखों की खानि तुल्य धर्म है, उसे सर्वप्रकार के प्रयत्न द्वारा प्राणियों को पालना चाहिये। वह धर्म जीवों पर दया आदि में विद्यमान है। देव समुदाय में तथा मनुष्यों में जो इन्द्रिय और विषयजनित सुख प्राप्त होता है, वह सब धर्म सेउ त्पन्न हुआ है। जो कर्मक्षय से उत्पन्न आत्मा के आश्रित तथा अनन्त निर्वाण का सुख है, वह भी धर्म से ही उत्पन्न होता है। सूक्ष्म रूप से दया, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य, अमूर्च्छा (परिग्रह त्याग) मुनियों का धर्म है और स्थूल रूप से उनका पालन गृहस्थों का धर्म है। गृहस्थों का धर्म दान, पूजा, तप तथा शील इस प्रकार चतुर्विध कहा गया है। यह धर्म भोग-त्याग स्वरूप है। सम्यग्दर्शन इस धर्म का मूल हे। उससे महान् ऋद्धि युक्त देवों की लक्ष्मी प्राप्त होती है। मुनि धर्म के द्वारा पुष्ट मोक्ष सुख प्राप्त होता है।

जिनेन्द्रोऽपि जगौ धर्मः कार्यः सर्वसुखाकरः।
प्राणिभिः सर्वयत्नेन स्थितः प्राणिदयादिषु ॥१०—४॥
सुखं देवनिकायेषु मानुषेषु च यत्सुखं।
इन्द्रियार्थसमुद्भूतं तत्सर्वं धर्मसंभवं ॥५॥
कर्मक्षयसमुद्भू तमपवर्गसुखं च यत्।
आत्माधीनमनंतं तद् धर्मादेवोपजायते ॥६॥
दयासत्यमथास्तेयं ब्रह्मचर्यममूर्च्छता।
सूक्ष्मतो यतिधर्मः स्यात्स्थूलतो गृहमेधिनां।
दानपूजातपः शीललक्षणश्च चतुर्विधः।
त्यागजश्चैव शारीरो धर्मो गृहनिषेविणां ॥८॥
सम्यग्दर्शनमूलोऽयं महर्द्धिकसुरश्रियं।
ददाति यतिधर्मस्तु पुष्टो मोक्ष—सुखप्रदः ॥९॥

अबुद्धिपूर्वक क्रिया

तीर्थंकर के विहार के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जाता है

कि भगवान भव्य जीवों के सन्ताप दूर करने के लिये जो विहार करते हैं, उस समय उनके पैरों को उठाकर डग भरते हुए गमन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान के इस प्रकार की क्रिया का सद्भाव स्वीकार करना इच्छा के अस्तित्व का सन्देह उत्पन्न करता है।

समाधान :—मोहनीय कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनेन्द्र भगवान की इच्छा का पूर्णतया अभाव हो चुका है, फिर भी उनके शरीर में जो क्रिया होती है, वह अबुद्धिपूर्वक स्वभाव से होती है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दस्वामी ने लिखा है कि :—

ठाण-णिसेज्ज-विहारा धम्मुवदेसो हि णियदयो तेंसि।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इच्छीणं ॥४४॥

अरहंत भगवान के अरहंत अवस्था में खड़े होना, पद्मासन से बैठना, विहार करना तथा धर्मोपदेश देना ये कार्य स्वभाव से ही पाए जाते हैं, जिस प्रकार स्त्रियों में माया का परिणाम स्वभाव से होता है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव की दिव्यदेशना इच्छा के बिना होती है इसी प्रकार उनके शरीर में खड़े रहना, बैठना तथा विहार करना रूप कार्य भी इच्छा के बिना ही होते हैं।

समवशरण में प्रभु का आसन

समवशरण में विहार के पश्चात् भगवान खड्गासन में रहते हैं या उनके पद्मासन हो जाता है ?

समाधान :—समवशरण में भगवान पद्मासन से विराजमान रहते हैं। हरिवंशपुराण में लिखा है कि महावीर भगवान के दर्शनार्थ चतुरङ्ग सेना समन्वित सम्राट श्रेणिक ने सिंहासन पर विराजमान वीर भगवान के दर्शन कर उनको प्रणाम किया था। श्लोक में 'सिंहासनोपविष्टं' शब्द का अर्थ है सिंहासन पर बैठे हुए। मूल-श्लोक इस प्रकार है :—

सिंहासनोपविष्टं तं सेनया चतुरङ्गया।
श्रेणिकोपि च संप्राप्तः प्रणनाम जिनेश्वरम् ॥२—७१॥

इस प्रकरण में यह बात भी ज्ञातव्य है कि वीर भगवान ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

उसहो य वासुपुज्जो णेमी पल्लंकबद्धया सिद्धा।
काउस्सग्गेण जिणा सेसा मुत्ति समावण्णा ॥४—१२१०॥

ऋषभनाथ भगवान, वासुपूज्यस्वामी तथा नेमिनाथ भगवान ने पल्यंकबद्ध आसन से तथा शेष तीर्थंकरों ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया है।

शाँतिनाथपुराण में लिखा है कि समवशरण में शाँतिनाथ भगवान का पल्यंकासन था। कहा भी है :—

श्रेष्ठ षष्ठोपवासेन धवले दशमीदिने।
पौषमासि दिनस्यान्ते पल्यंकासनमास्थित :॥६२॥
निर्ग्रन्थो नीरजो वीतविघ्नो विश्वैकबांधवः।
केवलज्ञान-साम्राज्यश्रिया शांतिमशिश्रियत् ॥६३॥

धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है कि धर्मनाथ तीर्थंकर समवशरण में बैठे हुए थे। कहा भी है :—

रत्नज्योतिर्भासुरे तत्र पीठे तिष्ठन् शुभ्रभामंडलस्थः।
क्षीरांभोधेः सिच्यमानः पयोभिर्भूयो रेजे कांचनाद्राविवोच्चैः ॥२०—६॥

तिलोयपण्णत्ति के उपरोक्त कथन के प्रकाश में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्मनाथ, शाँतिनाथ तथा महावीर भगवान का मोक्ष कायोत्सर्ग आसन से हुआ है, किन्तु समवशरण में वे पद्मासन से विराजमान थे। अतएव केवलज्ञान होने पर समवशरण में तीर्थंकर भगवान को पद्मासन मुद्रा में विराजमान मानना उचित है। सिंहासन रूप प्रातिहार्य अरहंत भगवान के पाया जाता है; उस पर कायोत्सर्ग आसन से रहने की कल्पना उचित नहीं दिखती है। एक बात यह भी विचारणीय है; कि द्वादश सभाओं में समस्त जीव बैठे रहें और भगवान खड़े रहें, ऐसा मानने पर भक्त जीवों पर अविनय का दोष

आए बिना न रहेगा। तीन लोक के नाथ खड़े रहें और उनके चरणों के आराधक जीव बैठे रहें!

ज्ञानार्णव में पिंडस्थ ध्यान के प्रकरण में सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान जिनेन्द्रदेव के स्वरूप चिंतवन करने का कथन-आया है। अतः यह बात आगम तथा युक्ति के अनुकूल है कि समव-शरण में भगवान सिंहासन पर पद्मासन मुद्रा में से विराजमान रहते हैं। विहार में कायोत्सर्ग आसन रहता है; उसके पश्चात् पद्मासन हो जाता है। आसन में परिवर्तन मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती।

आदिनाथ भगवान की आयु चौरासी लाख पूर्व प्रमाण थी। उसमें बीस लाख पूर्व कुमारकाल के, त्रेसठ लाख पूर्व राज्यकाल के, एक हजार वर्ष तपश्चरण के तथा एक सहस्र वर्ष एवं चौदह दिन कम कम एक लाख वर्ष पूर्व विहार के थे। चौदह दिन योगनिरोधके थे।

कैलाशगिरि पर आगमन

भगवान को सिद्धालय प्राप्त करने में जब चौदह दिन शेष रहे, तब वे प्रभु कैलाशगिरि पर आ गए। कैलाशपर्वत पर प्रभु पद्मासन से विराजमान हुए।

विविध स्वप्न-दर्शन

जिस दिन योग निरोधकर भगवान कैलाशगिरि (अष्टापद पर्वत) पर विराजमान हुए, उस दिन भरत चक्रवर्ती ने स्वप्न में देखा:—

तदा भरतराजेन्द्रो महामंदरभूधरं।
आप्राग्भारं व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्घ्येण संस्थितं।।४७--३२२।।

महा मंदराचल (सुमेरु पर्वत) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ प्राग्भार पृथ्वी (सिद्ध-लोक) तक पहुँच गया है।

भरत-पुत्र युवराज अर्ककीर्ति ने स्वप्न में देखा, एक महौषधि का वृक्ष स्वर्ग से आया था। मनुष्य का जन्म-रोग नष्टकर वह पुनः स्वर्ग में चला गया। गृहपतिरत्न ने देखा कि एक कल्पवृक्ष लोगों को मनोवाँछित पदार्थ देता था, अब वह कल्पद्रुम स्वर्गप्राप्ति के लिए तत्पर है। चक्रवर्ती के प्रमुख मन्त्री ने देखा कि एक रत्नदीप जीवों को त्न देने के पश्चात् आकाश में जाने के लिए उद्यत हो रहा है। सेनापति ने देखा, एक सिंह वज्र के पिंजरे को तोड़कर कैलाश पर्वत को उल्लंघन करने को लिए तैयार हुआ है। जयकुमार के पुत्र अनंतवीर्य ने देखा कि त्रिलोक को प्रकाश करता हुआ तारकेश्वर अर्थात् चन्द्रमा ताराओं सहित जा रहा है।

चक्रवर्ती की पट्टरानी सुभद्रा का स्वप्न था :—

यशस्वती-सुनंदाभ्यां सार्धं शक्र-मनःप्रिया।
शोचंतीश्चिरमद्राक्षीत् सुभद्रा स्वप्नगोचरा ॥३३०॥

वृषभदेव भगवान की रानी यशस्वती और सुनन्दा के साथ शक्र अर्थात् इन्द्र की मनःप्रिया अर्थात् महादेवी (इन्द्राणी) बहुत काल पर्यन्त शोक कर रही है।

स्वप्न-फल

इन स्वप्नों का फल पुरोहित ने यह बताया :—

कर्माणि हत्वा निर्मूलं मुनिभिर्बहुभिः समं।
पुरोः सर्वेपि शंसंति स्वप्नाः स्वर्गाग्रगामितां ॥३३३॥

ये समस्त स्वप्न यह सूचित करते हैं कि भगवान वृषभदेव समस्त कर्मों का निर्मूल नाशकर अनेक मुनियों के साथ मोक्ष पधारेंगे।

आनन्द द्वारा समाचार

इतने में आनन्द नाम के व्यक्ति ने चक्रवर्ती भरतेश्वर को भगवान का सर्व वृत्तान्त बताया कि :—

ध्वनौ भगवता दिव्ये संहृते मुकुलीभवत्।
कराम्बुजा सभा जाता पूष्णीव सरसीत्यसौ ॥३३५॥

दिव्यध्वनि का निरोध

भगवान की दिव्यध्वनि का खिरना अब बन्द हो गया है, इससे सूर्य अस्त के समय जैसे सरोवर के कमल मुकुलित हो जाते हैं उसी प्रकार सब सभा हाथ जोड़े हुए मुकुलित हो रही है।

कैलाश पर भरतराज

इस समाचार को सुनते ही भरत चक्रवर्ती तत्काल कैलाश पर्वत पर पहुँचे, उनकी तीन परिक्रमा करके स्तुति की।

महामह-महापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयं।
चतुर्दशदिनान्येवं भगवंतमसेवत ।।३३७।।

चक्रवर्ती ने महामह नाम की महान पूजा भक्तिपूर्वक स्वयं की तथा चौदह दिन पर्यन्त भगवान की सेवा की।

यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, कि सर्व सामग्री का सन्निधान होते हुए भी आदिनाथ जिनेन्द्र की लोककल्याण निमित्त खिरने वाली दिव्य वाणी बन्द हो गई, क्योंकि क्षण-क्षण में विशेष विशुद्धता को प्राप्त करने वाले इन प्रभु की शुद्धोपयोग रूप अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित हो गई है और अब उसमें अघातिया कर्मों को भी स्वाहा करने की तैयारी आत्मयज्ञ के कर्त्ता जिनेन्द्र ने की है। प्रारम्भ में निर्दयता पूर्वक पाप कर्मों को नष्ट किया था और अब शुभ भावों द्वारा बाँधी गई पुण्य प्रकृतियों का भी शुद्ध भावरूपी तीक्ष्ण तलवार के द्वारा ध्वंस का कार्य शीघ्र आरम्भ होने वाला है। संसार के जीवों की अपेक्षा प्रिय और पूज्य मानी गई तीर्थंकर प्रकृति तक अब इन वीतराग प्रभु को सर्वथा क्षययोग्य लगती है, क्योंकि ऐसा कोई भी कर्म का उदय नहीं है, जो सिद्ध पदवी के प्राप्त करने में विघ्नरूप न हो। पंचाध्यायी में लिखा है :—

नहि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात् सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ।।२--२५०।।

ऐसा कोई भी कर्म का उदय नहीं है जो आत्मा को आनन्द प्रदान करे, क्योंकि सभी कर्म का उदय आत्मस्वरूप से विपरीत स्वभाव वाला है । इस कथन के प्रकाश में यह बात सिद्ध होती है कि स्वभाव परिणति की उपलब्धि में बाधक तथा विभाव परिणति के कारण होने से सभी कर्म त्यागने योग्य हैं । सुवर्णवर्ण के सर्प द्वारा दंश प्राप्त व्यक्ति उसी प्रकार मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है, जिस प्रकार श्याम सर्पराज के द्वारा काटा गया व्यक्ति भी प्राणों का त्याग करता है। इसलिए शुद्धोपयोगी ऋषिराज ऋषभदेव तीर्थंकर ने दिव्य उपदेश देना बन्द कर दिया है । जितना कहना था, सब कह चुके । अन्य जीवों के उपकार हेतु यदि भगवान लगे रहें, तो वे सिद्धि वधू के स्वामी नहीं बन सकेंगे, इसलिए अब भगवान पूर्ण निर्मलता सम्पादन के श्रेष्ठ उद्योग में संलग्न हैं ।

योग-निरोधकाल

अन्य तीर्थंकरों के योगनिरोध का समय एक माह पर्यंत कहा गया है, इतना विशेष है कि वर्धमान भगवान ने जीवन के दो दिन शेष रहने पर योगनिरोध आरंभ किया था । यही बात निर्वाण भक्ति में इस प्रकार कही गई है :—

आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्त-योगः
षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्धमानः !
शेषाविधूतघनकर्मनिबद्धपाशाः
मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगाः ।।२६।।

ऋषभनाथ भगवान ने मन, वचन, काय के निरोध का कार्य चौदह दिन पूर्व किया था तथा वर्धमान जिनने दो दिन पूर्व योगनिरोध किया । घनकर्म राशि के बंधन को दूर करने वाले बाईस तीर्थंकरों ने एक माह पूर्व मन, वचन, काय की बाह्य क्रिया का निरोध प्रारंभ किया था ।

समुद्घात-क्रिया

हरिवंशपुराण में लिखा है जिस समय केवली की आयु अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाती है और गोत्र आदि अघातिया कर्मों की स्थिति भी आयु के बराबर रहती है, उस समय सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है। यह मन, वचन, काय की स्थूल क्रिया के नाश होने पर उस समय होता है जब स्वभाव से ही काय सम्बंधी सूक्ष्मक्रिया का अवलंबन होता है।

> अंतर्मुहूर्तशेषायुः स यदा भवतीश्वरः।
> तत्तुल्यस्थितिवेद्यादित्रितयश्च तदा पुनः ॥५६—६६॥
>
> समस्तं वाग्मनोयोगं काययोगं च बादरं।
> प्रहाप्यालंब्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः ॥७०॥
>
> तृतीयं शुक्लसामान्यात्प्रथमं तु विशेषतः।
> सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति-ध्यानमास्कंतुमर्हति ॥७१॥

तत्वार्थराजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने लिखा है; जब संयोग केवली की आयु अंतर्मुहूर्त प्रमाण रहती है और शेष वेदनीय, नाम तथा गोत्र इन कर्मत्रय की स्थिति अधिक रहती है, उस समय आत्म उपयोग के अतिशययुक्त साम्य भाव समन्वित विशेष परिणाम सहित महासंवर वाला शीघ्र कर्मक्षय करने में समर्थ योगी शेष कर्मरूपी रेणु के विनाश करने की शक्ति युक्त स्वभाव से दंड, कपाट, प्रतर, तथा लोक पूरण रूप आत्म प्रदेशों का चार समय में विस्तार करके पश्चात् उतने ही समयों में विस्तृत आत्म प्रदेशों को संकुचित करता हुआ चारों कर्मों की स्थिति-विशेष को एक बराबर करके पूर्व शरीर बराबर परिमाण को धारण करके सूक्ष्म काययोग को धारण करता हुआ सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नाम के ध्यान को करता है। मूलग्रंथ के शब्द इस प्रकार हैं:—"यदा पुनरंतर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तोऽधिक-स्थितिविशेषकर्मत्र्यो भवति योगी, तदात्मोपयोगातिशयस्य सामा-यिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्य शेषकर्मरेणु-परिशातनशक्ति - स्वाभाव्यात् दंड - कपाट - प्रतर - लोक-

पूरणानि स्वात्मप्रदेश-विसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वा पुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृत-प्रदेश-विसरणः समी-कृत-स्थितिविशेष-कर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरपरिमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपातिध्यानं ध्यायति" (पृष्ठ ३५६, अध्याय ९ सूत्र ४४)।

महापुराण में लिखा है :—

स हि योगनिरोधार्थं उद्यतः केवली जिनः।
समुद्‌घात-विधिं पूर्वं आविः कुर्यान्निसर्गतः ॥२१-१८९॥

स्नातक केवली भगवान जब योगों का निरोध करने के लिए तत्पर होते हैं, तब वे उसके पूर्व ही स्वभाव से समुद्‌घात की विधि करते हैं।

समुद्‌घात विधि का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—पहले समय में उनके केवल आत्म प्रदेश चौदह राजू ऊंचे दंड के आकार होते है। दूसरे समय में कपाट अर्थात् दरवाजे के आकार को धारण करते हैं। तृतीय समय में प्रतर रूप होते हैं। चौथे समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वे जिनेन्द्र चार समय में समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित होते हैं।

आत्मा की लोक-व्यापकता

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्मवादी ब्रह्म को संपूर्ण जगत् में व्याप्त मानता है। जैन दृष्टि से उसका कथन सयोगी-जिनके लोकपूरण समुद्‌घात काल में सत्य चरितार्थ होता है, क्योंकि लोकपूरण की अवस्था में उन जिनेन्द्र परमात्मा के आत्म प्रदेश समस्त लोक में विस्तारवश व्याप्त होते हैं। ब्रह्मवादी सदा ब्रह्म को लोकव्यापी कहता है, इससे उसका कथन अयथार्थ हो जाता है।

लोकपूरण समुद्‌घात के अनंतर आत्म-प्रदेश पुनः प्रतर रूपता को दूसरे समय में धारण करते हैं। तीसरे समय में कपाट रूप होते हैं तथा चौथेलसमय में दंड रूप होते हैं और पूर्व शरीराकार हो

जाते हैं। समुद्घात क्रिया में विस्तार में चार समय तथा संकोच में चार समय अर्थात् समस्त आठ समय लगते हैं। लोकपूरण समुद्घात के समय आत्मा से प्रदेश सिद्धालय का स्पर्श करते हैं; नरक की भूमि का भी स्पर्श करते हैं तथा उन आकाश के प्रदेशों का भी स्पर्श करते हैं जिन का पंचपरावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करते समय इस जीव ने चौरासी लक्ष योनियों को धारण कर अपने शरीर की निवास भूमि बनाया था। अनंतानंत जीवों के भीतर भी यह योगी समा जाता है। इस कार्य के द्वारा सयोगी-जिन कर्मों की स्थिति में विषमता दूर करके उनकी आयु कर्म के बराबर शीघ्र बनाते हैं। जिस प्रकार गीले वस्त्र को ऊँचा नीचा, आड़ा तिरछा करके हिलाने से वह शीघ्र सूखता है, इसी प्रकार की क्रिया द्वारा योगी कर्मों की स्थिति तथा अशुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति का खंडन करता है।

प्रिय उत्प्रेक्षा

लोकपूरण समुद्घात क्रिया क विषय म यह कल्पना करना प्रिय लगता है, कि समता भाव के स्वामी जिनेन्द्र सदा के लिए अपने घर सिद्धालय में जा रहे हैं, इससे वे बैर विरोध छोड़कर बिना संकोच छोटे बड़े सब से भेंट करते हुए, मिलते हुए मोक्ष जाने को तैयार हो रहे हैं।

महापुराण में लिखा है :—

तत्राघातिस्थितेर्भागान् असंख्येयान्निहत्यसौ।
अनुभागस्य चानंतान् भागानशुभकर्मणाम् ॥२१--१९३॥

उस समय वे भगवान अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को विनष्ट करते हैं। इसी प्रकार अशुभ कर्मों के अनुभाग के अनंत भागों को नष्ट करते हैं।

भगवान की महत्वपूर्ण साधना

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ ने एकत्व-वितर्क-अवीचाररूप द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा केवलज्ञान की विभूति प्राप्त की थी। राजवार्तिक में केवली भगवान के लिए इन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, "एकत्व-वितर्क-शुक्लध्यान-वैश्वानर-निर्दग्धघातिकर्मेन्धनः, प्रज्वलितकेवल-ज्ञान-गभस्तिमंडलः" (पृ० ३५६) अर्थात् एकत्व-वितर्क नामक शुक्ल-ध्यान रूप अग्नि के द्वारा घातिया कर्मरूपी ईन्धन का नाश करने वाले तथा प्रज्वलित केवलज्ञान रूपी सूर्ययुक्त केवली भगवान हैं।

प्रश्न

शुक्ल ध्यान का तृतीय भेद उस समय होता है, जब आयु कर्म के क्षय के लिए अंतर्मुहूर्त काल शेष रहता है; अतएव प्रश्न होता है कि आठ वर्ष कुछ अधिक काल में केवली बनकर एक कोटि पूर्व काल में से किंचित् न्यून काल छोड़कर शेष काल पर्यन्त कौनसा ध्यान रहता है?

समाधान

परमार्थ दृष्टि से 'एकाग्र-चिंता-निरोधो ध्यानं' यह लक्षण सर्वज्ञ भगवान में नहीं पाया जाता है। आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी ज्ञानावरण के क्षय होने से वे त्रिकालज्ञ भी हैं, अतः उनके एकाग्रता का कथन किस प्रकार सिद्ध होगा? चिंता का भी उनके अभाव है। "चिंता अंतःकरणवृत्तिः"-अंतःकरण अर्थात् क्षयोपशमात्मक भाव-मन की विशेष वृत्ति चिंता है। क्षायिक केवलज्ञान होने से क्षयोपशम रूप चित्तवृत्ति का सद्भाव ही नहीं है, तब उसका निरोध कैसे बनेगा? इस अपेक्षा से केवली भगवान के ध्यान नहीं है।

इस कथन पर पुनः शंका उत्पन्न होती है कि आगम में केवली के दो शुक्ल ध्यान क्यों कहे गए हैं?

समाधान

केवली भगवान के उपचार से ध्यान कहे गए हैं। राजवार्तिक में "एकादशजिने" सूत्र की टीका में अकलंकस्वामी लिखते हैं, केवली भगवान में एकादश परीषह उपचार से पाई जाती हैं। इस विषय के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य लिखते हैं—"यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिंता-निरोधाभावेपि कर्मरजो-विधूननफल-संभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादि-वेदनाभावपरीषहाऽऽभावेपि वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषहसद्भावात् एकादशजिने संतीति उपचारो युक्तः" (पृष्ठ ३३८, राजवार्तिक)—जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर एकाग्र चिंता-निरोध रूप ध्यान के अभाव होने पर भी कर्मरज के विनाशरूप फल को देखकर ध्यान का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार क्षुधा, तृषादि की वेदना-रूप भाव परीषह के अभाव होते हुए भी वेदनीय कर्मोदय द्रव्यरूप कारणात्मक परीषह के सद्भाव होने से जिन भगवान में एकादश परीषह होती हैं, ऐसा उपचार किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि केवली भगवान के आयु कर्म की अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने के पूर्व ध्यान का सद्भाव नहीं कहा गया है, इसी कारण धवलाटीका में सयोगी जिनके विषय में लिखा है— सयोगिकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि" (पृष्ठ २२३, भाग १)—सयोगी केवली किसी कर्म का क्षय नहीं करते हैं। कर्मक्षपण कार्य का अभाव रहने से सयोगी जिन के ध्यान का अभाव है। इतना विशेष है कि अयोगी केवली होने के पूर्व सयोगी जिन अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट करते हैं तथा अशुभ कर्मों के अनुभाग को नष्ट करते हैं। उस समय उनके सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति शुक्लध्यान की पात्र उत्पन्न होती है।

दो आचार्य परंपराएं

इस अकस्मात्‌ही सभी आत्माएँ समुद्घात करती हैं, ऐसा

आचार्य यतिवृषभ का अभिप्राय है । धवलाटीका में लिखा है—"यति-वृषभोपदेशात् सर्वाघातिकर्मणां क्षीणकषायचरमसमये स्थितेः साम्याभावात् सर्वेपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निवृत्तिमुपढौकन्ते"—आचार्य यतिवृषभ के उपदेशानुसार क्षीणकषाय-गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अघातिया कर्मों की स्थिति में समानता का अभाव होने से सभी केवली समुद्घातपूर्वक ही मोक्ष प्राप्त करते हैं । आगे यह भी कथन किया गया है—"येषामाचार्याणां लोकव्यापि-केवलिषु विंशति-संख्यानियमस्तेषां मतेन केचित्समुद्घातयंति, केचिन्न समुद्घातयंति । के न समुदघातयंति ? येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना, ते न समुद्घातयंति, शेषाः समुद्घातयंति" (पृष्ठ ३०२, भाग १)—जिन आचार्यों ने लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियों की संख्या नियम-रूप से बीस मानी है, उनके अभिप्रायानुसार कोई जीव समुद्घात करते हैं और कोई समुद्घात नहीं करते हैं । कौन आत्माएँ समुद्घात नहीं करती हैं ? जिनके संसृति की व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल, जिसे आयु कर्म के नाम से कहते हैं, उस आयु की नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मों के समान स्थिति है, वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली समुद्घात करते हैं ।

अन्तिम शुक्लध्यान

समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति अथवा व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति ध्यान के होने पर प्राणापान अर्थात् श्वासोच्छ्वास का गमनागमन कार्य रुक जाता है । समस्त काय, वचन तथा मनोयोग निमित्त से उत्पन्न सम्पूर्ण प्रदेशों का परिस्पंद बन्द हो जाता है । उस ध्यान के होने पर परिपूर्ण संवर होता है । उस समय अठारह हजार शील के भेदों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त होता है । चौरासी लाख उत्तर गुणों की पूर्णता भी प्राप्त होती है ।

सम्यग्दर्शन का श्रेष्ठ भेद परमावगाढ़ सम्यक्त्व तो तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो गया था । ज्ञानावरण का क्षय होने से सम्यग्ज्ञान

की भी पूर्णता हो चुकी थी, फिर किंचित् न्यून एक कोटि पूर्व काल प्रमाण परिनिर्वाण अवस्था की उपलब्धि न होने का कारण परिपूर्ण चरित्र में कुछ कमी है। अयोगी जिन होते ही वह गुप्तित्रय का स्वामी हो जाता है। उस त्रिगुप्ति के प्रसाद से अयोगी जिन के उपान्त्य समय में अर्थात् अन्त के दो समयों में से प्रथम समय में साता-असाता वेदनीय में से अनुदय रूप एक वेदनीय की प्रकृति, देवगति, औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण ये पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच बंधन, तीन आँगोपांगा, छह संहनन, छह संस्थान, पाँच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गंध, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उच्छ्वास, परघात, उपघात, विहायोगति-युगल, प्रत्येक, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, स्वरयुगल, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण तथा नीच गोत्र इन बहत्तर प्रकृतियों का नाश होता है।

कार्य-समयसार रूप परिणमन

अंत समय में वेदनीय की शेष बची हुई एक प्रकृति, मनुष्यगति, मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति ये बारह तथा तेरहवीं तीर्थंकर प्रकृति का भी क्षय करके 'अ इ उ ऋ लृ' इन पंचलघु अक्षरों में लगने वाले अल्पकाल के भीतर वे अयोगी जिन आत्मविकास की चरम अवस्था सिद्ध पदवी को प्राप्त करते हैं। मुनिदीक्षा लेते समय इन तीर्थंकर भगवान ने सिद्धों को प्रणाम किया था। अब ये सिद्ध परमात्मा बन गए। ये समस्त विभाव-विमुक्त हो कार्य-समयसार रूप परिणत हो गए। अब ये कृतकृत्य हो गए।

निर्वाण की वेला

महापुराण में लिखा है कि ऋषभदेव भगवान ने माघकृष्णा चतुर्दशी को सूर्योदय की वेला में पूर्वाभिमुख हो "प्राप्तपल्यंक":— पल्यंकासन को धारणकर कर्मों का नाश किया :—

शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययं ।
निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणावाप्त-तनुवातकः ।।४७—३४१।।

ऋषभनाथ भगवान ने औदारिक, तैजस तथा कार्माण इन तीनों शरीरों का नाशकर आत्मा के अष्ट गुणों से परिपूर्ण सिद्धत्व पर्याय प्राप्त करके क्षणमात्र में लोक के अग्रभाग में पहुंचकर तनुवात वलय के अंत को प्राप्त किया ।

अब ये तीर्थंकर भगवान सिद्ध बन जाने से समस्त विकल्पों से विमुक्त हो गए । ज्ञान नेत्रों से इनका दर्शन करने पर जो स्वरूप ज्ञात होता है, उसे महापुराण में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है ।

नित्यो निरंजनः किंचिदूनो देहादमूर्तिभाक् ।
स्थितः स्वसुखसाद्भूतः पश्यन्विश्वमनारतम् ।।४७—३४२।।

अब ये सिद्ध भगवान नित्य, निरंजन, अंतिम शरीर से किंचित् न्यूनाकार युक्त अमूर्त, आत्मा से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द का रस पान करने वाले तथा संपूर्ण विश्व का निरन्तर अवलोकन करने वाले हो गए ।

आज भगवान की श्रेष्ठ साधना परिपूर्ण हुई । दीक्षा लेते समय उन्होंने "सिद्धं नमः" कहकर अपने प्राप्तव्य रूप में सिद्धों को निश्चित किया था । आत्म-पुरुषार्थ के प्रताप से उन्होंने परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त किया । इस मोक्ष के लिए इन प्रभु ने अनेक भवों में महान् प्रयत्न किए थे । आज वे जीवन के अंतिम लक्ष्य-बिंदु पर पहुँच गए । पहले उनके अंतकरण में निर्वाण प्राप्ति की प्रबल पिपासा पैदा हुई थी; पश्चात् मुक्ति के समीप आने पर उन्होंने मोक्ष की इच्छा का भी परित्याग किया था ।

मुक्ति की प्राप्ति के लिए निर्वाण की इच्छा भी त्याज्य मानी गई है । अकलंक स्वामी ने स्वरूप सम्बोधन में कहा है :—

मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति ।
इत्युक्तत्वात् हितान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत् ।।२१।।

जिसके मुक्ति की अभिलाषा भी नहीं है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है। इस कारण हित चाहने वाले को किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

सिद्ध कथंचित् अमुक्त हैं

भगवान मुक्त हो गए, किन्तु अनेकांत तत्वज्ञान के मर्मज्ञ आचार्य अकलंकदेव भगवान को 'अमुक्त' कहते हुए उनको किसी दृष्टि से मुक्त और किसी से अमुक्त प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं :—

मुक्ताऽमुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्ति नमामि तम् ॥१॥

जो कर्मों से रहित होने के कारण मुक्त हैं तथा ज्ञानादि आत्म गुणों के सद्भाव युक्त होने से उनसे अमुक्त हैं, अतः जो कथंचित् मुक्त और कथंचित् अमुक्त हैं, उन ज्ञानमूर्ति, क्षयरहित सिद्ध परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ।

आत्मदेव की पदवी

अब वृषभनाथ भगवान शरीर से मुक्त होने से वृषभनाथ नहीं रहे। माता मरुदेवी के उदर से जिस शरीर युक्त आत्मा का जन्म हुआ था, उसे ही ऋषभनाथ भगवान यह पूज्य नाम प्राप्त हुआ था। निर्वाण जाते समय वह शरीर यहाँ ही कैलाशगिरि पर रह गया। अब आत्मदेव अनंत सिद्धोंके साथ विराजमान हो गए। उनका संसरण अर्थात् चौरासी लाख योनियों में भ्रमण का कार्य समाप्त हो गया। विभाव विमुक्त हो, वे स्वभाव में आ गए। अब वे सचमुच में अपने आत्म-भवन के अधिवासी हो गए। व्यवहार दृष्टि से हम उनको ऋषभनाथ, तथा उनके पश्चात्वर्ती तीर्थंकरों को अजितनाथ आदि के रूप में कहते हैं, प्रणाम करते हैं और उनका गुण चितवन भी करते हैं, किन्तु परमार्थ रूप में उन नामों की वाच्यता से वे अतीत हो गए। अब वे शुद्ध परमात्मा हैं। अब वे आत्मदेव हैं।

'णमो सिद्धाणं'

निर्वाण कल्याणक

भगवान जिनेन्द्र ने समस्त कर्मों का नाश करके असिद्धत्व रूप औदयिक भाव विरहित सिद्ध पर्याय को मुक्त होने पर प्राप्त किया है। अयोग केवली की अवस्था में भी असिद्धत्व भाव था। राजवार्तिक में कहा है "कर्मोदय-सामान्यापेक्षो असिद्धः। सयोगकेवल्ययोगिकेवलिनोरघातिकर्मोदयापेक्षः" (पृ० ७६)। कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा यह असिद्धत्वभाव होता है। सयोग केवली तथा अयोग केवली के भी अघातिया-कर्मोदय की अपेक्षा यह असिद्धत्व माना गया है।

आगम में संपूर्ण जगत् को पुरुषाकृति सदृश माना है। उसमें सिद्ध परमेष्ठी की त्रिभुवन के मस्तक पर अवस्थित मुकुट समान बताया है। कहा भी है "तिहुयण-सिर-सेहरया सिद्धां भडारया पसीयंतु" त्रिलोक के शिखर पर मुकुट समान विराजमान सिद्ध भट्टारक प्रसन्न होवें (धवलाटीका, वेदना खण्ड)।

सिद्धालय का स्वरूप

अनंतानंत सिद्धों ने ध्रुव, अचल तथा अनुपम गति को प्राप्त कर जिस स्थान को अपने चिरनिवास योग्य बनाया है, उसके विषय में तिलोयपण्णत्ति में इस प्रकार कथन किया गया है :—

सर्वार्थसिद्धि इंद्रक विमान के ध्वजदण्ड से द्वादश योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथ्वी स्थित है। उसके उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक का विस्तार पूर्व पश्चिम में रूप से रहित एक राजू है। वेत्रासन के सदृश वह पृथिवी उत्तर-दक्षिण भाग में कुछ कम सात राजू लम्बी तथा आठ योजन बाहुल्य वाली है—"दक्खिण-उत्तर

भाए दीहा किंचूण-सत्तरज्जूओ"। यह पृथिवी घनोदधि, घनवात और तनुवात इन वायुओं से युक्त है। इनमें प्रत्येक वायु का बाहुल्य बीस हजार योजन प्रमाण है (८, ६५४, ति० प०)।

इसके बहुमध्य भाग में चाँदी तथा सुवर्ण समान और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार नाम का क्षेत्र है।

एदाए बहुमज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं।
अज्जुण-सुवण्ण-सरिसं णाणा-रयणेहिं परिपुण्णं ॥८—६५६॥

यह क्षेत्र उत्तान अर्थात् उर्ध्वमुख युक्त धवल छत्र के समान आकार से सुन्दर और पैतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार से युक्त है। उसका मध्य बाहुल्य अष्टयोजन और अंत में एक अंगुल मात्र है। अष्टमभूमि में स्थित सिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है। (गाथा ६५२ से ६५८ पृ० ८६४)

तिलोयपण्णत्ति में आठवीं पृथ्वी को 'ईषत्-प्राग्भारा' नाम नहीं दिया गया है। उस पृथ्वी के मध्य में स्थित निर्वाण क्षेत्र को ईषत् प्राग्भार संज्ञा प्रदान की गई है, किन्तु त्रिलोकसार में अष्टम पृथ्वी को ईषत् प्राग्भारा कहा है।

त्रिभुवनमूर्धारूढा ईषत्-प्राग्भारा धराष्टमी रुंद्रा।
दीर्घा एकसप्तरज्जू अष्टयोजन-प्रमित-बाहल्या ॥५५६॥

त्रिलोक के शिखर पर स्थित ईषत् प्राग्भारा नाम की आठवीं पृथ्वी है। वह एक राजू चौड़ी तथा सात राजू लम्बी और आठ योजन प्रमाण बाहुल्य युक्त है।

उस पृथ्वी के मध्य में जो सिद्ध क्षेत्र छत्राकार कहा है उसका वर्ण चाँदी का बताया है :—(१)

तन्मध्ये रूप्यमयं छत्राकारं मनुष्यमहीव्यासं।
सिद्धक्षेत्रं मध्येऽष्टवेधकमहीनं बाहुल्यम् ॥५५७॥

---

(१) धवल वर्ण युक्त प्रदेश में महाधवल परणति परिणत परमात्माओं का निवास पूर्णतया सुसंगत प्रतीत होता है।

उस ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी के मध्य में चाँदीमय छत्राकार पैंतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र के बराबर विस्तार वाला सिद्ध क्षेत्र है। उसका बाहुल्य अर्थात् मोटाई मध्य में आठ योजन प्रमाण है और अन्यत्र वह क्रम-क्रम से हीन होती गई है —

उत्तानस्थितमते पात्रमिव तनु तदुपरि तनुवाते।
अष्टगुणाढ्या सिद्धाः तिष्ठंति अनंतसुखतृप्ताः ।।५५८।।

उस सिद्धक्षेत्र के ऊपर तनुवातवलय में अष्टगुण युक्त तथा अनंत सुख से संतुष्ट सिद्ध भगवान रहते हैं। वह सिद्धक्षेत्र अन्त में सीधे रखे गए अर्थात् ऊपर मुख वाले बर्तन के समान है।

राजवार्तिक का कथन

राजवार्तिक के अन्त में इस प्रकार वर्णन पाया जाता है।

तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा।
प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ।।१९।।

त्रिलोक के मस्तक पर स्थित प्राग्भारा नामकी पृथ्वी है, वह तन्वी है अर्थात् स्थूलता रहित है, मनोज्ञ है, सुगंध युक्त है पवित्र है तथा अत्यंत देदीप्यमान है।

नृलोकतुल्यविष्कंभा सितच्छत्रनिभा शुभा।
उर्ध्वं तस्या क्षितेः सिद्धाः लोकान्ते समवस्थिताः ।।२०।।

वह पृथ्वी नरलोक तुल्य विस्तार युक्त है। श्वेतवर्ण के छत्र समान तथा शुभ है। उस पृथ्वी के ऊपर लोक के अन्त में सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

तिलोयणत्ति में कहा है :—

अट्ठम-खिदीए उवरिं पण्णास-ब्भहिय-सत्तयसहस्सा।
दंडाणि गंतूणं सिद्धाणं होदि आवासो ।।९ अध्याय—३।।

आठवीं पृथ्वी के ऊपर सात हजार पचास धनुष जाकर सिद्धों का आवास है।

सिद्धों की अवगाहना

सिद्धों की अवगाहना अर्थात् शरीर की ऊँचाई उत्कृष्ट पाँच सौ पच्चीस धनुष और जघन्य साढ़े तीन हाथ प्रमाण कही गई है।

तिलोयपण्णत्ति में यह भी कहा है :—

दीहत्तं बाहल्लं चरिमभवे जस्स जारिसं ठाणं।
तत्तो तिभागहीणं ओगाहण सव्वसिद्धाणं ॥९—१०॥

अंतिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता तथा बाहुल्य हो, उससे तृतीय भाग हे कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है।

उक्त ग्रंथ में ग्रंथान्तर का यह कथन दिया गया है :—

लोय-विणिच्छयगंथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं।
ओगाहणपरिमाणं भणिदं किंचूण चरिमदेहसमो ॥९—९॥

लोक-विनिश्चय ग्रंथ में लोकविभाग में सब सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरम शरीर के समान कहा है।

आदिपुराण में भगवान के निर्वाण का वर्णन करते हुए किंचित् ऊनो देहात् (४७—३४२) चरम शरीर से किंचित् ऊन आकार कहा है।

द्रव्यसंग्रह में भी भगवान सिद्ध परमेष्ठी को चरम शरीर से किंचित् ऊन कहा है, यथा :—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरम देहदो सिद्धा।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा उप्पाद-वयेहिं संजुत्ता ॥१४॥

सिद्ध भगवान कर्मों से रहित हैं, अष्टगुण समन्वित हैं। चरम शरीर से किंचित् न्यून प्रमाण हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित तथा उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यपने से युक्त हैं।

इस प्रकार भगवान का शरीर चरम शरीर से किंचित् न्यून प्रमाण सर्वत्र कहा गया है, क्योंकि शरीर की अवगाहना को हीनाधिक करने वाले कर्म का क्षय हो चुका है। ऐसी स्थिति में

तिलोयपण्णत्ति में कहे गए सिद्धान्त का, कि अंतिम शरीर से एक तृतीयांश भाग न्यून प्रमाण सिद्धों की अवगाहना रहती है, रहस्य विचारणीय है।

समाधान

संपूर्ण दृश्यमान शरीर की अवगाहना को लक्ष्य में रखकर किंचित् ऊन चरम शरीर प्रमाण कथन किया गया है। सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर ज्ञात होगा कि शरीर के भीतर मुख, उदर आदि में जीव-प्रदेश शून्य भाग भी है, उसको घटाने पर शरीर का घनफल एक तृतीय भाग न्यून होगा, यह अभिप्राय तिलोयपण्णत्तिकार का प्रतीत होता है। इस दृष्टि से उपरोक्त कथनों में समन्वय करना सयुक्तिक प्रतीत होता है। स्व आत्मा के प्रदेशों में, शुद्ध दृष्टि से, उनका निवास कहा जा सकता है। गुणी आत्मा अपने अनंत गुणों में विद्यमान है; अतएव सिद्धों की आत्मा की अवगाहना ही यथार्थ में ब्रह्म लोक है।

ब्रह्म-लोक

व्यवहार दृष्टि से आकाश के जिन प्रदेशों में नित्य, निरंजन सकलज्ञ सिद्धों का निवास है, वह ब्रह्म-लोक है। इसके सिवाय और कोई ब्रह्मलोक नहीं है। शुद्ध आत्मा का वाचक ब्रह्म शब्द है। उस शुद्ध आत्मा के निवास का स्थल ब्रह्मलोक है। उस ब्रह्मलोक में स्थित प्रभु के ज्ञान में लोकालोक के पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।

निर्मलता तथा सर्वज्ञता

आत्मा की निर्मलता का सकलज्ञता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी भ्रान्त आत्मा को परमात्मप्रकाश का यह दोहा महत्व पूर्ण प्रकाश प्रदान गरता है :—

तारायणु जलि बिंबियउ, णिम्मलि दीसइ जेम।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ, लोयालोउवि तेम ॥१०३॥

निर्मल जल में तारागण का प्रतिबिंब बिना प्रयत्न के स्वयमेव दृष्टिगोचर होता है, इसी प्रकार रागादि मल रहित निर्मल आत्मा में लोक तथा अलोक स्वयमेव प्रतिबिंबित होते हैं। इसके लिए उन प्रभु को कोई उद्योग नहीं करना पड़ता है।

शिवादि पद वाच्यता

इन मुक्ति प्राप्त आत्माओं को ही जैन धर्म में शिव, विष्णु आदि शब्दों के द्वारा वाच्य माना है। ब्रह्मदेव सूरि का यह कथन महत्वपूर्ण है, "व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवान् अर्हन्नेव मुक्तिगत-सिद्धात्मा-वा परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते। यत्रासौ मुक्तात्मा लोकाग्रे तिष्ठति स एव ब्रह्मलोकः स एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोपीति भावार्थः (परमात्मप्रकाश पृ० ११३)

सिद्ध का अर्थ

लोक में किसी तपस्वी कुशल साधु को देखकर उसे सिद्ध-पुरुष कह दिया जाता है। काव्यग्रंथों में किन्हीं देवताओं का नाम सिद्ध रूप से उल्लेख किया जाता है। इनसे सिद्ध भगवान सर्वथा भिन्न हैं। उक्त व्यक्ति जन्म, जरा, मृत्यु के चक्र से नहीं बचे हैं; किन्तु सिद्ध भगवान इस महा व्याधि से सदा के लिए मुक्त हो चुके हैं।

भ्रम निवारण

कोई यह सोचते हैं कि सिद्ध भगवान के द्वारा जगत् के भव्यों के हितार्थ कुछ संपर्क रखा जाता है। वे संदेश भी भेजते हैं। यह धारणा जैनागम के प्रतिकूल है। पुद्गलात्मक शरीर रहित होने से उन अशरीरी आत्म-द्रव्य सिद्ध भगवान् का पुद्गल से सम्बन्ध नहीं रहता है, अतः उसके माध्यम द्वारा संदेशादि प्रसारित करना कल्पना मात्र है। वे भव्यों के लिए आदर्श रूप हैं।

सिद्धालय में निगोदिया

सिद्धलोक में सभी सिद्ध जीवों का ही निवास है, ऐसा सामान्यतया समझा जाता है, किन्तु आगम के प्रकाश में यह भी ज्ञात होता है कि अनन्तानंत सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र लोक में भरे हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है "सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा" (१८४) सूक्ष्म जीव सर्वत्र निरन्तर भरे हैं। संस्कृत टीका में लिखा है, "सर्वलोके जले स्थले आकाशे वा निरंतरा आधारानपेक्षितशरीराः जीवाः सूक्ष्मा भवंति" (पृ० ४१६)।

अतः वे जीव सिद्धालय में भी भरे हुए हैं। इससे यह सोचना कि उन निगोदिया जीवों को कुछ विशेष सुख की प्राप्ति होगी, अनुचित है; क्योंकि प्रत्येक जीव सुख दुःख का संवेदन अपने कर्मोदय के अनुसार करता है। इस नियम के अनुसार निगोदिया जीव कर्माष्टक के द्वारा कष्टों के समुद्र में डूबे रहते हैं और उसी आकाश के क्षेत्र में विद्यमान आत्मप्रदेशवाले सिद्धभगवान आत्मोत्थ, परमशुद्ध, निराबाध आनन्द का अनुभव करते हैं। अक्षर के अनंतवें भाग ज्ञानवाली तथा अनंतज्ञान वाली शुद्धात्मा एक ही स्थान पर निवास करती हैं।

स्याद्वाद दृष्टि

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा निगोदिया जीव भी सिद्धों के समान कहे जाते हैं, किन्तु परमागम में जिनेन्द्रदेव ने पर्यायदृष्टि का भी प्रतिपादन किया है। उसकी अपेक्षा दोनों का अंतर स्पष्ट है। भूल से एकान्तपक्षी विकारयुक्त दृष्टि के कारण सर्वथा सब जीवों को सिद्ध समान समझ बैठते हैं और धर्माचरण में प्रमादपूर्ण बन जाते हैं। स्याद्वाद दृष्टि का आश्रय लिए बिना यथार्थ रहस्य ज्ञात नहीं हो पाता है।

सिद्धों द्वारा लोक कल्याण

प्रश्न—कोई यह सोच सकता है कि भगवान में अनंतज्ञान

हैं, अनन्तशक्ति है, और भी अनन्त गुण उनमें विद्यमान हैं। यदि वे दु:खी जीवों के हितार्थ कुछ कृपा करें, तो जीवों को बड़ी शान्ति मिलेगी।

समाधान—वस्तु का स्वभाव हमारी कल्पना के अनुसार नहीं बदलता है। पदार्थ के स्वभाव को स्वाश्रित कहा है। बीज के दग्ध हो जाने पर पुन: अंकुरोत्पादन कार्य नहीं होता है, इसी प्रकार कर्म के बीज रूप राग-द्वेष भावों का सर्वथा क्षय हो जाने से पुन: लोक कल्याणार्थ प्रवृत्ति के प्रेरक कर्मों का भी अभाव हो गया है। अब वे वीतराग हो गए हैं।

आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में एक सुन्दर चर्चा की है। शंकाकार कहता है—"स्यात् एतत् व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेष जानत: पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते।" सम्पूर्ण जगत् को दु:ख के सागर में निमग्न जानते तथा देखते हुए सिद्ध भगवान के करुणाभाव उत्पन्न होता होगा। शंकाकार का भाव यह है कि अन्य सम्प्रदाय में परमात्मा जीवों के हितार्थ संसार में आता है। ऐसा ही सिद्ध भगवान करते होंगे। "ततश्च बंध:"—जब भगवान के मन में करुणाभाव इस प्रकार उत्पन्न होगा, तो वे बंध को भी प्राप्त होंगे।

समाधान—"तन्न, किं कारणं? सर्वास्रव-परिक्षयात्। भक्ति-स्नेह-कृपा-स्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते संतीति" (पृष्ठ ३६२, ३६३—१०—४)। ऐसा नहीं है, कारण भगवान के सर्व कर्मों का आस्रव बंद हो गया है। भक्ति, स्नेह, कृपा, इच्छा आदि राग भाव के ही भेद हैं। वीतराग प्रभु में उनका सद्भाव नहीं है।

पुनरागमन का अभाव

प्रश्न—यदि भगवान कुछ काल पर्यन्त मोक्ष में रहकर पुन: संसार में आ जावें, तो क्या बाधा है?

समाधान—गंभीर चिंतन से पता चलेगा, कि अपने ज्ञान द्वारा जब परमात्मा यह जानते हैं, कि मैं राग, द्वेष, मोहादि शत्रुओं के द्वारा अनंत दुःख भोग चुका हूँ, तब वे सर्वज्ञ, समर्थ तथा आत्मानन्द का रस पान करने वाले योगेश्वर परमात्मा क्यों पाप-पंक में डूबने का विचार करेंगे ? अपनी भूल के कारण पंजर-बद्ध बुद्धिमान पक्षी भी एक बार पिंजरे से छूटकर स्वतन्त्रता का उपभोग छोड़कर पुनः पिंजरे में आने का प्रयत्न नहीं करेगा ? तब निर्विकार, वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्मा अपनी स्वतंत्रता को छोड़कर पुनः माता के गर्भ में आकर अत्यंत मलिन मानव शरीर धारण करने की कल्पना भी करेगा; यह विचार मनोविज्ञान तथा स्वस्थ विचारधारा के पूर्णतया विरुद्ध होगा ।

उनका कार्य

प्रश्न—सिद्ध पर्याय प्राप्त करने पर वे भगवान अनंतकाल पर्यन्त क्या कार्य करते हैं ?

उत्तर—भगवान अब कृतकृत्य हो चुके । उन्हें कोई काम करना बाकी नहीं रहा है । सर्वज्ञ होने से संसार का चिरकाल चलने वाला विविध रसमय नाटक उनके सदा ज्ञानागोचर होता रहता है । उनके समान ही शुद्धोपयोग वाला तथा गुण वाला जीव विभाव का आश्रय ले चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ अनंत प्रकार का अभिनय करता है । विश्व के रंग मंच पर चलने वाले इस महा-नाटक का ये महाप्रभु निर्विकार भाव से प्रेक्षण करते हुए अपनी आत्मानुभूति का रस पान करते रहते हैं । 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रस लीन ।'

परम समाधि में निमग्नता

एक बात और यह है । सिद्ध भगवान योगीन्द्रों के भी परम आराध्य हैं । योगी जन समाधि के परम अनुरागी रहते हैं । जितना

महान तथा उच्च योगी होगा, उसकी समाधि उसी प्रकार की रहेगी। योगी यदि सर्वोच्च है, तथा पूर्ण समर्थ हैं, तो उनकी समाधि भी श्रेष्ठ रहेगी। सिद्ध भगवान परम समाधि में सर्वदा निमग्न रहते हैं। उनकी आत्म-समाधि कभी भी भंग न होगी, कारण अब क्षुधा, तृषादि की व्यथा का क्षय हो गया। भौतिक जड़ शरीर भी अब नहीं है। अब वे ज्ञान-शरीरी बन गए हैं। इस शुद्ध आत्म-समाधि में उन्हें अनंत तथा अक्षय आनन्द प्राप्त होता है। उस परब्रह्म समाधि में निमग्न रहने से उनमें बहिर्मुखी वृत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

जब तक ऋषभनाथ भगवान सयोगी तथा अयोगी जिन थे, तब तक वे सकल (शरीर) परमात्मा थे। उनके भव्यत्व नामका पारिणामिक भाव था। जिस क्षण वे सिद्ध भगवान हुए उसी समय वे नि-कल परमात्मा हो गए। भव्यत्व भाव भी दूर हो गया। अभव्य तो वे थे ही नहीं। भव्यपना विद्यमान था, वह भी दूर हो गया। इससे वे अभव्य-भव्य विकल्प से भी विमुक्त हो गए। कैलाशगिरि से एक समय में ही ऋजुगति द्वारा उर्ध्वगमन करके आदि भगवान सिद्धभूमि में पहुँच गए। वहां वे अनंत सिद्धों के समूह में सम्मिलित हो गए। वहां उनका व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता है। वेदान्ती मानते हैं ब्रह्मदर्शन के पश्चात् जीव परम ब्रह्म में विलीन होकर स्वयं के अस्तित्व से शून्य होता है। सर्वज्ञ प्रणीत परमागम कहता है, कि सत् का नाश नहीं होता; अतएव सिद्ध भगवान स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव में अवस्थित रहते हैं।

साम्यता

इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है, कि सिद्ध भगवान सभी समान हैं। अनंत प्रकार के जो संसारी जीवों में कर्मकृत भेद पाए जाते हैं, उनका वहां अभाव है। सभी सिद्ध परमात्मा एक से हैं, एक नहीं हैं। उनमें सादृश्य है, एकत्व नहीं है। कोई कोई संप्रदाय मुक्ति प्राप्त करने वालों का ब्रह्म में विलीन होना मानकर एक ब्रह्म

कहते हैं। स्याद्वाद शासन बताता है कि एक ब्रह्म की कल्पना अपरमार्थ है। एक के स्थान में एक सदृश अथवा एक से कहना परमार्थ कथन हो जाता है। सिद्धालय में मुक्त जीवों का पूर्णतया साम्यवाद है। इस आध्यात्मिक साम्यवाद में स्वाधीनता है।

निगोदिया जीवों में साम्यवाद

सिद्ध भूमि में पापात्माओं का भी साम्यवाद है। वहाँ रहने वाले अनंतानंत निगोदिया जीव दुःख तथा आत्म गुणों के ह्रास की अवस्था में सभी समानता धारण करते हैं। पुण्यात्माओं का साम्यवाद सर्वार्थसिद्धि के देवों में है। प्रत्येक प्राणी को अपनी शक्तिभर आध्यात्मिक साम्यवादी सिद्धों सदृश बनने का यविशुद्ध यत्न करना चाहिए।

अद्वैत अवस्था

जब जीव कर्मों का नाश करके शुद्धावस्था युक्त निकल, परमात्मा बन जाता है, तब उसकी अद्वैत अवस्था हो जाती है। आत्मा अपने एकत्व को प्राप्त करता है और कर्म रूपी माया-जाल से मुक्त हो जाता है। मुक्तात्मा की अपेक्षा यह अद्वैत अवस्था है। इस तत्व को जगत् भर में लगाकर सभी को अद्वैत के भीतर समाविष्ट मानना एकान्त मान्यता है। सिद्ध भगवान बंधन रूप द्वैत अवस्था से छूटकर आत्मा की अपेक्षा अद्वैत पदवी को प्राप्त हो गए हैं। इस प्रकार का अद्वैत स्याद्वाद शासन स्वीकार करता है। यह अद्वैत अन्य द्वैत का विरोधक नहीं है। जो अद्वैत समस्त द्वैत के विनाश को केन्द्र बिन्दु बनाता है, वह स्वयं शून्यता को प्राप्त होता है।

अनंतता

अनंत गुण युक्त होने से सिद्ध भगवान को 'अनंत' भी कहते हैं। वे द्रव्य की अपेक्षा एक हैं। वे ही गुणों की दृष्टि से अनंत हैं।

कवि अन्य कल्पना द्वारा जिस अनंत की स्तुति करते हैं, वह अनंत सिद्ध भगवान रूप है।

भगवान तो कर्मों का विनाश होते ही सिद्ध परमात्मा हो गए। अतः अब कैलाशगिरि पर ऋषभनाथ प्रभु का दर्शन नहीं होता है। अब वे चिरकाल के लिए इन्द्रियों के अगोचर हो गए। गोम्मटसार कर्मकांड की टीका में लिखा है—अयोगे मरणं कृत्वा भव्याः यांतिशिवालयं । (पृ० ७६२, गाथा ५५६)।

मोक्ष-कल्याणक की विधि

अब भगवान शिवालय में विराजमान हैं और उनका चैतन्य शून्य शरीर मात्र अष्टापद गिरि पर दृष्टिगोचर होता है। भगवान के निर्वाण होने की वार्ता विदित कर इन्द्र निर्वाण कल्याणक की विधि सम्पन्न करने को वहाँ आए। मोही व्यक्ति उस प्राणहीन देह को शव मान व्यथित होते थे, क्योंकि वे इस तत्व से अपरिचित थे कि भगवान की मृत्यु नहीं हुई। वे तो अजर तथा अमर हो गए। वे परम शिव हो गए।

मृत्यु की मृत्यु

यथार्थ में उन प्रभु ने मृत्यु के कारण कर्म का क्षय किया है अतएव यह कहना अधिक सत्य है कि आज मृत्यु की मृत्यु हुई है। भगवान ने मृत्यु को जीतकर अमृत्यु अर्थात् अमृतत्व की स्थिति प्राप्त की है। उस समय देव देवेन्द्रों ने आकर निर्वाणोत्सव किया।

भरत का मोह

महाज्ञानी चक्रवर्ती भरत को मोहनीय कर्म ने घेर लिया। उनके नेत्र से अश्रुधारा बह रही थी। सम्भवतः उन्होंने भगवान के निर्वाण को अपने पिता की मृत्यु के रूप में सोचा। भरत की मनोवेदना कौन कह सकता है? चक्रवर्ती की दृष्टि में भगवान के अनन्त उपकार

झूल रहे थे। बाल्यकाल के प्यार और दुलार से लेकर अन्त तक प्रभु ने क्या-क्या नहीं दिया ? जैसे जैसे भरतराज अतीत का स्मरण करते थे, वैसे-वैसे उनके हृदय में एक गहरी वेदना होती थी। पराक्रम पुंज भरत के नेत्रों में कभी अश्रु नहीं आए थे। विपत्ति में भी वह तेजस्वी म्लान मुख न हुआ। उसके नेत्रों से उस समय अवश्य अश्रुधारा बहती थी, जब कि वह भगवान की भक्ति तथा पूजा के रस में निमग्न हो आनन्द विभोर हो जाता था। वे आनन्दाश्रु थे; अभी शोकाश्रु हैं। देव, इन्द्र आदि आत्मीय भाव से चक्रवर्ती को समझते हैं कि इस आनन्द की वेला में शोक करना आप सदृश ज्ञानी के लिए उचित नहीं है। भरत के दु:खी मन को सबका समझाना सान्त्वना दायक नहीं हुआ।

गणधर द्वारा सांत्वना

इस विषम परिस्थिति में भरत के बन्धु वृषभसेन गणधर ने अपनी तात्विक देशना द्वारा भरत के मोहज्वर को दूर किया। गणधर देव के इन शब्दों ने भरतेश्वर को पूर्ण प्रतिबुद्ध कर दिया।

प्रागक्षि-गोचरः सम्प्रत्येष चेतसि वर्तते।
भगवांस्तत्र कः शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा ।।४७, ३८९ म० पु०

अरे भरत ! जो भगवान पहले नेत्र इन्द्रिय के गोचर थे, वे अब अंतः करण में विराजमान हैं; इसलिए इस संबंध में किस बात का शोक करते हो ? तुम उन भगवान का अपने मनोमंदिर में सदा दर्शन कर सकते हो।

तत्वज्ञानी भरत की अंतर्दृष्टि खुल गई। चक्रवर्ती की समझ में आ गया कि स्वात्मानुभूति के क्षण में चैतन्य ज्योति का मैं दर्शन करता हूँ। भगवान ने आज सिद्ध पदवी प्राप्त की है। इसमें और मेरे आत्म-स्वरूप में कोई अंतर नहीं है। इन दिव्य विचारों से भरतेश्वर को विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई। चक्रवर्ती भी व्यथा त्यागकर उस आनंदोत्सव में देवों के साथी हो गए। भरत के नेत्रों में आनंदाश्रु आ गए।

स्व का राज्य

संसार में शरीरान्त होने पर शोक करने की प्रणाली है, किन्तु यहां आनंदोत्सव मनाया जा रहा है, कारण आज भगवान को चिरजीवन प्राप्त हुआ है। मृत्यु तो कर्मों की हुई है। वह आत्मा आज अपने निज भवन में आकर अनंत सिद्ध बंधुओं के पावन परिवार में सम्मिलित हुआ है। आज आत्मा ने स्व का राज्य रूप सार्थक 'स्वराज्य' प्राप्त किया है।

आनन्द की वेला

भगवान के अनंत आनन्द लाभ की वेला में कौन विवेकी व्यथित होगा? इसी से देवों ने उस आध्यात्मिक महोत्सव की प्रतिष्ठा के अनुरूप आनन्द नामका नाटक किया। इस आनन्द नाटक के भीतर एक रहस्य का तत्व प्रतीत होता है। सच्चा आनन्द तो कर्मराशि के नष्ट होने से सिद्धों के उपभोग में आता है। संसारी जीव विषय भोग द्वारा सुख प्राप्ति का असफल प्रयत्न करते हैं। भगवान अनंत आनंद के स्वामी हो गए। अव्याबाध सुख की संपत्ति उनको मिली है। ऐसे प्रसंग पर सच्चे भक्त का कर्तव्य है कि अपने आराध्य देव की सफलता पर आनंद अनुभव करे।

समाधि-मरण शोक का हेतु नहीं

मिथ्यात्व युक्त मरण शोक का कारण है, समाधिमरण शोक का हेतु नहीं है। कहा भी है :—

> मिथ्यादृष्टेः सतोः जंतोर्मरणं शोचनाय हि।
> न तु दर्शनशुद्धस्य समाधिमरणं शुचे ॥६१ सर्ग, ९६॥ हरिवंशपुराण

पंडित-पंडित मरण

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कायगुप्ति की पूर्णता पूर्वक शरीर का त्याग अयोगी जिनके पाया जाता है। उस मरण का नाम 'पंडित-पंडित' मरण कहा है। मिथ्यात्वी जीव को बालबाल कहा

है। "पंडा यस्यास्ति असौ पंडितः।" जिसके पंडा का सद्भाव है, वह पंडित है। मूलाराधना टीका में लिखा है :—"पंडा हि रत्नत्रय-परिणता बुद्धिः" (पृष्ठ १०५) रत्नत्रय धर्म धारण में उपयुक्त बुद्धि पण्डा है। उससे अलंकृत व्यक्ति पंडित है। सच्चा पांडित्य तो तब ही शोभायमान होता है, जब जीव हीनाचरण का त्याग कर विशुद्ध प्रवृत्ति द्वारा अपनी आत्मा को समलंकृत करता है। आगम में व्यवहार पंडित, दर्शन पंडित, ज्ञान पंडित तथा चारित्र पंडित रूप से पंडित के भेद कहे गए हैं। अयोगी जिन परिपूर्ण दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र से संपन्न होने के कारण पंडित-पंडित हैं। उनका शरीरान्त पंडित-पंडित मरण है। इसके पश्चात् उस आत्मा का मरण पुनः नहीं होता है। जिस शुद्धोपयोगी, ज्ञान चेतना का अमृत पान करने वाले को ऐसा समाधि-मरण प्राप्त होता है, उसको जिनेन्द्र की अष्ट गुण रूप संपत्ति की प्राप्ति होती है। ऐसी अपूर्व अवस्था की सदा अभिलाषा की जाती है। संपूर्ण जगत में छह माह आठ समय में छह सौ आठ महान आत्माओं को आत्मगुण रूप विभूतियां प्राप्त होती हैं।

निर्वाण कल्याणक की श्रेष्ठता

जीवन में मोक्ष प्राप्ति से बढ़कर श्रेष्ठ क्षण नहीं हो सकता है। अतएव विचारवान व्यक्ति की दृष्टि से निर्वाण कल्याणक का सर्वोपरि महत्व है। वह अवस्था आत्मगुणों का चिंतवन करते हुए जीवन को उज्ज्वल बनाने की प्रेरणा प्रदान करती है।

शरीर का अंतिम-संस्कार

शरीरं भर्तुरस्यैति पराध्य-शिबिकार्पितम्।
अग्नीन्द्र-रत्नाभा-भासि-प्रोत्तुंग-मुकुटोद्भवा ॥४७ पर्व, ३४४॥
चंदनाऽगरु-कर्पूर-पारी-काश्मीरजादिभिः।
घृत-क्षीरादिभि आप्तवृद्धिना हुतभोजिना ॥३४५॥
जगद् गृहस्य सौगंध्यं संपाद्याभूतपूर्वकं।
तदाकारोपमर्देन पर्यायान्तरमानयन् ॥३४६, म० पु०॥

उस समय निर्वाण कल्याणक की पूजा की इच्छा करते हुए सब देव वहां आए। उन्होंने पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्ष के साधन, स्वच्छ तथा निर्मल ऐसे भगवान के शरीर को उत्कृष्ट मूल्यवाली पालकी में विराजमान किया। तदनंतर अग्निकुमार नाम के भवनवासी देवों के इन्द्र के रत्नों की कांति से दैदीप्यमान ऐसे अत्यन्त उन्नत मुकुट से उत्पन्न की गई चंदन, अगर, कपूर, केशर आदि सुगंधित पदार्थों से तथा घृत, क्षीरादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त अग्नि से त्रिभुवन में अभूत पूर्व सुगंध को व्याप्त करते हुए उस शरीर को अग्नि संस्कार द्वारा भस्म रुप पर्यायान्तर को प्राप्त करा दिया।

अग्नित्रय

अभ्यर्चिताग्निकुंडस्य गंध-पुष्पादिभिस्तथा।
तस्य दक्षिणभागेऽ भूद्गणभृत्-संस्क्रियानलः ॥३४७॥
तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेष-केवलिकायगः।
एवं वह्नित्रयं भूमाववस्थाप्यामरेश्वराः ॥३४८॥

देवों ने गंध, पुष्पादि द्रव्यों से उस अग्नि कुंड की पूजा की, उसके दाहिनी ओर गणधर देवों की अंतिम संस्कार वाली गणधराग्नि स्थापित की, उसके वाम भाग में शेष केवलियों की अग्नि स्थापना की। इस प्रकार देवेन्द्रों ने पृथ्वी पर तीन प्रकार की अग्नि स्थापना की।

भस्म की पूज्यता

ततो भस्म समादाय पंच-कल्याणभागिनः।
वयं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥३४९॥
कण्ठे हृदयदेशे च तेन संस्पृश्य भक्तितः।
तत्पवित्रतमं मत्वा धर्मराग-रसाहिताः ॥३५०॥

तदनंतर देवों तथा देवेन्द्रों ने भक्ति-पूर्वक पंचकल्याण प्राप्त जिनेन्द्र के देहदाह से उत्पन्न वह भस्म लेकर 'हम भी ऐसे हों' यही विचार करते हुए अपने मस्तक, भुज युगल, कंठ तथा छाती में

लगाई। उन्होंने उस भस्म को अत्यंत पवित्र माना तथा वे धर्म के रस में निमग्न हो गए।

अन्वर्थ अमरत्व की आकांक्षा

जिनेन्द्र भगवान ने सचमुच में मृत्यु के कारण रूप आयु कर्म का क्षय करके अन्वर्थ रूप में अमर पद प्राप्त किया है। देवताओं को मृत्यु के वशीभूत होते हुए भी नाम निक्षेप से अमर कहते हैं। इसी से उन अमरों तथा उनके इंद्रों ने उस भस्म को अपने अंगों में लगा कर यह भावना की, कि हम नाम के अमर न रहकर सचमुच में वृषभनाथ भगवान के समान सच्चे अमर होवें। 'वयं चैवं भवामः।'

> चतुर्विधामराः सेन्द्रा निस्तंद्रास्तद्भक्तयः।
> कृत्वांत्येष्टिं तदागत्य स्वं स्वामावासमाश्रयन्॥६३--५००॥

बड़ी भक्ति को धारण करने वाले प्रमाद रहित इन्द्रों सहित चारों प्रकार के देव वहां आए और भगवान के शरीर की अंत्येष्टि (अंतिम पूजा) कर अपने अपने स्थान को चले गए।

अंत्य-इष्टि का रहस्य

देवेन्द्रादि के द्वारा निर्वाण कल्याणक की लोकोत्तर पूजा को अंत्येष्टि संस्कार कहते हैं। अन्य लोगों में मरण प्राप्त व्यक्ति के देह दाह को अंत्येष्टि-क्रिया कहने की पद्धति पाई जाती है। इस अर्थ शून्य शब्द का इतर संप्रदाय में प्रयोग जैन प्रभाव को सूचित करता है। निर्वाण कल्याणक में शरीर की अंतिम पूजा, अग्नि संस्कार आदि की महत्ता स्वतः सिद्ध है, किन्तु पशु पक्षियों की भांति अज्ञानपूर्वक मरने वाले शरीर की पूजा की कल्पना अयोग्य है।

वीरनाथ के शरीर का दाह संस्कार

महावीर भगवान का पावानगर के उद्यान से कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष होने पर देवों द्वारा शरीर का दाह संस्कार पावानगर

के उद्यान में संपन्न हुआ था। पूज्यपाद स्वामी ने निर्वाण भक्ति में लिखा है :—

परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं ज्ञात्वा विबुधा ह्यथाशु चागम्य।
देवतरु-रक्तचन्दन-कालागुरु-सुरभि-गोशीर्षैः ॥१८॥

अग्नींद्राज्जिनदेहं मुकुटानल-सुरभिधूप-वरमाल्यैः।
अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिवं खं च वनभवने ॥१९॥

महावीर भगवान के मोक्ष कल्याणक का संवाद अवगत कर देव लोग शीघ्र ही आए। उन्होंने जिनेश्वर के देह की पूजा की तथा देवदारू, रक्त चन्दन, कृष्णागुरु, सुगंधित गोशीर चन्दन के द्वारा और अग्निकुमार देवों के इंद्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि तथा सुगंधित धूप तथा श्रेष्ठ पुष्पों द्वारा शरीर का दाहसंस्कार किया। गणधरों की भी पूजा करने के पश्चात् कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यंतर तथा भवनवासी देव अपने अपने स्थान चले गए। अशग कवि कृत वर्धमान चरित्र में भी भगवान के अंतिम शरीर के दाह संस्कार का इस प्रकार कथन आया है :—

अग्नीन्द्र-मौलि-वररत्न-विनिर्गतेऽग्नौ।
कर्पूर-लोह-हरिचन्दन-सारकाष्ठैः ॥
संधुक्षिते सपदि वातकुमारनाथैः।
इंद्रो मुदा जिनपते र्जुहुवुः शरीरं ॥१८—१००॥

अग्नीन्द्र के मुकुट के उत्कृष्ट रत्न से उत्पन्न अग्नि में, जो कपूर, अगुरु, हरिचन्दन, देवदारु आदि सार रूप काष्ठ से तथा वायुकुमारों के इंद्रों द्वारा शीघ्र ही प्रज्वलित की गई थी, इंद्रों ने प्रभु के शरीर का सहर्ष दाह-संस्कार किया। हरिवंशपुराण में नेमिनाथ भगवान के परिनिर्वाण पर की गई पूजादि का इस प्रकार कथन किया गया है :—

हरिवंशपुराण का कथन

परिनिर्वाण-कल्याणपूजामंत्यशरीरगाम्।
चतुर्विधसुराः जैनीं चक्रुः शक्रपुरोगमाः ॥६५—११॥

जब नेमिनाथ प्रभु का परिनिर्वाण हो चुका, तब इंद्र और चारों प्रकार के देवों ने जिनेन्द्रदेव के अंतिम शरीर सम्बन्धी निर्वाण-कल्याणक की पूजा की ।

गंध-पुष्पादिभिर्दिव्यैः पूजितास्तनवः क्षणात् ।
जैनाद्या द्योतयन्त्यो द्यां विलीना विद्युतो यथा । ॥१२॥

जिस प्रकार विद्युत् देखते देखते शीघ्र विलय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार गंध पुष्पादि दिव्य पदार्थों से पूजित भगवान का शरीर क्षणभर में दृष्टि के अगोचर हो गया ।

स्वभावोयं जिनादीनां शरीरपरमाणवः ।
मुञ्चंति स्कन्धतामंते क्षणात् क्षणरुचामिव ॥१३॥

यह स्वभाव है कि जिन भगवान के शरीर के परमाणु अंत समय में स्कन्धरुपता का परित्याग करते हैं और बिजली के समान तत्काल विलय को प्राप्त होते हैं ।

निर्वाण स्थान के चिह्न

हरिवंशपुराण में यह भी कहा है :—

ऊर्जयंतगिरौ वज्री वज्रेणालिख्य पावनं ।
लोके सिद्धिशिलां चक्रे जिनलक्षण-पंक्तिभिः ॥१४ सर्ग ६५॥

गिरनार पर्वत पर इंद्र ने परम पवित्र 'सिद्धि-शिला' निर्मापी तथा उसे वज्र द्वारा भगवान के लक्षणों के समूह से अंकित किया ।

स्वामी समंतभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में भी यह बात कही है, कि गिरनार पर्वत पर इन्द्र ने निर्वाणप्राप्त जिनेन्द्र नेमिनाथ के चिन्ह अंकित किए थे । यहां हरिवंश पुराण से यह विशेष बात ज्ञात होती है कि इन्द्र एक विशेष शिला-सिद्धिशिला की रचना करके उस पर जिनेन्द्र के निर्वाण सूचक चिन्हों का निर्माण करता है । आज परंपरा से प्राप्त चरण-चिन्हों की निर्वाणभूमि में अवस्थिति देखने से यह अनुमान किया जा सकता है, कि इंद्र ने मुक्ति प्राप्त करने वाले भगवान के स्मारक रूप में चरणचिन्हों की स्थापना का कार्य किया था ।

ऋषभनाथ भगवान कैलाश पर्वत पर से मुक्त हुए, पश्चात् वे सिद्धालय में उर्ध्वगमन स्वभाव वश पहुँचे। इस दृष्टि से प्रथम मुक्तिस्थल ऋषभनाथ भगवान की अपेक्षा कैलाश पर्वत है, वासुपूज्य भगवान की दृष्टि से चंपापुर है, नेमिजिनेन्द्र की अपेक्षा गिरनार अर्थात् ऊर्जयन्तगिरि है, वर्धमान भगवान की अपेक्षा पावापुर है और शेष बीस तीर्थंकरों की अपेक्षा सम्मेदशिखर निर्वाण स्थल है। निर्वाण काण्ड में कहा है :—

अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥१॥

वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥२॥

महत्व की बात

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि केवलज्ञान होने के पश्चात् भगवान का परम औदारिक शरीर पृथ्वीतल का स्पर्श नहीं करता है; इसलिए मोक्ष जाते समय उन्होंने भूतल का स्पर्श किया होगा यह विचार उचित नहीं है। भगवान के कर्म-जाल से छूटने का असली स्थान आकाश के वे प्रदेश हैं, जिनको मुक्त होने के पूर्व उनके परम पवित्र देह ने व्याप्त किया था। तिलोयपण्णत्ति में क्षेत्र-मंगल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

एदस्स उदाहरणं पावा-णगरुज्जयंत-चंपादी।
आहुट्ठ-हत्थपहुदी-पणुवीस-ब्भहिय-पणसयधणूणि ॥

देहअवट्ठिद-केवलणाणावट्ठद्ध-गयणदेसो वा।
सेढि-घणमेत्त-अप्पप्पदेसगदलोयपूरणा पुण्णा ॥१—२२, २३॥

इस क्षेत्र मंगल के उदाहरण पावानगर, उर्जयन्त और चंपापुर आदि हैं; अथवा साढ़े तीन हाथ से लेकर पांच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण शरीर में स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाश प्रदेशों को क्षेत्र मंगल समझना चाहिए; अथवा जगत् श्रेणी के घन मात्र अर्थात्

लोक प्रमाण आत्मा के प्रदेशों से लोकपूरण समुद्घात द्वारा पूरित सभी लोकों के प्रदेश भी क्षेत्र मंगल हैं ।

स्वयंभूस्तोत्र में लिखा है कि उर्जयन्त गिरि से अरिष्ट नेमि जिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् इंद्र ने पर्वत पर चिन्हों को अंकित किया था, जिससे भगवान के निर्वाण स्थान की पूजा की जा सके ।

ककुदं भुवः खचर-योषिदुषित-शिखरैरलंकृतः ।
मेघपटल-परिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ।।२१७।।

वह उर्जयन्त पर्वत पृथ्वी रूप बैल की ककुद के समान था । उसका शिखर विद्याधरों तथा विद्याधरियों से शोभायमान था तथा उसका तट मेघपटल से घिरा रहता था । उस पर वज्री अर्थात् इन्द्र ने नेमिनाथ भगवान के चिन्हों को उत्कीर्ण किया था ।

इस कथन के आधार पर इंद्र ने अन्य निर्वाण प्रदेशों पर भी भगवान के चरण चिन्हों की स्थापना की होगी, यह मानना उचित है ।

काल-मङ्गल

जिस काल में भगवान ने मोक्ष प्राप्त किया, वह समय समस्त पाप रूपी मल के गलाने का कारण होने से काल मङ्गल माना गया है ।

कर्मों के नाश का अर्थ

प्रश्न—सत् पदार्थ का सर्वथा क्षय नहीं होता है, तब भगवान ने समस्त कर्मों का क्षय किया, इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—यह बात यथार्थ है कि सत् का सर्वथा नाश नहीं होता है और न असत् का उत्पाद ही होता है । समंतभद्रस्वामी ने कहा है—"नैवाऽसतो जन्म, सतो न नाशो" अर्थात् असत् का जन्म नहीं होता, तथा सत् का नाश भी नहीं होता है । कर्मों के नाश

का अर्थ यह है कि आत्मा से उनका सम्बन्ध छूट जाता है तथा वे पुनः रागादि विकार उत्पन्न नहीं करते। यहाँ अभिप्राय यह है कि पुद्गल ने कर्मत्व पर्याय का त्याग कर दिया है। वह अकर्म पर्यायरूप में विद्यमान है। अन्य कषायवान् जीव उसे योग्य बनने पर पुनः कर्मपर्याय परिणत कर सकता है। मुक्त होने वाली आत्मा के साथ उस पुद्गल का अब, कभी भी पुनः बन्ध नहीं होगा। कर्मक्षय का इतना ही मर्यादापूर्ण अर्थ करना उचित है।

निर्वाण-भूमि का महत्व

आत्म निर्मलता सम्पादन में सिद्ध-भूमि का आश्रय ग्रहण करना भी उपयोगी माना गया है। निर्वाण-स्वामी (मुनि) सल्लेखना के हेतु निर्वाण-स्थल में निवास को अपने लिए हितकारी अनुभव करते हैं। क्षपकराज, चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज नेआत्म-विशुद्धता के हेतु ही कुंथलगिरि रूप निर्वाणभूमि को अपनी अन्तिम तपोभूमि बनाया था।

आचार्य शांतिसागर महाराज का अनुभव

आचार्य महाराज की पहले इच्छा थी, कि वे पावापुरी जाकर सल्लेखना को स्वीकार करें। उन्होंने कहा था—"हमारी इच्छा पावापुरी में सल्लेखना लेने की है। वहाँ जाते हुए यदि मार्ग में ही हमारा शरीरान्त हो जाय, तो हमारे शरीर को जहां हमारे पिता हैं, वहां पहुँचा देना।"

मैंने पूछा था :— महाराज ! पिता से आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—"महावीर भगवान हमारे पिता हैं।"

मेरे भाई प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकरने प्रश्न किया— तब तो जिनवाणी आपकी माता हुई ?

उत्तर—"बिल्कुल ठीक बात है। जिनवाणी हमारी माता है और महावीर भगवान हमारे पिता हैं।" उन्होंने यह भी कहा था, कि "सिद्धभूमि में रहने से भावों में विशेष निर्मलता आती है तथा वहाँ सुखपूर्वक बहुत उपवास बन जाते हैं ऐसा हमारा अनुभव है। यहाँ कुंथलगिरि में पाँच उपवास करते हुए भी हमें ऐसा लगता है कि हमने एक उपवास किया हो।" ये उद्गार महाराज शाँतिसागर जी ने १९५३ में कुंथलगिरि चातुर्मास के समय व्यक्त किए थे।

निषीधिका

निर्वाणभूमि को निषीधिका कहा गया है। प्रतिक्रमण-ग्रंथत्रयी में गौतम गणधर ने लिखा है—"णमोत्थु दे णिसीधिए, णमोत्थु दे अरहंत, सिद्ध" (पृष्ठ २०)—निषीधिका को नमस्कार है। अरहंत को नमस्कार है। सिद्ध को नमस्कार है। संस्कृत टीका में आचार्य प्रभाचन्द्र ने निषीधिका के सत्रह अर्थ करते हुए उसका अर्थ सिद्धजीव निर्वाणक्षेत्र, उनके द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश भी किया है। उन्होंने यह गाथा भी उद्धृत की है :—

सिद्धा य सिद्धभूमी सिद्धाण-समाहिओ णहो-देसो।
एयाओ अण्णाओ णिसीहियाओ सया वंदे॥

मैं सिद्ध, सिद्धभूमि, सिद्धों के द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश आदि निषीधिकाओं की सदा वंदना करता हूँ।

इस आगम के प्रकाश में कैलाशगिरि आदि निर्वाणभूमियों का महत्व स्पष्ट होता है।

मोक्ष का अभिप्राय

दार्शनिक भाषा में मोक्ष का स्वरूप है, 'जीव और कर्मों का पूर्णरूपेण संबंधविच्छेद।' बंध की अवस्था में कर्म ने जीव को

बांधा था, और जीव ने भी कर्मों को पकड़ लिया था। उस अवस्था में जीव और पुद्गल में विकार उत्पन्न होने से वैभाविक परिणमन हुआ था। मोक्ष होने पर जैसे जीव स्वतंत्र हो जाता है, उसी प्रकार बंधन-बद्ध कर्म रूप परिणत पुद्गल भी स्वतंत्र हो जाता है। जीव की स्वतंत्रता का फिर विनाश नहीं होता, किन्तु पुद्गल पुनः अशुद्ध पर्याय को प्राप्त कर अन्य संसारी जीवों में विकार उत्पन्न करता है। दोनों की स्वतंत्रता में इतना अंतर है।

निर्वाण और मृत्यु का भेद

भगवान के निर्वाण का दिन यथार्थ में 'आध्यात्मिक स्वाधीनता दिवस' है। निर्वाण तथा मृत्यु में अंतर है। संसार में आयु कर्म के नष्ट होने के पूर्व ही आगामी भव की आयु का बंध होता रहा है। वर्तमान आयु का क्षय होने पर वर्तमान शरीर का परित्याग होता है। पश्चात् जीव पूर्वबद्ध आयु कर्म के अनुसार अन्य देह को धारण करता है। इस प्रकार मृत्यु का संबंध आगामी जीवन से रहता है। मोक्ष में ऐसा नहीं होता है। परिनिर्वाण की अवस्था में आयु कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से जन्म-मरण की शृंखला सदा के लिए समाप्त हो जाती है।

इस पंचम काल में संहनन की हीनता के कारण मोक्ष के योग्य शुक्ल-ध्यान नहीं बन सकता है, अतः भरत क्षेत्र से मोक्ष गमन का अभाव है। सामान्य लोग निर्वाण के आंतरिक मर्म का अवबोध न होने से लोक प्रसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु को भी परिनिर्वाण या महा-निर्वाण कह देते हैं। संपूर्ण परिग्रह को त्याग कर दिगम्बर मुद्राधारी श्रमण बनने वाले व्यक्ति को रत्नत्रय की पूर्णता होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। जो हिंसामय धर्म से अपने को उन्मुक्त नहीं कर पाए हैं, उनकी मृत्यु को निर्वाण मानना असम्यक् है। वीतरागता के पथ को स्वीकार किए बिना निर्वाण असंभव है।

मोक्ष का सुख

तत्वार्थसार में एक सुन्दर शंका उत्पन्न कर उसका समाधान किया गया है।

स्यादेतदशरीरस्य जंतोर्नष्टाष्टकर्मणः ।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं शृणु ।।४६।। मोक्ष तत्वम् ।।

प्रश्न—अष्ट कर्मों के नाश करने वाले शरीर रहित मुक्तात्मा के कैसे सुख पाया जायगा ? शंकाकार का अभिप्राय यह है कि शरीर के होने पर सुखोपभोग के लिए साधन रूप इन्द्रियों द्वारा विषयों से आनन्द की उपलब्धि होती थी। मुक्तावस्था में शरीर नाश करने से सुख का सद्भाव कैसे माना जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य इस प्रकार समाधान करते हैं।

समाधान

सुख शब्द का प्रयोग लोक में विषय, वेदना का अभाव, विपाक तथा मोक्ष इन चार स्थानों में होता है।

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ।।४७।।

सुखं वायुः, सुखं वन्हिः—यह पवन आनन्ददायी है। यह अग्नि अच्छी लगती है। यहाँ सुखके विषय में सुख का प्रयोग हुआ है। दुःख का अभाव होने पर पुरुष कहता है—'सुखितोऽस्मि'—मैं सुखी हूँ। पुण्यकर्म के विपाक से इन्द्रिय तथा पदार्थ से उत्पन्न सुख प्राप्त होता है। श्रेष्ठ सुख की प्राप्ति, कर्मक्लेश का अभाव होने से, मोक्ष में होती है। मोक्ष के सुख के समान अन्य आनन्द नहीं है, इससे उस सुख को निरूपम कहा है। त्रिलोकसार में लिखा है—

चक्कि-कुरु-फणि-सुरेंदे- अहमिंदे जं सुहं तिकालभवं ।
तत्तो अणंतगुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि ।।५६०।।

चक्रवर्ती, कुरु, फणीन्द्र, सुरेन्द्र, अहमिन्द्रों में जो क्रमशः अनन्त गुणा सुख पाया जाता है; उनके सुखों को अनंत गुणित करने

से जो सुख होता है, उतना सुख सिद्ध पगवान को क्षण मात्र में प्राप्त होता है।

सुख-दुःख की मीमांसा

सुख और दुःख की सूक्ष्मता पूर्वक मीमांसा की जाय, तो ज्ञाता होगा, कि सच्चा सुख तथा शांति भोग में नहीं, त्याग में है। भोग में तृष्णा की वृद्धि होती जाती है। उससे अनाकुलता रूप सुख का नाश होता जाता है। इन्द्रियजनित सुख का स्वरूप समझाते हुए आचार्य कहते हैं, तलवार की धार पर मधु लगा दिया जाय। उसको चांटत समय कुछ आनन्द अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु जीभ के कटने से अपार वेदना होती है। विषयजनित सुखों को दुःख कहने के बदले में सुखाभास नाम दिया गया है। परमार्थ दृष्टि से यह सुखाभास दुःख ही है। पंचाध्यायी में वैषयिक सुख के विषय में कहा है :—

"नह तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम्" ॥२३८॥

वह इन्द्रियजन्य सुख सुखाभास है। यथार्थ में वह दुःख ही है।

शक्र-चक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम्
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥२-२५७॥

महान पुण्यशाली इन्द्र, चक्रवती आदि जीवों के तृष्णा के बीज रूप रति अर्थात् आनन्द पाया जाता है। उनके सुख की प्राप्ति कैसे होगी? इन्द्रियजनित सुख कर्मोदय के अधीन है। सिद्धों का सुख स्वाधीन है। इन्द्रिय जन्य सुख अंत सहित है, पाप का बीज है तथा दुःखों से मिश्रित है। सिद्धावस्था का सुख अनंत है। वहां दुःख का लेश भी नहीं है; कारण विघ्नकारी कर्मों का पूर्ण क्षय हो चुका है।

निर्वाण अवस्था

नियमसार में कहा है :—

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
ण वि धम्म-सुक्कझाणे तत्थेव होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

सिद्ध भगवान के कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं। चिन्ता नहीं है। आर्त तथा रौद्र ध्यान नहीं है। धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान नहीं है। ऐसी अवस्था ही निर्वाण है।

निर्वाण तथा सिद्धों में अभेद

कुंदकुंदस्वामी ने यह भी कहा है :—

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्ग-पज्जत्तं ॥१८३॥नियमसार॥

निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण हैं (दोनों में अभेदपना है)। कर्मों से वियुक्त आत्मा लोकाग्र पर्यन्त जाती है।

सिद्धों के सुख का रहस्य

भोजन-पानादि द्वारा सुख का अनुभव संसारी जीवों को है। मुक्ति में ऐसी सामग्री का अभाव होने से कैसे सुख माना जाय? यह शंका स्थूलदृष्टि वालों की रहती है।

इसके समाधानार्थ 'सिद्धभक्ति' का यह कथन महत्व पूर्ण है। भगवान ने भूख-प्यास की प्रादुर्भूति के कारण कर्म का नाश कर दिया है। उसकी वेदना नष्ट होने से विविध भोजन, व्यंजन आदि व्यर्थ हो जाते हैं। अपवित्रता से संबंध न होने के कारण सुगंधित माला आदि का भी प्रयोजन नहीं है। ग्लानि तथा निद्रा के कारण रूप कर्मों का क्षय हो गया है, अतएव मृदु शयनासनादि की आवश्यकता नहीं है। भीषण रोगजनित पीड़ा का अभाव होने से उस रोग के उपशमन हेतु ली जाने वाली औषधि अनुपयोगी है अथवा दृश्यमान जगत् में प्रकाशमान रहने पर दीप के प्रकाश का प्रयोजन नहीं रहता है। इसी प्रकार सिद्ध भगवान के समस्त इच्छाओं का अभाव है, इसलिए बाह्य इच्छा पूर्ति करने वाली सामग्री की आवश्यकता नहीं है। मोहज्वर से पीड़ित जगत् के जीवों का अनुभव मोहमुक्त, स्वस्थ

अर्थात् आत्म स्वभाव में अवस्थित सिद्ध भगवान के विषय में लगाना अनुचित है। कहा भी है :—

नार्थःक्षुत्-तृड्-विनाशात् विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या।
नास्पृष्टोगंध-माल्यै नहि मृदुशयनैर्ग्लानि-निद्राद्यभावात्।
आतंकार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजा-नर्थतावद्।
दीपानर्थक्यवद्वा व्यपगत-तिमिरे दृश्यमाने समस्ते ॥८॥

अवर्णनीय इंद्रियजनित सुख का अनुभव लेने वाले सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र सदा यही अभिलाषा करते हैं कि किस प्रकार उनको सिद्धों का स्वाधीन, इंद्रियातीत अविनाशी सुख प्राप्त हो। सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों में पूर्णतया समानता रहने से पुण्यात्माओं का परिपूर्ण साम्य पाया जाता है, ऐसा ही साम्य इनसे द्वादश योजन ऊंचाई पर विराजमान सिद्धों के मध्य पाया जाता है। यह आध्यात्मिक विभूतियों के मध्य स्थित साम्य है। अहमिन्द्रों का साम्य तेतीस सागर की आयु समाप्त होने पर तत्क्षण समाप्त होता है अर्थात् वहां से आयु क्षय होने पर अवस्थान्तर में आना पड़ता है। सिद्धों के मध्य का साम्य अविनाशी है। वे सब आत्माएं परिपूर्ण तथा स्वतंत्र हैं। एक दूसरे के परिणमन में न साधक हैं, न बाधक हैं।

सुख की कल्पना

आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में बड़ी सुन्दर बात कही है :—

जनेभ्यः सुखिनो भूपाः भूपेभ्य श्चक्रवर्तिनः।
चक्रिभ्यो व्यंतरास्तेभ्यः सुखिनो ज्योतिषोऽमराः ।१०५—१८७॥
ज्योतिर्भ्यो भवनावासास्तेभ्यः कल्पभुवः क्रमात्।
ततो ग्रैवेयकावासास्ततोऽनुत्तरवासिनः ॥१८८॥
अनंतानंत-गुणतस्तेभ्यः सिद्धि-पदस्थिताः।
सुखं नापरमुत्कृष्टं विद्यते सिद्धसौख्यतः ॥१८९॥

मनुष्यों की अपेक्षा राजा सुखी है। राजाओं की अपेक्षा चक्रवर्ती सुखी है। चक्रवर्ती की अपेक्षा व्यंतरदेव तथा व्यंतरों की अपेक्षा ज्योतिषीदेव सुखी हैं। ज्योतिषी देवों की अपेक्षा भवनवासी

तथा भवनवासियों की अपेक्षा कल्पवासी सुखी हैं । कल्पवासियों की अपेक्षा ग्रैवेयकवासी तथा ग्रैवेयकवासियों की अपेक्षा विजय, वैजयन्त, जयंत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि रूप पंच अनुत्तरवासी सुखी हैं । उनसे भी अनंतानंतगुणे सुखयुक्त सिद्धि पद को प्राप्त सिद्ध भगवान हैं । सिद्धों के सुख की अपेक्षा दूसरा और उत्कृष्ट आनंद नहीं है ।

सिद्ध परमेष्ठी की महत्ता को योगी लोग भली प्रकार जानते हैं । इससे महापुराणकार उनको 'योगिनां गम्यः'—योगियों के ज्ञान गोचर कहते हैं । जिनसेन स्वामी का यह कथन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए ध्यान देने योग्य है :—

वीतरागोप्यसौ ध्येयो भव्यानां भवविच्छिदे ।
विच्छिन्नबंधनस्यास्य तादृग्नैसर्गिको गुणः ।।२१—११६।।

भव्यात्माओं को संसार का विच्छेद करने के लिए वीतराग होते हुए भी इन सिद्धों का ध्यान करना चाहिए । कर्म बंधनका विच्छेद करने वाले सिद्ध भगवान का यह नैसर्गिकगुण कहा गया है । आचार्य का अभिप्राय यह है कि सिद्ध भगवान वीतराग हैं । वे स्वयं किसी को कुछ नहीं देते हैं, किन्तु उनका ध्यान करने से तथा उनके निर्मल गुणों का चिंतवन करने से आत्मा की मलिनता दूर होती है और वह मुक्ति मार्ग में प्रगति करती है । निरंजन निर्विकार तथा निराकार सिद्धों के ध्यान की 'रूपातीत' नाम के धर्म ध्यान में परिगणना की गई है ।

रूपातीत-ध्यान

रूपातीत ध्यान में सिद्ध परमात्मा का किस प्रकार योगी चिन्तवन करते हैं, यह ज्ञानार्णव में इस प्रकार कहा है :—

व्योमाकारमानाकारं निष्पन्नं शांतमच्युतम् ।
चरमांगात्कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ।।२२।।
लोकाग्र-शिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् ।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ।।४०—२३।।

आकाश के समान अमूर्त, पौद्गलिक आकार रहित, परिपूर्ण, शांत, अविनाशी, चरम देहसे किंचित् न्यून, घनाकार आत्म प्रदेशों से युक्त, लोकाग्रके शिखर पर अवस्थित, कल्याणमय, स्वस्थ, स्पर्शादिगुण रहित तथा पुरुषाकार परमात्मा का चिंतवन रूपातीत ध्यान में करे।

ध्यान के लिए मार्ग-दर्शन

ध्यान के अभ्यासी के हितार्थ आचार्य शुभचंद ने ज्ञानार्णव में यह महत्व पूर्ण मार्गदर्शन किया है :—

अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबंधनम्।
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्व-स्वरूपं निरूपय ।।४१—३।।

हे साधु ! अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन सदा धर्मध्यान का कारण है, अतएव अपनी मनोभूमि में द्वादश भावनाओं को स्थिर करे तथा आत्म स्वरूप का दर्शन करे।

ब्रह्मदेव सूरि का यह अनुभव भी आत्म-ध्यान के प्रेमियों के ध्यान देने योग्य है,"यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्तस्थिति-करणार्थं विषय-कषायरूप-दुर्ध्यानवंचनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति, तथापि निश्चय-ध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव इति भावार्थः" (परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ ३०२, पद्य २८६)—यद्यपि सविकल्प अवस्था में प्रारंभिक श्रेणी वालों के चित्त को स्थिर करने के लिए तथा विषय-कषाय रूप दुर्ध्यान अर्थात् आर्तध्यान, रौद्रध्यान दूर करने के लिए जिन प्रतिमा तथा जिन वाचक अक्षरादिक भी ध्यान के योग्य हैं, तथापि निश्चय ध्यान के समय शुद्ध आत्मा ही ध्येय है।

जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति के निमित्त से आत्मा का रागभाव मन्द होता है, परिणाम निर्मल होते हैं तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

सिद्ध-प्रतिमा

सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने के लिए भी जिनेन्द्र देव की प्रतिमा उपयोगी है। सिद्ध प्रतिमा के स्वरूप पर आचार्य वसुनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती ने मूलाचार की टीका में इस प्रकार प्रकाश डाला है :—"अष्टमहाप्रातिहार्यसमन्विता अर्हत्प्रतिमा, तद्रहिता सिद्ध-प्रतिमा।"—जो प्रतिमा अष्टप्रातिहार्य समन्वित हो, वह अरहंत भगवान की प्रतिमा है। अष्टप्रतिहार्य रहित प्रतिमा को सिद्ध-प्रतिमा जानना चाहिए। इस विषय में यह कथन भी ध्यान देने योग्य है; "अथवा कृत्रिमाः यास्ता अर्हत्प्रतिमाः, अकृत्रिमाः सिद्धप्रतिमाः" (पृष्ठ ३१ गाथा २५)—अथवा संपूर्ण कृत्रिम जिनेन्द्र प्रतिमाएं अरहंत प्रतिमा हैं। अकृत्रिम प्रतिमाओं को सिद्ध प्रतिमा कहा है।

इस आगम वाणी के होते हुए धातु विशेष में पुरुषाकार शून्य स्थान बनाकर उसके पीछे दर्पण को रखकर उसे सिद्ध प्रतिमा मानने का जब आगम में विधान नहीं है तब आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाला व्यक्ति अपना कर्तव्य और कल्याण स्वयं विचार सकता है। यह बात भी विचारणीय है, कि पोलयुक्त मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा करते समय मंत्र-न्यास विधि किस प्रकार संपन्न की जायेगी, उसके अभाव में प्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित मूर्ति में किस प्रकार भेद किया जा सकेगा? मंत्र न्यास प्रतिष्ठा का मुख्य अंग है। (आशाधर प्रतिष्ठासारोद्धार ४, १४६) दक्षिण भारत के प्राचीन और महत्वपूर्ण जिन मंदिरों में इस प्रकार की सिद्ध प्रतिमाएं नहीं पाई जातीं, जैसी उत्तर प्रांत में कहीं-कहीं देखी जाती है। आगम-प्राण सत्पुरुषों को परमागम प्रति-पादित प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन प्रदान करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

निर्वाण पद और दिगम्बरत्व

सिद्ध पद को प्राप्त करने के लिए संपूर्ण परिग्रह का त्याग कर वस्त्र रहित (अचेल) मुद्रा का धारण करना अत्यंत आवश्यक

है। यह दिगम्बर मुद्रा निर्वाण का कारण है, इसलिए इसे निर्वाण मुद्रा भी कहते हैं। दक्षिण भारत में दिगम्बर दीक्षा लेने वाले मुनि राज को निर्वाण-स्वामी कहने का जनता में प्रचार है। अजैन भी निर्वाण-स्वामी को जानते हैं।

सिद्धों का ध्यान परम कल्याणदायी है, इतना मात्र जानकर भोग तथा विषयों में निमग्न व्यक्ति कुछ क्षण बैठकर ध्यान करने का अभिनय करता है, किन्तु इससे मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। ध्यान के योग्य सामग्री का मूलाराधना टीका में इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—

संग-त्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनः ।।पृ० ७४।।

वस्त्रादि परिग्रह का परित्याग, कषायों का निग्रह, व्रतों को धारण करना, मन तथा इंद्रियों का वश में करना रूप सामग्री ध्यान की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है।

द्रव्य परिग्रह-परित्याग का उपयोग

"बाह्यचेलादिग्रंथत्यागो अभ्यंतरपरिग्रहत्यागमूल:"— बाह्य पदार्थ-वस्त्रादि का परित्याग अंतरंग त्याग का मूल है; जैसे चांवल के ऊपर लगी हुई मलिनता दूर करने के पूर्व में तंदुल का छिलका दूर करना आवश्यक है, तत्पश्चात् चांवल के भीतर की मलिनता दूर की जा सकती है, इसी प्रकार बाह्य परिग्रह त्यागपूर्वक अंतरंग में निर्मलता प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त होती है। जो बाह्य मलिनता को धारण करते हुए अंतरंग मलिनता को छोड़ ध्यान का आनन्द लेते हुए सिद्धों का ध्यान करना चाहिते हैं, कर्मों की निर्जरा तथा संवर करने की मनोकमना करते हैं, वे जल का मंथन करके घृत प्राप्ति का उद्योग सदृश कार्य करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि वस्त्रादि के भार से जो मुक्त नहीं हो सकते हैं, उनकी मुक्ति की ओर यथार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। जो देशसंयम धारण करते हुए

दिगम्बर मुद्रा की लालसा रखता है, वह श्रावक मार्गस्थ है। धीरे-धीरे वह अपनी प्रिय पदवी को प्राप्त कर सकेगा, किन्तु जो वस्त्र-त्यागादि को व्यर्थ सोचते हैं, वे सकलंक श्रद्धा वश अकलंक पदवी को स्वप्न में भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। गंभीर विचारवाला अनुभवी सत्पुरुष पूर्वोक्त बात का महत्व शीघ्र समझेगा।

मूलाराधना में कहा है, भृकुटी चढ़ाना आदि चिन्हों से जैसे अंतरंग में क्रोधादि विकारों का सद्भाव सूचित होता है, इसी प्रकार वाह्य अचेलता (वस्त्र त्याग)से अंतर्मल दूर होते हैं। कहा भी है :—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भंतकरण-सोधणत्थाए।
ण हु कंडयस्स सोधी सक्का सतुसस्स कादुंजे ।।१३४८।।

बाह्य तप द्वारा अंतरंग में विशुद्धता आती है तथा जो धान्य सतुष है, उसका अंतर्मल नष्ट नहीं होता है। तुषशून्य धान्य ही शुद्ध किया जाता है।

इस धान्य के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि अंतरंग मल दूर करने के पूर्व बाह्य स्थूल परिग्रह रूप मलिनता का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

कोई कोई लोग सोचते हैं, अंतरंग पवित्रता पहले आती है, पश्चात् परिग्रह का त्याग होता है। यह भ्रमपूर्ण दृष्टि है। वस्त्रादि त्याग के उपरान्त परिणाम अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। वस्त्रादि सामग्री समलंकृत शरीर के रहते हुए देशसंयम गुण-स्थान से आगे परिणाम नहीं जा सकते हैं।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि ऐसे कृत्रिम नग्न मुद्राधारी भी व्यक्ति रहते हैं, जिन्होंने बाह्य परिग्रह का तो त्याग कर दिया है, किन्तु जिनका मन स्वच्छ नहीं है, उस उच्चपदवी के अनुकूल नहीं है। इसके सिवाय यह भी विषय नहीं भुलाना चाहिए कि जिसकी आंतरिक शुद्धि है, उसके पहले बाह्य परिग्रह रूप विकृति दूर होनी चाहिए।

बाह्य परिग्रह द्वारा जीव-घात

बाह्य परिग्रह में जिनको दोष नहीं दिखता है, वे कम से कम यह तो सोच सकते हैं कि वस्त्रादि को स्वच्छ रखने में, उनको धोने आदि के कार्य में त्रस-स्थावर जीवों का घात होता है, वह हिंसा समर्थ आत्मा बचा सकती है, अतः बाह्य परिग्रह के त्याग द्वारा अहिंसादि की परिपालना होती है, यह बात समन्वयशील न्यायबुद्धि मानव को ध्यान में रखना उचित है।

कोई-कोई सोचते हैं, कि हमारे यहाँ शास्त्रों में वस्त्रादि परिग्रह के त्याग बिना भी साधुत्व माना जाता है। ऐसे लोगों को आत्महितार्थ गहरा विचार करना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि मनुष्य जीवन का पाना खिलवाड़ नहीं है। आत्मकल्याण के लिए भय, संकोच, मोहादि का त्याग कर सत्य को शिरोधार्य करना सत्पुरुष का कर्तव्य है।

संपूर्ण कर्मों का नाश करने वाले सिद्ध परमेष्ठी की पदवी अरहंत भगवान से बड़ी है, यद्यपि भगवान शब्द दोनों के लिए उपयोग में आता है।

सिद्धों के विशेष गुण

इन सिद्धों के चार अनुजीवी गुण कहे गए हैं। जो घातिया कर्मों के विनाश से अरहंत अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं, वे गुण भावात्मक कहे गए हैं। ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरण के विनाश से केवलदर्शन, मोहनीय के उच्छेद से अविचलित सम्यक्त्व तथा अंतराय के नाश द्वारा अनंतवीर्यता रूप गुणचतुष्टय प्राप्त होते हैं। अघातिया कर्मों के अभाव में चार प्रतिजीवी गुण उत्पन्न होते हैं। वेदनीय के विनाश से अव्याबाधत्व प्रगट होता है। गोत्र के नाश होने पर अगुरुलघुगुण प्राप्त होता है। नाम कर्म के अभाव में अवगाहनत्व तथा आयुकर्म के (जिसे जगत् मृत्यु, यमराज आदि नाम से पुकारता

है) विनाश होने पर सूक्ष्मत्व गुण प्रगट होते हैं । इन अनुजीवी तथा प्रतिजीवी गुणों से समलंकृत यह सिद्ध पर्याय है । इसे स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय भी कहा है । आलाप-पद्धति में लिखा है 'स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्यायाश्चरमशरीरात्-किंचित-न्यून-सिद्धपर्यायः' (पृष्ठ १६६)

कैलाशगिरि पर चतुर्विशंति जिनालय

भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के कारण कैलाश पर्वत पूज्य स्थल बन गया । चक्रवर्ती भरत ने उस पर्वत पर अपार वैभवपूर्ण जिन मंदिर बनवाए थे । उन मंदिरों की रक्षार्थ अजितनाथ भगवान के तीर्थ में उत्पन्न सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने आसपास खाई खोदकर उसे जल से भरा था । उत्तरपुराण में कहा है :—

> **राज्ञाप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना ।**
> **गृहा कृता महारत्नैश्चतुर्विंशतिरर्हताम् ।।१०७।।**
> **तेषां गंगां प्रकुर्वीध्वं परिखां परितो गिरिम् ।**
> **इति तेपि तथा कुर्वन् दंडरत्नेन सत्वरम् ।।१०८।। अध्याय १**

चक्रवर्ती सगर ने अपने पुत्रों को आज्ञा दी, कि महाराज भरत ने कैलाश पर्वत पर महारत्नों के अरहंत देव के चौबीस जिनालय बनवाए हैं । उस पर्वत के चारों ओर खाई के रूप में गंगा का प्रवाह बहा दो । यह सुनकर उन राजपुत्रों ने दण्डरत्न लेकर शीघ्र ही उस काम को पूर्ण कर दिया ।

गुणभद्र आचार्य ने यह भी कथन किया है कि राजा भगीरथ ने वैराग्य उत्पन्न होने पर वरदत्त पुत्र को राज्यलक्ष्मी देकर कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त महामुनि के समीप जिन दीक्षा ली और और गंगा के किनारे ही प्रतिमायोग धारण किया । गंगा के तट से ही उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया था । इन्द्र ने आकर क्षीरसागर के जल से भागीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया था । उस अभिषेक का जल गंगा में मिला; तब से ही यह गंगा इस संसार में तीर्थ रूप में पूज्य मानी जाती है । गुणभद्राचार्य कहते हैं :—

सुरेन्द्रेणास्य दुग्धाब्धि-पयोभिरभि षेचनात् ।
क्रमयो स्तत्प्रवाहस्य गंगायाः संगमे सति ।।१५०।।
तदाप्रभृति तीर्थत्वं गंगाप्यस्मिन्नुपागता ।
कृत्वोत्कृष्टं तपो गंगातटे सौ निर्वृति गतः ।।१-१४१।।

वैदिक लोग भी कैलाशगिरि को पूज्य मानते हैं—वे हिमालय पर्वत के समीप जाकर कैलाश की यात्रा करते हैं ।कैलाश का जैसा वर्णन उत्तरपुराण में किया गया है, वैसी सामग्री का सद्भाव अब तक ज्ञात नहीं हो सका है । उसके विषय में यदा कदा कोई लेख भी छपे हैं, किन्तु उनके द्वारा ऐसी सामग्री नहीं मिली है, जिसके आधार पर उस तीर्थ की वंदना का लाभ उठाया जा सके । कैलाश नाम के पर्वत का ज्ञान होने के साथ निर्वाण स्थल के सूचक कुछ जैनचिन्हों का सद्भाव ही उस तीर्थ के विषय में संदेहमुक्त कर सकेगा । अब तक तो उसके विषय में पूर्ण अजानकारी है ।

उपयोगी चिंतवन

भव्यात्माओं को मोक्ष प्राप्त तीर्थंकरों के विषय में यह विचार करना चाहिये कि चैतन्य-ज्योति समलंकृत चौबीसों भगवान सिद्धालय में विराजमान हैं । भगवान ऋषभदेव, वासुपूज्य और नेमिनाथ ने पद्मासन से मोक्ष प्राप्त किया, शेष इक्कीस तीर्थंकरों की मुक्ति खड्गासन से हुई थी, अतः उनका उसी आसन में चिंतवन करना चाहिये । जैसे दीपावली के प्रभात समय महावीर प्रभु के विषय में ध्यान करते समय सोचना चाहिए कि पावापुरी के चरणों के ठीक ऊपर लोक के अग्रभाग में खड्गासन से सात हाथ ऊँचाई वाली आत्मज्योति विराजमान है । तिलोयपण्णत्ति में कहा है—

उसहो य वासुपुज्जो णेमी पल्लंकबद्धया सिद्धा ।
काउसग्गेण जिणा सेसा मुत्ति समावण्णा ।।४—१२१०।।

मोक्ष की प्राप्ति के योग्य स्थान कर्मभूमि मानी गई हैं । पन्द्रह कर्मभूमियाँ जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड तथा पुष्करार्ध द्वीप में हैं ।

जंबूद्वीप में भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र तथा विदेह क्षेत्र (देवकुरु तथा उत्तरकुरु को छोड़कर) रूप कर्मभूमियां मानी गई है। आजकल जंबूद्वीप सम्बन्धी विदेह में पूर्व तथा पश्चिम विदेहों के दो दो भागों में चार तीर्थंकर विद्यमान हैं। धातकीखण्ड में उनकी संख्या आठ कही है, कारण वहाँ दो भरत, दो ऐरावत, दो विदेह कहे गए हैं। पुष्करार्ध द्वीप में धातकीखण्ड सदृश वर्णन है। वहाँ भी आठ तीर्थंकर विद्यमान हैं। इस प्रकार कम से कम ४+८+८=२० बीस विद्यमान तीर्थंकर कहे गए हैं। अधिक से अधिक तीर्थंकरों की संख्या एक समय में एक सौ सत्तर मानी गई है।

तीर्थंकरों की संख्या

पंच भरत, पंच ऐरावत क्षेत्रों में दुषमासुषमा नामके चतुर्थ कालमें दस तीर्थंकर होते हैं। एक विदेह में बत्तीस तीर्थंकर होते हैं। पाँच विदेहों में १६० तीर्थंकर हुए। कुल मिलाकर उनकी संख्या १७० कही गई है। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

> **द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु ससप्तति-शतात्मके।**
> **धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमो नमः ॥२२—२७॥**

अढ़ाई द्वीप में १७० धर्मक्षेत्रों में भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल सम्बन्धी अरहंतादि जिनेन्द्रों को नमस्कार हो।

विदेह में तीर्थंकारों के कल्याणक

विदेह के तीर्थंकरों में सबके पाँचों कल्याणकों का नियम नहीं है। भरत तथा ऐरावत में पंचकल्याणकवाले तीर्थंकर होते हैं। विदेह में किन्हीं के पाँच कल्याणक होते हैं, किन्हीं के तीन होते हैं, किन्हीं के दो भी कल्याणक होते हैं। इस विषय में विशेष बात इस प्रकार जानना चाहिये कि विदेह में जन्मप्राप्त श्रावक ने तीर्थंकर के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। वह यदि चरमशरीरी है, तो उस जीव के तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक तथा निर्वाणकल्याणक होंगे।

यदि श्रावक के स्थान में मुनि पदवी प्राप्त महापुरुष ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया और वह चरम शरीरी आत्मा है तो उनके ज्ञानकल्याणक तथा मोक्षकल्याणक होंगे। पाँच कल्याणक वाले तीर्थंकर तो सर्वत्र विख्यात हैं। चार कल्याणक तथा एक कल्याणक वाले तीर्थंकर नहीं होते। कहा भी है :—

"तीर्थंबंधप्रारंभश्चरमांगाणामसंयत-देशसंयतयोस्तदा कल्याणानि निःक्रमणादीनि त्रीणि, प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे। प्राग्भवे तदा गर्भावतारादीनि पंचेत्यवसेयम्" (गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५४६, संस्कृतटीका पृष्ठ ७०८)—जब तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ चरमशरीरी असंयमी अथवा देशसंयमी करते हैं, तब तप, ज्ञान तथा निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं। जब प्रमत्त संयत तथा अप्रमत्त संयत बंध का प्रारंभ करते है, तब ज्ञान और निर्वाण ये दो कल्याणक होते हैं। यदि पूर्वभव में बंध को प्रारम्भ किया था, तो गर्भावतरण आदि पंचकल्याणक होते हैं।

सूक्ष्म विचार

इस संबंध में सूक्ष्म विचार द्वारा यह महत्व की बात अवगत होगी कि तीर्थंकर प्रकृति सहित आत्मा को तीर्थंकर कहते हैं। उसका उदय केवली भगवान में रहता है। उसकी सत्ता में तो मिथ्यात्व गुण-स्थान तक हो सकता है। एक व्यक्तिने भरतक्षेत्र में तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया। वह मरण कर यदि दूसरे या तीसरे नरक में जन्म धारण करता है, तो अपर्याप्तावस्था में वह मिथ्यात्वी ही होगा। सम्यक्त्वी जीव का दूसरी आदि पृथ्वियों में जन्म नहीं होता है। उन पृथ्वियों में उत्पत्ति के उपरान्त सम्यक्त्व हो सकता है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव तीसरे नरक तक जाता है। वहां सम्यक्त्व उत्पन्न होने के उपरान्त पुनः तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। गो० कर्मकांड में कहा है "घम्मे तित्थं बंधदिवंसा-मेघाण पुण्णगो चेव।" (गाथा

१०६) । तीर्थंकर प्रकृति के बंध का आरंभ मनुष्य गति में होता है, उसका निष्ठापन देवगति-तथा नरकगति में भी होता है।

तीर्थंकर का निर्वाण

तीर्थंकर रूप में जन्म धारण करने वाली आत्मा के गर्भ, जन्म, तप तथा ज्ञान कल्याणक होते हैं। इन अवस्थाओं में तीर्थंकर प्रकृति का अस्तित्व रहता है। अयोग केवली के अंतिम समय में तीर्थंकर प्रकृति का क्षय हो गया, अतः उसकी सत्ता शेष नहीं रही। निर्वाण प्राप्त सिद्ध जीव के तीर्थंकर प्रकृति नहीं है। उनका निर्वाण-कल्याणक किस प्रकार तीर्थंकर का निर्वाण कल्याणक कहा जायेगा ? अब तो वे तीर्थंकर पद वाच्यता से अतीत हो चुके हैं; अतएव सूक्ष्म दृष्टि से तीर्थंकर नामकर्म सहित आत्मा के गर्भ, जन्म, दीक्षा तथा ज्ञान कल्याणक कहे जायेंगे।

यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि आगम में तीर्थंकर को पंचकल्याणक-संपन्न (पंचकल्लाण-संपण्णाणं) क्यों कहा है ? इसके समाधान में यही कहा जायगा, कि भूतपूर्व नैगम नय की अपेक्षा यह कहा जाता है। एवंभूतनय की अपेक्षा ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म का सौन्दर्य उसकी स्याद्वादमयी पवित्र देशनामें हैं, जिसके कारण अविरोध रूप से पदार्थ का कथन होता है। उसी स्याद्वाद से इस प्रश्न पर दृष्टि डालने पर शंका दूर हो जाती है।

भरत तथा ऐरावत में पंचकल्याणक वाले ही तीर्थंकर क्यों होते हैं, विदेह के समान तीन अथवा दो कल्याणक संपन्न महापुरुष क्यों नहीं होते ? इसका विशेष कारण चिंतनीय है। भरत तथा ऐरावत में एक उत्सर्पिणी में चौबीस तीर्थंकर होते हैं और अवसर्पिणी में भी चौबीस होते हैं। अवसर्पिणी के चौथे काल में तथा उत्सर्पिणी के तीसरे काल में इनका सद्भाव माना गया है। दुषमा-सुषमा काल के सिवाय अन्य कालों के होने पर इन स्थानों में मोक्षमार्ग

नहीं रहता । विदेह में नित्य मोक्षमार्ग है, कारण वहां दुषमासुषमा काल का सदा सद्भाव पाया जाता है । वहां तो ऐसा होता है कि एक तीर्थंकर के समक्ष कोई भव्य तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है । जब गुरुदेव तीर्थंकर मोक्ष चले गए, तो उस समय इस चरम शरीरी आत्मा के दीक्षा लेने पर तपादि कल्याणकों के क्रम में बाधा नहीं आती । दो तीर्थंकरों का परस्पर में दर्शन नही होता, जैसे दो चक्र-वर्तियों आदि का भी परस्पर दर्शन नहीं होता । भरत तथा ऐरावत में ऐसी पद्धति है कि एक तीर्थंकर के समीप किसी ने तीर्थकर प्रकृति क बंध किया है जैसे श्रेणिक राजा ने वीर भगवान के सानिध्य में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था । उसके उपरान्त वह जीव या तो स्वर्ग में जायगा, या नरक में जायगा, इसके पश्चात वह तीसरे भव में तीर्थंकर होकर मुक्त होता है ।

विदेह नित्य धर्मभूमि है, अतएव वहां चरम शरीरी जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंधकर उसी भवमें मोक्ष जाता है । भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र में एक ही भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके उसी भव से मोक्ष जाने का क्रम नहीं है । बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कल्प-काल में भरत तथा ऐरावत में चौबीस तीर्थंकर उत्सर्पिणी में तथा चौबीस ही अवसर्पिणी में होगे । विदेह का हाल अपूर्व है । इतने लम्बे काल में वहां से विपुल संख्या में तीर्थंकर मुक्ति प्राप्त करते हैं । एक कोटि पूर्व की आयु प्राप्त कर मोक्ष जाने के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर की उत्पत्ति होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।

सिद्धलोक और कर्मभूमि का क्षेत्रफल

कर्मभूमियों से ही जीव सिद्ध होते हैं, किन्तु सिद्धलोक का क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन प्रमाण कहा है, उसमें कर्मभूमि तथा भोगभूमियों का क्षेत्र आ जाता है । अतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत क्षेत्र, हरिक्षेत्र, रम्यक क्षेत्र, हैरण्यवत

क्षेत्रों से भी मोक्ष होता है ? यदि मोक्ष मानते हो, तो उनको भोगभूमि के स्थान में कर्मभूमि क्यों नहीं कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त सरल है। सर्वार्थसिद्धि का कथन ध्यान देने योग्य है, "कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति ? प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे, स्वप्रदेशे, आकाश प्रदेशे वा सिद्धिर्भवति। भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म प्रति पंचदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः" (अध्याय १०, सूत्र ९ की टीका)।

प्रश्न—किस क्षेत्र में सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—वर्तमान को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा निर्वाणक्षेत्र से मुक्त होते हैं, अपनी आत्मा के प्रदेशों में मुक्त होते हैं, अथवा शरीर के द्वारा गृहीत आकाश के प्रदेशों से सिद्धि होती है। भूतकाल को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा से पंद्रह कर्मभूमि में जन्म प्राप्त जीव वहां से सिद्ध होता है। वहां जन्म प्राप्त जीव को देव आदि अन्य क्षेत्रों में ले जावें, तो समस्त मनुष्यक्षेत्र निर्वाणभूमि है। इस कथन से शंका का निराकरण हो जाता है।

महत्व की बात

सर्वार्थसिद्धि में एक और सुन्दर बात लिखी है, "अवसर्पिण्यां सुषम-दुःषमायाः अन्त्ये भागे दुःषमसुषमायाँ च जातः सिध्यति। न तु दुःषमायां जातो दुःषमायां सिध्यति। अन्यदा नैव सिध्यति। संहरणतः सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति" (१० अध्याय, सूत्र ९)—अवसर्पिणी काल में सुषम-दुःषमा नाम के तृतीय काल के अंतिम भाग में तथा दुःषम-सुषमा नामके चतुर्थकाल में जन्मधारण करने वाला मोक्ष जाता है। दुःषमा नामक पंचम काल में उत्पन्न हुआ पंचम काल में मुक्त नहीं होता। अन्यकालों में मोक्ष नहीं होता। किसी देवादि के द्वारा लाया गया जीव उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के सभी कालों में सिद्ध पदवी को प्राप्त करता है। इस

कथन का भाव यह है कि विदेह सदृश कर्मभूमि में सदा मोक्षमार्ग चालू रहता है। अन्य कर्मभूमि के क्षेत्रों में काल कृत परिवर्तन होने से मोक्षमार्ग रुक गया। ऐसे काल में भी देवादि के द्वारा लाया जीव इन क्षेत्रों से मुक्त हो सकता है, जहां मुक्ति जाने योग्य चतुर्थ काल का सद्भाव नहीं है।

प्रश्न :—जब समस्त पैंतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र को निर्वाणस्थल माना है, तब पावापुरी, चम्पापुरी आदि कुछ विशेष स्थानों को निर्वाण स्थल मानकर पूजने की पद्धति का अन्तरंग रहस्य क्या है?

समाधान—आगम में लिखा है कि छठवें काल के अन्त में जब उनचास दिन शेष रहते हैं, तब जीवों को त्रासदायक भयंकर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है। उस समय महा गंभीर एवं भीषण संवर्तक वायु बहती है, जो सात दिन पर्यन्त वृक्ष, पर्वत और शिला आदि को चूर्ण करती है। इससे जीव मूर्च्छित होते हैं और मरण को प्राप्त करते हैं। मेघ शीतल और क्षार जल तथा विष जल में से प्रत्येक को सात-सात दिन तक बरसाते हैं। इसके सिवाय वे मेघ-धूम, धूलि, वज्र तथा अग्नि की सात-सात दिन तक वर्षा करते हैं। इस क्रम से भरत क्षेत्र के भीतर आर्य खण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाती है। वज्र और महाअग्नि के बल से आर्य खण्ड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्वरूप को छोड़कर धूलि एवं कीचड़ की कलुषता से रहित हो जाती है। (तिलोयपण्णत्ति ३४७ पृष्ठ)। उत्तरपुराण में लिखा है :—

ततो धरण्याः वैषम्यविगमे सति सर्वतः।
भवेच्चित्रा समा भूमिः समाप्तात्रावसर्पिणी ॥७६—४५३॥

उनचास दिन की अग्नि आदि की वर्षा से पृथ्वी का विषमपना दूर होगा और समान चित्रा पृथ्वी निकल आयगी। यहाँ पर ही अवसर्पिणी काल समाप्त हो जायगा। इसके पश्चात् उत्सर्पिणी

काल प्रारंभ होगा। उस समय क्षीर, अमृत आदि जाति के मेघों की वर्षा होगी, उससे सब वस्तुओं में रस उत्पन्न होगा।

आगम के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि छठवें काल के अन्त में सभी भवनादि कृत्रिम सामग्री इस आर्य खण्ड में नष्ट हो जायगी, तब निर्वाण स्थान आदि का भी पता नहीं रहेगा। उस स्थिति में आगामी होने वाले जीव अपने समय में मोक्ष जाने वाले महापुरुषों के निर्वाण स्थानों को पूजेंगे। इतनी विशेष बात है कि सम्मेदशिखर को आगम में तीर्थंकरों की स्थायी निर्वाण भूमि माना है। इस हुँडावसर्पिणी कालके कारण आदिनाथ भगवान का कैलाश, नेमिनाथ का गिरनार, वासुपूज्य का चंपापुर तथा वीर प्रभु का पावापुर निर्वाण स्थान बन गए। अन्य काल में ऐसा नहीं होता; इसलिए सम्मेदशिखर तो अविनाशी तीर्थ-रूपता धारण करता रहेगा। अन्य तीर्थों की ऐसी स्थिति नहीं है। इससे उनकी शाश्वतिकता स्वीकार नहीं की गई है।

यह बात भी विचारणीय है कि जिस स्थान से किन्हीं पूज्य आत्माओं का साक्षात् संबंध रहा है, जिसका इतिहास है, उस स्थान पर जाने से भक्त हृदय को पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। उज्ज्वल भावनायें जागती हैं। अन्य स्थान में ऐसा नहीं होता। पावापुरी के पुण्य पद्मसरोवर में जो पवित्र परिणाम होते हैं, वे भाव समीपवर्ती अन्य ग्रामों में नहीं होते, यद्यपि अतीत काल की अपेक्षा सभी स्थानों से मुक्त होने वाली आत्माओं का सम्बन्ध रहा है। अपने कल्याण तथा लाभ का प्रत्यक्ष विचार करने वाला व्यक्ति उन स्थानों की ही वंदना करता है, जहाँ के बारे में निश्चित इतिहास ज्ञात होता है। किस स्थान से कौन, कब मोक्ष गए इसका पता न हो, तो वह क्या प्रेरणा प्रदान करेगा? विचारवान् व्यक्ति उन्हीं कार्यों में प्रवृत्त होता है, जिनसे उसका हित होता है। इस प्रकाश में शंका का निराकरण हो जाता है।

सिद्धों को प्रणाम करने वाला व्यक्ति लोकाग्रभाग में विराजमान समस्त मुक्त आत्माओं को प्रणाम करता है।

निर्वाण भूमि की वंदना में एक विशेष आनन्द की बात यह रहती है कि चरण चिन्हों के समीप खड़े होकर हम कल्पना के द्वारा उस स्थान के ठीक ऊपर सिद्धलोक में विराजमान भगवान का विचार करके उनको प्रणाम कर सकते हैं। उस जगह के ठीक ऊपर सिद्ध रूप में भगवान हैं, यह हम ज्ञान नेत्र से देख सकते हैं। जैनधर्म में ये कृतकृत्य सिद्ध जीव ही परमात्मा माने गए हैं।

सिद्धों की संख्या

मूलाचार में सिद्धों के विषय में अल्पबहुत्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है :—

मणुसगदीए थोवा तेहि असंखिज्जगुणा णिरये।
तेहि असंखिज्जगुणा देवगदीए हवे जीवा।१७०। पर्याप्ति-अधिकार।

सबसे कम जीव मनुष्य गति में हैं। उनसे असंख्यातगुणें नरकगति में हैं। नारकियों से असंख्यातगुणें देवगति में हैं।

तेहिंतोणंतगुणा सिद्धगदीए भवंति भवरहिया।
तेहिंतोणंतगुणा तिरयगदीए किलेसंता ।।१७१।।

देवगति के देवों की अपेक्षा सिद्धगति में संसार परिभ्रमण रहित अनंतगुणें सिद्ध भगवान हैं। उन सिद्धों से अनंतगुणे जीव तिर्यंचगति में क्लेश पाते हैं। तिर्यंचों में भी निगोदिया एकेन्द्रिय जीव अनंतानंत हैं।

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ।।१९६।। गो० जी०।।

सिद्धराशि से अनंतगुणें तथा सर्व व्यतीत काल से अनंतगुणें जीव हैं।

इन विकासहीन दुःखी निगोदिया जीवों की विचित्र कथा है।

> **अत्थि अणंताजीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।**
> **भाव-कलंक-सुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ।।१९७।। गो० जी०।।**

उन तिर्यंचगति के जीवों में ऐसे जीव भी अनंत संख्या में हैं, जिन्होंने अब तक त्रस पर्याय नहीं प्राप्त की है। वे मलिनता-प्रचुर भावों के कारण निगोदवास को नहीं छोड़ पाते हैं।

अभव्यों की संख्या

ऐसी जीवों की स्थिति विचारते हुए किसी महान आत्मा का निर्वाण प्राप्त करना कितनी कठिन बात है, यह विवेकी व्यक्ति सोच सकते हैं। जीव राशि में एक संख्या अभव्य जीवों की है, जिनका कभी निर्वाण नहीं होगा और वे संसार परिभ्रमण करते ही रहेंगे। भव्यों की अपेक्षा उनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। अभव्य राशि को अनंत गुणित करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उससे भी अनंत गुणित सिद्धों की राशि कहीं गई है। गोम्मटसार कर्मकांड में लिखा है—

> **सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।**
> **समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो विसरित्थं ।।४।।**

सिद्धराशि के अनंतवें भाग तथा अभव्यराशि से अनंत गुणित प्रमाण एक समय में कर्मसमूह रूप समय-प्रबद्ध को यह जीव बांधता है। यह बंध योग के अनुसार विसदृश होता है अर्थात् कभी न्यून, कभी अधिक परमाणुओं का बंध होता है।

जीवप्रबोधिनी टीका में उपरोक्त कथन इस प्रकार किया गया है :—

> **"सिद्धराश्यनंतैकभागं, अभव्यसिद्धेभ्योऽनंतगुणं तु-पुनः योगवशात् विसदृशं समयप्रबद्धं बध्नाति। समये समये प्रबध्यते इति समयप्रबद्धः"।**

उत्सर्पिणी काल में सिद्धों की अल्प संख्या

राजवार्तिक में अकलंक स्वामी लिखते हैं, उत्सर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीव सबसे कम हैं। अवसर्पिणी काल में सिद्ध होने वालों की संख्या उनसे विशेष अधिक कही गई है। अनुत्सर्पिणी-उत्सर्पिणी काल (विदेह में नित्य चतुर्थकाल रहता है अतः वहां उत्सर्पिणी-अनुत्सर्पिणी का विकल्प नहीं हैं। वहां का काल अनुत्सर्पिणी-उत्सर्पिणी काल कहा जायगा) की अपेक्षा सिद्ध संख्यातगुणे हैं। कहा भी है "सर्वस्तोका उत्सर्पिणी सिद्धाः। अवसर्पिणी सिद्धाः विशेषाधिकाः। अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणी सिद्धाः संख्येयगुणाः"—(अध्याय १०, सूत्र १०)।

विशेष कथन

पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—"सर्वतः स्तोका लवणोदसिद्धाः, कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः। जंबूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः। पुष्करार्धसिद्धाः संख्येयगुणाः" (अध्याय १०, सूत्र १०)—सबसे न्यून संख्या लवणसमुद्र से सिद्ध होने वालों की है। उनसे संख्यातगुणें कालोदधि से सिद्ध हुए हैं। उनसे भी संख्यात गुणित जंबूद्वीप से सिद्ध हैं। धातकीखंड द्वीप से सिद्ध होने वाले संख्यातगुणे हैं। पुष्करार्धद्वीप से सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं। उन्होंने यह भी कहा है:—"जघन्येन एकसमये एकः सिध्यति, उत्कर्षेणाष्टोत्तरसंख्या"—जघन्य से एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, अधिक से अधिक एक सौ आठ जीव एक समय में मुक्त होते हैं।

ज्ञानानुयोग की अपेक्षा सिद्धों के विषय में इस प्रकार कथन किया गया है। मति-श्रुत-मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त करके सिद्ध होने वाले सबसे कम हैं। उनसे संख्यातगुणें मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान से सिद्ध हुए हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यज्ञान से सिद्ध

संख्यातगुणे हैं । मति-श्रुत तथा अवधिज्ञान से सिद्ध उनसे भी संख्यात गुणे हैं । इससे यह ज्ञात होता है कि मोक्ष जाने वाली संयमी आत्मा मति-श्रुतज्ञान युगल के साथ अवधिज्ञानावरण का भी क्षयोपशम प्राप्त करती है । राजवार्तिक में लिखा है—"सर्वस्तोकाः मति-श्रुत-मनःपर्ययसिद्धाः मतिश्रुतज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । मतिश्रुतावधि-मनःपर्ययज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येय-गुणाः" (पृष्ठ ३६७, अध्याय १०—१०)

जीवों की सामर्थ्य के भेद से कोई कोई अन्योपदश द्वारा प्रतिबुद्ध हो मुक्त होते हैं । कोई-कोई स्वयं सिद्धिपद के स्वामी बनते हैं । अकलंकस्वामी ने कहा है—"केचित् प्रत्येकबुद्धसिद्धाः, परोपदेश-मनपेक्ष्य स्वशक्त्यैवाविर्भूतज्ञानातिशयाः । अपरे बोधितबुद्ध-सिद्धाः, परोपदेशपूर्वकज्ञानप्रकर्षास्कंदिनः" (पृष्ठ ३६६)—कोई तो प्रत्येक बुद्ध-सिद्ध हैं, क्योंकि उन्होंने परोपदेश के बिना अपनी शक्ति के द्वारा ज्ञानातिशय को प्राप्त किया है । अन्य बोधितबुद्ध-सिद्ध कहे गए हैं, वे परोपदेशपूर्वक ज्ञान की उत्कृष्टता को प्राप्त करते हैं । इस अपेक्षा से तीर्थंकर भगवान 'प्रत्येकबुद्ध सिद्ध' कहे जावेंगे ।

परमार्थ-दृष्टि

इस प्रकार विविध दृष्टियों से सिद्ध भगवान के विषय में परमागम में प्रकाश डाला गया है । परमार्थतः सब सिद्ध समानरूप से स्वभावरूप परिणत हैं । उनका यथार्थ बोध न मिलने से एकान्त पक्षवालों ने भ्रान्त धारणाएँ बना ली हैं ।

सिद्ध भगवान के विषय में विविध अपरमार्थ विचारों का निराकरण करते हुए सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र कहते हैं—

अट्ठविहकम्मवियला सीदी भूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्ग-णिवासिणो सिद्धा ।।गो जी० ६८।।

वे सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित हैं, अतएव वे सदाशिव मत की मान्यता के अनुसार सदा से मुक्त अवस्था संपन्न

नहीं हैं। वे जन्म, मरणादि रूप सहज दुःख, रागादि से उद्भूत शारीरिक दुःख, सर्पादि से उत्पन्न आगंतुक पीड़ा, आकुलता रूप मानसिक व्यथा आदि के संताप से रहित होने से शीतलता प्राप्त हैं, अतएव सुखी हैं। इससे साँख्यमत की कल्पना का निराकरण होता है, क्योंकि वह सांख्य मुक्तात्मा के सुख का अभाव कहता है:—"अनेन मुक्तौ आत्मनः सुखाभावं वदन् सांख्यमतमपाकृतम्"

वे भगवान कर्मों के आस्रव रूप मल रहित होने से निरंजन हैं। इससे सन्यासी (मस्करी नामके) मत का निराकरण होता है, जो कहता है, "मुक्तात्मनः पुनः कर्मांजनसंसर्गेण संसारोस्ति"—मुक्तात्मा के फिर से कर्मरूपी मल के संसर्ग होने के कारण संसार होता है। वे सिद्ध प्रति समय अर्थपर्यायों द्वारा परिणमन युक्त होते हुए उत्पाद-व्यय को प्राप्त करते हैं तथा विशुद्ध चैतन्य-स्वभाव के सामान्य भाव रूप जो द्रव्य का आकार है वह अन्वय रूप है, उसके कारण सर्व कालाश्रित अव्यय रूप होने से वे नित्यता युक्त हैं। इससे "परमार्थतो नित्यद्रव्यं न"—वास्तव में कोई नित्य पदार्थ नहीं है, किन्तु प्रतिक्षण विनाशीक पर्याय मात्र हैं, इस बौद्ध मत का निराकरण होता है। वे वे ज्ञानवीर्यादि अष्ट गुणयुक्त हैं। "इत्युपलक्षणं तेन तदनुसार्यनंत-गुणानां तेष्वेवांतर्भावः"—में आठ गुण उपलक्षण मात्र हैं। इनमें उन गुणों के अनुसारी अनंतानंत गुणों का अंतर्भाव हो जाता है। इससे नैयायिक तथा वैशेषिक मतों का निराकरण हो जाता है; जो कहते हैं, "ज्ञानादिगुणा-नामत्यंतोच्छित्तिरात्मनो मुक्तिः"—ज्ञानादि गुणों के अत्यन्ताभाव रूप मोक्ष है।

वे भगवान कृतकृत्य हैं, क्योंकि उन्होंने "कृतं निष्ठापितं कृत्यं सकलकर्मक्षयतत्कारणानुष्ठानादिकं यैस्ते कृतकृत्याः," सम्यग्दर्शन चारित्रादि के अनुष्ठान द्वारा सकल कर्मक्षय रूप कृत्य अर्थात् कार्य को संपन्न कर लिया है। इससे उस मान्यता का निराकरण होता है, जिसमें सदामुक्त ईश्वर को विश्व निर्माण में संलग्न बताकर अकृत-

कृत्य कहा गया है (ईश्वरः सदामुक्तोपि जगन्निर्मापणे कृतादरत्वेना-कृतकृत्यः) ।

वे लोकत्रय के ऊपर तनुवातवलय के अंत में निवास करते हैं (तनुवातप्रांते निवासिनः—स्थास्नवः) । इससे मांडलिक मत का निवारण होता है, जो मानता है कि मुक्त जीव विश्राम न कर निरन्तर ऊपर ही ऊपर चले जाते हैं (आत्मनः उर्ध्वगमन-स्वाभाव्यात् मुक्तावस्थायां क्वचिदपि विश्रामाभावात् उपर्युपरि गमनमिति वदन्मांडलिक-मतं प्रत्यस्तं । गो० जी० टीका पृष्ठ १७८) ।

पंचम सिद्धगति

मुक्तात्माओं की गति को सिद्धगति कहा है । यह चार गतियों से भिन्न है, जिनके कारण संसार में परिभ्रमण होता है । इस पंचम गति के विषय में नेमिचंद्राचार्य कहते हैं :—

जाइ-जरा-मरण-भया संजोगविजोग-दुक्ख-सण्णाओ ।
रोगादिगा य जिस्से ण संति सा होदि सिद्धगई ।। गो० जी० १५२।।

जिस गति में जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग वियोग-जनित दुःख,[1] आहारादि संज्ञाएं, शारीरिक व्याधि का अभाव है, वह सिद्धगति है ।

---

१ इस सिद्धगति के विषय में गोम्मटसार जीवकाण्ड के अंग्रेजी अनुवाद में स्व० जस्टिस जे० एल० जैनी लिखित यह अंश मार्मिक है :—

"The condition of liberated souls is described here. Liberation implies freedom from Karmic matter, which shrouds the real glory of the soul, drags it into various conditions and makes it experience multifarious pleasures and pains. But when all the karmas are destroyed, the soul which by nature has got an upward motion rises to the highest point of the universe—the Siddha-Shila and there lives for endless time in the enjoyment of its own glorious qualities un-encumbered by the worldly pleasures or pains. This is the ideal condition of a soul. (Gommatasara—Page 101)

इस सिद्धगति की कामना करते हुए मूलाचार में कहा है :—

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीतमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ।।११६।।

जो गति अरिहंतों की है, जो गति कृतकृत्य सिद्धों की है, जो गति वीतमोह मुनीन्द्रों की है, वह मुझे सदा प्राप्त हो ।

मुक्ति का उपाय

इस मुक्ति की प्राप्ति का यथार्थ उपाय जिनेन्द्र वीतराग के धर्म की शरण ग्रहण करना है । जैन प्रार्थना का यह वाक्य महत्वपूर्ण है :—"चत्तारि सरणं पव्वज्जामि । अरहंतसरणं पव्वज्जामि । सिद्ध-सरणं पव्वज्जामि । साहूसरणं पव्वज्जामि । केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि"—मैं चार की शरण में जाता हूँ; अरहंतों की शरण में जाता हूँ । सिद्धों की शरण में जाता हूँ । साधुओं की शरण में जाता हूँ । केवली प्रणीत धर्म की शरण में जाता हूँ । यहां धर्म का विशेषण 'केवलिपण्णत्तो' अर्थात् सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित महत्वपूर्ण है । संसार के चक्र में फंसे हुए संप्रदायों के प्रवर्तकों से यथार्थ धर्म की देशना नहीं प्राप्त होती है ।

मार्मिक कथन

इस प्रसंग में विद्यावारिधि स्व० चंपतरायजी बार-एट-ला का कथन चिंतन पूर्ण है :—

यथार्थ में जैनधर्म के अवलंबन से निर्वाण प्राप्त होता है । यदि अन्य साधना के मार्गों से निर्वाण मिलता, तो वे मुक्तात्माओं के विषय में भी जैनियों के समान स्थान, नाम, समय आदि जीवन की बातें उपस्थित करते । "No other religion is in a position to furnish a list of men, who have attained to God-hood by following its teachings." (Change of Heart, page 21)—जैन धर्म के सिवाय कोई भी धर्म उन लोगों की

सूची उपस्थित करने में समर्थ नहीं है, जिन्होंने उस धर्म की आराधना द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त किया है।

इस संबंध में चौबीस तीर्थंकरों की पूजा में आगत पाठ के परिशीलन से पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होता है तथा शांति मिलती है। यहां वर्तमानकालीन तीर्थंकरों के जन्मस्थान, यक्ष-यक्षी, माता-पितादि का कथन करते हुए निर्वाण भूमि का वर्णनपूर्वक नमस्कार अर्पण किया गया है।

"साकेतपुरे नाभिराजमरुदेव्योर्जाताय कनकवर्णाय पंचशत-धनुरुत्सेधाय वृषभलांछनाय, गोमुख-चक्रेश्वरी-यक्षयक्षीसमेताय चतुर-शीतिलक्षपूर्वायुष्काय कैलासपर्वते कर्मक्षयं गताय वृषभतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे।

साकेतपत्तने जितारिनृप-विजयादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय गजलांछनाय पंचाशदधिकशतचतुष्टधनुरुत्सेधाय महायक्ष-रोहिणी-यक्षयक्षीसमेताय द्वासप्ततिलक्षपूर्वायुष्काय सम्मेदे सिद्धिवरकूटे कर्मक्षयं-गताय श्रीमदजिततीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे।

सावंतीपत्तने दृढरथभूपति-सुषेणादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय चतु:शतधनुरुत्सेधाय श्रीमुख-प्रज्ञप्ती-यक्षयक्षीसमेताय अश्वलांछनाय षष्ठिलक्षपूर्वायुष्काय संमेदगिरौ दत्तधवलकूटे परिनिर्वृताय श्रीशंभव-तीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे।

श्रीकौशलदेशे अयोध्यापत्तने संवरनृप-सिद्धार्थामहादेव्यो र्जाताय सुवर्णवर्णाय पंचाशदधिकत्रिशतधनुरुत्सेधाय पंचाशल्लक्ष-पूर्वायुष्काय कपिलांछनाय यक्षेश्वरवज्रश्रृंखलायक्षयक्षीसमेताय सम्मेद-गिरौ आनंदकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमदभिनंदनतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे।

अयोध्यापुरे मेघरथनृप-सुमंगलादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय त्रिशतधनुरुत्सेधाय चक्रवाकलांछनाय चत्वारिंशल्लक्षपूर्वायुष्काय तुंबर-

पुरुषदत्तायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे अविचलकूटे कर्मक्षयं गताय श्रीसुमतितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

कौशांबीपत्तने धरणनृप-सुषीमादेव्योर्जाताय लोहितवर्णाय कमललांछनाय त्रिंशल्लक्षपूर्वायुष्काय पंचाशदधिक-द्विशतधनुरुत्सेधाय पुष्प-मनोवेगायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ मोहनकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीपद्मप्रभतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

वाराणसीपत्तने सुप्रतिष्ठनृप – पृथ्वीदेमहादेव्योर्वीजाताय स्वस्तिकलांछनाय हरितवर्णाय द्विशतधनुरुत्सेधाय चतुर्विंशतिलक्ष-पूर्वायुष्काय वरनंदि-कालीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे प्रभासकूटे कर्म-क्षयंगताय श्रीसुपार्श्वतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे ।

चंद्रपुरीपत्तने महासेनमहाराज – लक्ष्मीमतीदेव्योर्जाताय चंद्रलांछनाय शुभ्र-वर्णाय पंचाशदधिकैकशत-धनुरुत्सेधाय दशलक्ष पूर्वायुष्काय शाम-ज्वालामालिनीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे ललितघन-कूटे कर्मक्षयंगताय श्रीचंद्रप्रभु-तीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

काकंदीपत्तने सुग्रीवमहाराज–जयरामादेव्योर्जाताय शुभ्र-वर्णाय शतधनु - रुत्सेधाय द्विलक्षपूर्वायुष्काय कर्कटलांछनाय अजित-महाकाली - यक्षयक्षीसमेताय संमेदगिरौ सुप्रभकूटे कर्मक्षयंगताय श्री पुष्पदंततीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

भद्रपुरेदृढ़रथमहाराजसुनंदादेव्योर्जाताय श्रीवृक्षलांछनाय इक्ष्वाकुवंशाय, सुवर्णवर्णाय नवतिधनुरुत्सेधाय एकलक्षपूर्वायुष्काय ब्रह्म-कालीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ विद्युद्वरकूटे कर्मक्षयंगताय श्री शीतलतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

सिंहपुराधीश्वरविष्णुनृपति-नंदादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय गंडलांछनाय अशीतिधनुरुत्सेधाय चतुरशीतिलक्षवर्षा-युष्काय ईश्वरगौरीयक्ष-यक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ संकुलकूटे कर्मक्षयं गताय श्रीश्रेयांसतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे ।

वसुपूज्यनृप-जयादेव्योर्जाताय कुमारबालब्रह्मचारिणे रक्त-वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय महिषलांछनाय सप्ततिधनुरुत्सेधाय द्वासप्तति-लक्षवर्षायुष्काय सुकुमार-गांधारी-यक्षयक्षीसमेताय चंपापुरसमीपे रजतबालुकाख्यनदीतीरे मंदरशैलशिखरे मनोहरोद्याने मोक्षंगताय श्री वासुपूज्यतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे ।

कांपिल्याख्यनगरे कृतवर्मनृप-आर्यश्यामादेव्योर्जाताय सुवर्ण-वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय वराहलांछनाय षष्ठिधनुरुत्सेधाय पंचाशल्लक्ष वर्षायुष्काय षण्मुख-वैरोटी-यक्षयक्षीसमेताय संमेदगिरौ वीरसंकुल-कूटे कर्मक्षयंगताय श्रीविमलतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे ।

अयोध्यापत्तने सिंहसेननृपति-जयश्यामादेव्योर्जाताय सुवर्ण-वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय पंचाशद्धनुरुत्सेधाय त्रिंशल्लक्षवर्षायुष्काय भल्लूकलांछनाय पातालअनंतमतीयक्षयक्षी—समेताय संमेदगिरौ कर्मक्षयंगताय श्रीमदनंततीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे ।

रत्नपुरे भानुमहाराज-सुप्रभामहादेव्योर्जाताय हाटकवर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय वज्रलांछनाय पंचोत्तरचत्वारिंशद्धनुरुत्सेधाय दशलक्ष-वर्षायुष्काय किन्नर-मानसीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे दत्तवरकूटे परिनिर्वृताय श्रीधर्मनाथतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

हस्तिनापुरे विश्वसेनमहाराज - ऐरांबामहादेव्योर्जाताय कांचनवर्णाय चत्वारिंशद्धनुरुत्सेधाय एकलक्षवर्षायुष्काय गरुड-महामानसी-यक्षयक्षीसमेताय हरिणलांछनाय कुरुवंशाय सम्मेदशिखरे प्रभासाख्यकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीशांतिनाथतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

हस्तिनाख्यपत्तने श्रीसूरसेनमहाराज-कमलामहादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय पंचाधिकत्रिंशद्धनुरुत्सेधाय पंचोत्तरनवतिसहस्त्रवर्षा-युष्काय अजलांछनाय कुरुवंशाय गंधर्व—जयायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे ज्ञानधरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीकुंथुतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

हस्तिनापुरे सुदर्शनमहाराज – सुमित्रादेव्योर्जाताय सुवर्ण-वर्णाय कुरुवंशाय त्रिंशद्धनुरुत्सेधाय मत्स्यलांछनाय चतुरशीतिसहस्र–वर्षायुष्काय माहेन्द्र-विजयायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ नाटककूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमदरतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

मिथिलापत्तने कुंभमहाराजप्रभावतीदेव्योर्जाताय हाटकवर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय पंचविंशतिधनुरुत्सेधाय, पंचपंचाशतसहस्र - वर्षायुष्काय कुंभलांछनाय कुबेरअपराजित-यक्षयक्षीसमेताय श्रीसम्मेदे संबलकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमल्लितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

राजगृहपत्तने सुमित्रमहाराजपद्मावतीदेव्योर्जाताय इन्द्रनील-रत्नवर्णाय विंशतिचापोन्नताय त्रिंशत् सहस्रवर्षायुष्काय-कच्छपलांछनाय वरुणबहुरूपिणी - यक्षयक्षीसमेताय हरिवंशाय सम्मेदगिरौ निर्जरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमुनिसुव्रततीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

मिथिलाख्यपत्तने विजयनृप-वमिलामहादेव्योर्जाताय कनक-वर्णाय पंचदशधनुरुत्सेधाय दशसहस्रवर्षायुष्काय कैरवलांछनाय भृकुटि-चामुण्डीयक्षयक्षीसमेताय इक्ष्वाकुवंशाय सम्मेदगिरौ मित्र-धरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीनमितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

शौरीपुराधीश्वरसमुद्रविजयमहाराजमहादेवीशिवदेव्यो र्जाताय नीलनीरदनिभवर्णाय दशचापोन्नताय सहस्रवर्षायुष्काय शंख लांछनाय हरिवंशतिलकाय सर्वाह्न - कूष्माण्डिनी - यक्षयक्षीसमेताय ऊर्जयन्तशिखरे परिनिर्वृताय श्रीनेमितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

वाराणसीनगरे विश्वसेनमहाराज - ब्रह्मामहादेव्योर्जाताय हरितवर्णाय नवकरोन्नताय शतवर्षायुष्काय सर्पलांछनाय धरणेन्द्र-पद्मावतीयक्षयक्षी-समेताय उग्रवंशाय सम्मेदगिरौ सुवर्णभद्रकूटे परि-निर्वृताय श्रीपार्श्वतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

श्रीकुण्डपुरे सिद्धार्थनरेशप्रियकारिणीदेव्योर्जाताय हेमवर्णाय सप्तहस्तोन्नताय द्वासप्ततिवर्षायुष्काय केसरिलांछनाय मातंग-

सिद्धायिनी-यक्षयक्षीसमेताय नाथवंशाय पावापुरमनोहरवनांतरे बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले परिनिर्वृताय श्रीमहावीरवर्धमान-तीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।"

भूतकालीन चौबीस तीर्थंकर

"निर्वाण-सागर-महासाधु-विमलप्रभसु-दत्त-अमलप्रभ-उद्धर-अंगिर-सन्मति-सिंधु-कुसुमांजलि-शिवगण-उत्साह-ज्ञानेश्वर-परमेश्वर-विमलेश्वर-यशोधर-कृष्णमति-ज्ञानमति-शुद्धमति-श्रीभद्र-अतिक्रान्त-शांताश्चेति भूतकालसंबन्धि-चतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः ।

भविष्यकालीन चौबीस तीर्थंकर

महापद्म-सुरदेव-सुपार्श्व-स्वयंप्रभ-सर्वात्मभूत-देवपुत्र-कुलपुत्र-उदंक-प्रौष्ठिल-जयकीर्ति-मुनिसुव्रत-अर-निष्पाप-निष्कषाय-विपुल-निर्मल-चित्रगुप्त-स्वयंभू-अनिवर्तक-जय-विमल-देवपाल-अनंतवीर्या-श्चेति-भविष्यत्कालसंबन्धि-चतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः ।

पञ्चविदेहस्थित विंशति तीर्थंकर

सीमंधर-युगमंधर-बाहु-सुबाहु-सुजात-स्वयंप्रभु-वृषभानन-अनन्तवीर्य-सुरप्रभ-विशालकीर्ति-वज्रधर-चन्द्रानन-भद्रबाहु-भुजंगम-ईश्वर-नेमिप्रभ-वीरसेन-महाभद्र-देवयश-अजितवीर्याश्चेति-विदेहक्षेत्र-स्थित-विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः ।"

भगवान के उपदेश का मर्म

जिनेन्द्र भगवान के कथन को एक ही गाथा द्वारा महामुनि कुंदकुंद स्वामी इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंजुत्तो ।
एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥समयसार

रागी जीव कर्मों का बंध करता है, वैराग्य-संपन्न जीव बंधन से मुक्त होता है; यह जिन भगवानका उपदेश है; अतः हे भव्य जीवो ! शुभ अशुभ कर्मों में राग भाव को छोड़ो ।

अभिवंदना

हम त्रिकालवर्ती तीर्थंकरों को इन विनम्र शब्दों द्वारा प्रणामांजलि अर्पित करते हैं :—

सकल लोक में भानु सम तीर्थंकर जिनराय ।
आत्म-शुद्धि के हेतु मैं वंदों तिनके पाय ।।

'तीर्थंकर' पुस्तक पर अभिमत

जैन महिलारत्न, ब्रह्मचारिणी, पंडिता चन्दाबाईजी, आरा, प्रधान सम्पादिका 'जैन महिलादर्श':—

"पौराणिक ज्ञान के लिए यह रचना अनूठी, सुन्दर हुई है। तीर्थंकरों के पूर्ण पुराण को बाँचकर जो कुछ ज्ञान होता है, उससे अधिक ज्ञान इस पुस्तक के बाँचने से प्राप्त हो सकता है। श्री सुमेरचन्द जी दिवाकर ने जिनेन्द्र के पाँचों कल्याणकों का वर्णन करते हुए आधुनिक विज्ञान से भी जैनधर्म की तुलना की है। इससे वर्तमान युग के मनुष्यों का श्रद्धान दृढ़ होगा। पुस्तक में लिखा है कि इन्द्र ने सर्वप्रथम योग, समय, नक्षत्र, लग्न आदि के संयोग होने पर अयोध्यापुरी के मध्य में जिन मन्दिर की रचना की थी, पश्चात् चारों दिशाओं में भी जिन मन्दिरों की रचना की इससे मन्दिर निर्माण करना भी आवश्यक ज्ञात होता है। दिवाकरजी सुप्रसिद्ध लेखक हैं। आपकी रचनाएँ चारों अनुयोगों में जब भी प्रकाशित होती रहती हैं, उत्तम होती हैं। पुस्तक मँगाकर पाठक-पाठिकाओं को बाँचना चाहिए और जैन परीक्षायों को पाठ्य पुस्तकों में (कोर्स में) रखना चाहिए! जिससे विद्यार्थियों को तीर्थंकरों का ज्ञान होगा।"

न्यायाचार्य, प्रशम मूर्ति, क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति जी महाराज)

श्रीमान् दिवाकर पं० सुमेरचन्द्र जी, योग्य कल्याण भाजन हो।

महोदय पत्र मिला, समाचार जाने। हमारा स्वास्थ्य गर्मी के कारण अति कमजोर हो गया है। आपका समागम थोड़ा ही हमें मिला परन्तु बड़ा ही सुखद रहा। ऐसा सुयोग फिर भी मिलेगा। यहाँ माता कुंथुमती जी तथा ऐलक सिद्धसागर जी आदि सब संघ आनन्द है। आप भी कुशल होंगे। आपकी तीर्थंकर पुस्तक अनुपम है। एकत्र सर्वसामग्री का संयोग किया हैं। जैनधर्म की प्राचीनता इससे पूर्ण झलकती है। इतिहास के गवेषियों को यह संक्षेप में अति गम्भीर शिक्षा देने वाली है। इसमें तीर्थंकरों की सर्वोदय सामग्री सन्निहित

है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए सच्चा शास्त्र है। इसके लेखक महाविद्वान् हैं। उन्होंने बहुत ही अनुभवपूर्ण लेखनी से इसे लिखा है। मैंने इसे सुना, सुनकर अपूर्व आल्हाद हुआ। आज ऐसे ही ग्रन्थों की लोक में आवश्यकता है। उसकी पूर्ति इस पुस्तक से हो गई है। घर में सबसे सुभाषीष कहना।"

आ० शु० चि० गणेश वर्णी

तर्करत्न, सिद्धान्त महोदधि, विद्वद्रत्न पं० माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य फिरोजाबाद :—

"तीर्थंकर पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी है। आपकी चढ़ी हुई प्रतिभा: पूर्ण विद्वता का मूर्तिमान प्रतिबिम्ब इस पुस्तक में निबद्ध है। अनेक ग्रन्थियों को सुलझाया गया है। पौराणिक प्रमेयों को युक्ति-उदाहरणों द्वारा दार्शनिकों के गले उतार लिया है। तीर्थंकरों के पाँच कल्याणकों को सरल, मधुर भाषा आबाल-अबला वृद्धों को समझा दिया है। आपने अपने श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र को बहुत बढ़ा लिया है।"

भारतवर्षीय दि० जै० महासभा के संरक्षक दानवीर धर्मवीर सर सेठ भागचन्दजी सोनी, अजमेर :—

तीर्थंकर पुस्तक बड़े रोचक ढंग से लिखी गई है। बड़ी सरल एवं सरस भाषा में विषयों को समझाया गय: है।

राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त :—

मैं समालोचना का अधिकारी सहीं; परन्तु इतना तो कह ही सकता हूँ, कि ऐसा ग्रन्थ लिखने की योग्यता और श्रद्धा आपमें भरपूर है। आपने सुन्दर और उपयोगी कार्य किया है। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ का सर्वत्र समादर होगा।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पद्मभूषण डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, कलकत्ता :—

आपकी रचनाओं में सांस्कृतिक सामग्री का विपुल भंडार है, जिसका व्यापक ज्ञान आवश्जक है। इस दृष्टि से आपके प्रकाशन अत्यन्त उपयोगी हैं।

जैन-मित्र, सूरत :—

पांचों कल्याणकों का ऐसा वर्णन प्रथम ही प्रगट हुआ है। बड़ी विद्वता के साथ वर्णन किया गया है।

जैन-दर्शन, सोलापुर :—

तीर्थंकरों के पंचकल्याणक सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है, विद्वान लेखक ने इसको लिखकर मुमुक्षु जनता के प्रति भारी उपकार किया है।

जैन-संदेश, मथुरा :—

ग्रंथ में वर्णित विषयों का बड़े श्रमपूर्वक संकलन किया है। अनेकानेक अवतरण देकर ग्रंथ को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। विभिन्न गूढ़ विषयों पर लेखक ने अपनी लेखनी चलाई है।

लेखक-परिचय



पं० सुमेरुचंद्र जी दिवाकर का जन्म मध्यप्रदेश के सिवनी जिले में ५ अक्टूबर १९०५ [विजयादशमी] को हुआ था। आपके पूज्य पिता स्वर्गीय सिंघई कुंवरसेन जी भारत-वर्षीय जैन समाज में अपनी धर्म एवं समाज सेवा तथा विद्वता के लिए विख्यात थे। श्री दिवाकर जी ने १९२१ में राष्ट्रपिता बापू के आव्हान पर, असहयोग आंदोलन में विदेशी सत्ता द्वारा संचालित अंग्रेजी स्कूल से संबंध त्याग कर मुरैना के जैन-गुरुकुल में संस्कृत एवं धर्म का अध्ययन चालू किया। वहां से आप स्याद्वाद-महाविद्यालय, काशी आए। जहां आपने न्यायतीर्थ की तैयारी के साथ ही स्वर्गीय बैरिस्टर चंपतराय जी की सलाह के अनुसार हिंदु-विश्वविद्यालय, में पुन: अंग्रेजी का अध्ययन प्रारंभ किया। क्रमानुसार आपने न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी. ए और एल. एल बी. की परीक्षाओं में सफलता प्राप्त कर आजीवन ब्रम्हचर्य व्रत धारण कर समाज एवं संस्कृति की सेवा के पवित्र कार्य में अपना जीवन समर्पित कर दिया। अभी तक आपने, बिना किसी अर्थाभिलाषा के जैन वाङ्मय पर अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना की है। आपके प्रयत्न एवं प्रभाव के फलस्वरुप दक्षिणभारत के मूडबिद्री मठ से सर्व-प्राचीन दिगंबर जैन ग्रंथराज महाधवल [महाबंध] की प्राप्ति हुई, जिसके संपादन का प्रारंभ भी आपने ही किया। कितने ही वर्षों तक आपने 'जैनगजट' का सफलतापूर्वक संपादन किया। आप १९५९ में शिमजू-टोकियो [जापान] में आयोजित सर्व-धर्म-सम्मेलन में जैनधर्म का प्रतिनिधित्व करने गए थे।
